।৩।—

প্রেমফুল

I

ॐ

ब्रह्म सूत्र

शांकर भाष्य भाषानुवाद।

प्रथम भाग

अनुवादक—

पं० शंकरलाल कौशल्य (भोले बाबा)

भूतपूर्व संपादक 'वेदान्त केसरी'

तथा

ब्रह्मचारी विष्णु,

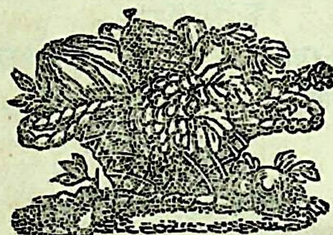
संपादक 'वेदान्त केसरी'।

वेदान्त केसरी कार्यालय,

बेलनगंज-आगरा।

१०००	प्रथम संस्करण संवत १६८८	मूल्य
१०००	द्वितीय संस्करण संवत् २०२०	४-५०

मुद्रक—राना प्रिंटिंग प्रेस,
रावतपाड़ा; आगरा।
फोन २७३९



प्रकाशक:—
श्री योगानन्द आश्रम
सत्सङ्ग सभा रजि०
लालघाट, आगरा।

प्रस्तावना



वेद अत्यन्त प्राचीन और पवित्र ज्ञान के भंडार हैं। मनुष्य मात्र की सुख प्राप्ति की अभिलाषाएँ पूर्ण करने के उपाय इसमें बताये गये हैं। तुच्छ ऐहिक सुख से लेकर परम आनन्द स्वरूप मोक्ष तक प्राप्त करने के नाना विधि साधनों का इसमें वर्णन है। इस महान ज्ञान भंडार के दो विभाग हैं। प्रथम में विहित कर्म और उपासना के उपयोगी स्तुति प्रार्थनादि युक्त मंत्र भाग है और अन्तिम भाग में, जिसको वेदान्त कहते हैं, ज्ञान की चर्चा है। इसीलिए वेद के पूर्व भाग ही को प्रधानता देने वाले शास्त्र को पूर्व मीमांसा और उत्तर भाग को महत्त्व देकर विचार करने वाले शास्त्र को उत्तर मीमांसा कहते हैं। वैदिक साहित्य में प्रक्रिया बद्ध तत्त्व ज्ञान न होने से विचार करके जो शृङ्खला बद्ध तत्त्वज्ञान की प्रक्रियाएँ ऋषियों ने निर्माण की हैं वे दर्शन कहलाते हैं। प्रधान दर्शन छः हैं; पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग और उत्तर मीमाँसा। पूर्व मीमांसा में, जिसका प्रधान ग्रन्थ जैमिनीय सूत्र है, विशेषतः कर्म का ही प्रधानता से विवेचन है। बुद्धिवाद के अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इसमें प्रक्रिया का विशेष विचार नहीं है। वैशेषिक दर्शन से बुद्धिवाद का प्रारम्भ होता है और तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया इसमें स्पष्ट रूप से मिलती है। वैशेषिकों की प्रक्रिया ही थोड़े बहुत फेर से न्याय दर्शन में आती है। साँख्य दर्शन की प्रक्रिया बुद्धि को अधिक

संतोष जनक है और योग दर्शन में तो सांख्यों की प्रक्रिया ही ग्रहण की गई है, केवल साधना का इसमें अधिक सूक्ष्म विचार किया गया है। वेदान्त दर्शन में भी अलग प्रक्रिया नहीं मिलती। वेदान्त में सांख्यों ही की प्रक्रिया कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण की गई है और अभेद का निर्देश करने से वेदान्त की प्रक्रिया परिपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार ये छओं दर्शन उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व के होने से वेद के सबसे अधिक महत्त्व वाले गूढ़ तत्त्व को समझने में साधन भूत होते हैं, इतना ही इनका उपयोग है।

उत्तर मीमाँसा का प्रधान ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। इसके रचयिता भगवान् व्यास होने से इसको व्यास सूत्र वा बादरायण सूत्र भी कहते हैं। वेदके अन्तिम रहस्य को बताने वाला होनेसे इसे वेदांत दर्शन कहते हैं। इस ग्रन्थ में जीव वा आत्मा को शारीर कहा है, इसलिये इसमें तत्संबंधी विवेचन होने से इसको शारीरक भी कहते हैं। वेद के ज्ञान भाग में, जिसमें उपनिषदों का समावेश होता है, आत्मज्ञान संबंधी ऊपर-ऊपर से देखनेमें परस्पर विरोधी ऐसे जो कथन आये हैं, उनकी एकवाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध रूपसे प्रकट करना यही इन सूत्रों का मुख्य उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त, इस एकवाक्यता में निकाले हुए सिद्धांत को प्रतिष्ठित युक्तियों से प्रतिपादन करना तथा अन्य मतावलंबियों के मत का भी श्रुति और युक्ति से निरसन करना यह भी इस ग्रन्थ का एक कार्य है। सूत्रों के रचयिता जैसे महान् व्यक्ति हैं और जैसा गहन और महत्व का इनका विषय है, वैसा प्राचीन काल से बराबर इनका आदर भी होता रहा है।

इन सूत्रों का आशय साधारण मनुष्यों के लिये सुस्पष्ट करने की प्राचीन काल से ही आवश्यकता प्रतीत हुई और इस पर अनेक भाष्य और व्याख्याएं लिखी गयीं, जिनके अब केवल नाम ही शेष रहे हैं ! प्राचीन भाष्यों में शांकर भाष्य ही आज जनता के आगे उपलब्ध है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। जैन धर्म के अन्तिम प्रवर्तक महावीर भी इनके समकालीन थे। इन महापुरुषों की नित्य की बोल चाल की भाषा में उपदेश करने की पद्धति जनता में अत्यन्त प्रिय हो गई और इन महापुरुषों के विशुद्ध चारित्र्य से इन उपदेशों को ऐसा महत्त्व मिला कि लोगों में वैदिक ज्ञान, जो संस्कृत ही में था, उसके प्रति उदासीनता आगई और अन्त में इसके अनुयायियों ने वैदिक धर्म का स्पष्ट रूप से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। वैदिक ज्ञान का इस प्रकार अभाव हुआ होने से इन लोगों को अपने कार्य में अच्छी सफलता मिली और एक हजार वर्ष तक वैदिक धर्म भारत में लुप्त प्राय ही रहा। इसी विषम काल में वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करनेवाले व्यक्ति श्रीमत् शंकराचार्य का जन्म हुआ।

श्रीमत् शंकराचार्य ने भाष्य ग्रन्थों की रचना की तथा अन्य छोटे-बड़े ग्रन्थ भी लिखे। आपने उपनिषत्, गीता और ब्रह्मसूत्र इन तीनों महामान्य ग्रन्थों पर भाष्य लिखा, जिसमें ब्रह्मसूत्र का भाष्य सबसे अधिक महत्व का है। इसमें आचार्य ने अपनी अद्भुत योग्यता का उत्तम परिचय दिया है। ग्रन्थ का विषय गूढ़

और खंडन मंडनात्मक होते हुए ग्रन्थ की भाषा सरल और सुन्दर है और खंडन की पद्धति तर्क शुद्ध, मर्मग्राही और विशद है।

संस्कृत में शांकर भाष्य के भावों को स्पष्ट करने के लिये कई टीकाएँ हुई हैं, परंतु जिनको इस देवभाषा का ज्ञान लाभ करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे भाषाके विद्वानों को भी इस ग्रन्थ की अपूर्वताओं का यथा संभव आस्वाद जिससे मिलसके ऐसा कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। इसीलिये गुरुवर्य परमहंस श्रीमत् स्वामी योगानन्दजी की आज्ञा से आप ही की अध्यक्षता में प्रकट होने वाले वेदान्त केसरीमें दस वर्ष पहले ही से इस ग्रन्थका अनुवाद 'ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका' इस शीर्षकसे क्रमशः आता रहा। वही यथा संभव संशोधनों के साथ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य भाषानुवाद भाग १ के नाम से प्रकाशित किया गया है।

इस ग्रन्थमें प्रथम बड़े अक्षरों में सूत्र दिया है, पश्चात् सूत्रस्थ शब्दों का अन्वयानुसार अर्थ दिया है, जिसको स्वतंत्र रूप से पढ़ने से सूत्र का सरल अर्थ निकल आवेगा और तत्पश्चात् शांकर भाष्य का भाषानुवाद दिया गया है। आशा है वेदान्त प्रेमी इसको पढ़कर निसंशय श्रेय लाभ करेंगे।

आगरा लालघाट
ता० २०-६-३१ | ब्रह्मचारी विष्णु

इस पुस्तक का यह द्वितीय प्रकाशन श्री योगानन्दजी आश्रम सत्सङ्ग सभा रजि० लालघाट, आगरा द्वारा किया गया है।

आगरा–लालघाट
ता० १-८-६३

॥ ॐ ॥

अनुक्रमणिका।

अध्याय १ पाद १

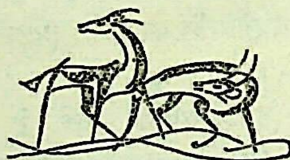
विषय पृष्ठ

अध्याय १ पाद ३

अध्याय १ पाद ४

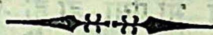
अध्याय २ पाद १

अध्याय २ पाद २



ब्रह्म सूत्र।

शांकर भाष्य भाषानुवाद



उपोद्घात।

'तू' इस ज्ञान के योग्य विषय होता है और 'मैं' इस ज्ञान के योग्य विषयी होता हैं। दोनों के स्वभाव अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी हैं। इसलिये, इन दोनों की एकता असंभव है, अर्थात् इन दोनों के धर्मों की एकता भी असंभव है यह भी स्पष्ट ही है। अब 'मैं' इस ज्ञान के योग्य जो चित्स्वरूप विषयी होता है इस पर 'तू' इस ज्ञान के विषय का तथा उसके कर्मों का अध्यास तथा इसके विपरीत, विषयके ऊपर विषयी का तथा उसके धर्म का (अन्योन्य) अध्यास, ये दोनों ही मिथ्या हैं ऐसा मानना युक्त है। तथापि (जाड्य और चैतन्य आदि) धर्म तथा (अहंकार और आत्म रूप) धर्मी अत्यन्त भिन्न होने पर भी उनका परस्पर भेद न समझ कर एक दूसरे में एक दूसरे के स्वरूप का तथा धर्मों का अध्यास कर सत्य और असत्य को मिलाकर 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार का लोक व्यवहार मिथ्या ज्ञान से स्वाभाविकता से होता रहता है। यह अध्यास क्या है? प्रथम देखी हुई वस्तु का दूसरी वस्तु में स्मृतिरूप से जो अवभास होता है उसको अध्यास कहते हैं।

इसी को कोई एक में अन्य के धर्म का अध्यास कहते हैं तो कोई इसको जिसका जहां पर अध्यास होता है उन दोनों के भेद का ज्ञान न होने के कारण होने वाला भ्रम कहते हैं, दूसरे कोई उसको जिस वस्तु में जिस वस्तु का अध्यास होता है उस वस्तु में अन्य विपरीत धर्मों की कल्पना करना कहते हैं। परन्तु सब मतों में अन्य वस्तु में अन्य धर्म का भास होना यह बात अवश्य वर्तमान है। लोगों का अनुभव भी ऐसा ही है; जैसे, सीप चांदी सी दीखती है, चन्द्र के एक होते हुए चन्द्र दो हों ऐसा भासता है।

शंका:—अविषय रूप प्रत्यगात्मा में विषय तथा उनके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? क्योंकि, कोई भी सामने रहे हुए विषय पर ही दूसरे विषय का अध्यास करेगा, और तुम कहते हो कि प्रत्यगात्मा 'तू' इस ज्ञान के योग्य न होने से विषय नहीं है।

समाधान:—प्रत्यगात्मा कभी भी विषय न हो यह बात नहीं है। वह 'मैं' इस ज्ञान का विषय है क्योंकि वह अपरोक्ष रूप से प्रसिद्ध है। और यह भी नियम नहीं है कि संमुख रही हुई वस्तु पर ही अन्य वस्तु का अध्यास होना चाहिये। आकाश के अप्रत्यक्ष होते हुए भी अज्ञानी उसमें तल (पेंदा) तथा मलिनता का आरोप करते हैं। इसी प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्म वस्तु का आरोप होता है इसमें कुछ भी विरोध नहीं प्राप्त होता। ऐसे इस लक्षण वाले अध्यास को विद्वान् 'अविद्या' मानते हैं। दोनों का विवेक करके वस्तुके स्वरूप का जानना इसको विद्वान् 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होने से जिस वस्तु में अन्य वस्तु का अध्यास होता है वह वस्तु उसके दोष से वा गुण से अणुमात्र भी संबंध नहीं रखती। यह आत्मा और अनात्मा का एक दूसरे में अविद्या नामक जो अध्यास होता है उसी को लेकर प्रमाण प्रमेय आदि लौकिक

व्यवहार होता है, इसी को लेकर वेद की प्रवृत्ति होती है तथा विधि निषेध तथा मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले सब शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है।

शंकाः—प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावान् पुरुष के आश्रय किस प्रकार हो सकते हैं ?

समाधानः—देह तथा इन्द्रियों में अहंता और ममता का भाव न होने से प्रमाता ही नहीं बन सकता क्योंकि इनके बिना प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं बनती; बिना इन्द्रियों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता, अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार नहीं बनता और देह में आत्म भाव का अध्यास किये बिना कोई भी व्यापार नहीं बनता। तथा ये सब न होंतो असंग ऐसा आत्मा प्रमाता बन नहीं सकता और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं बन सकती। इसलिये, अविद्यावान् पुरुष के आश्रय ही प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्रादि होते हैं (ऐसा सिद्ध हुआ)। इस बात में मनुष्य तथा पशु आदि में कुछ भी भेद नहीं है। जिस प्रकार पशु आदि श्रोत्र आदि के साथ शब्द आदि का संयोग होने पर, यदि वह शब्दादि विज्ञान प्रतिकूल हुआ तो वे उससे निवृत्त हो जाते हैं और अनुकूल होने पर प्रवृत्ति होते हैं। डंडा उठा कर सामने आते हुए मनुष्य को देख कर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा जान कर भागना प्रारंभ करते हैं तथा हाथ में हरी घास लिये हुए पुरुष को देख कर उसकी ओर जाते हैं। विद्वान् पुरुष भी क्रूर दृष्टि वाले, जोर से चिल्लाते हुए हाथ में खड्ग लेकर दौड़ने वाले बलवान् पुरुष को देख कर उससे दूर हठ जाते हैं तथा इसके विपरीत बात हों तो उसकी ओर प्रवृत होते हैं। इसलिये विद्वान् पुरुषों का प्रमाण प्रमेय आदि व्यवहार पशु

आदि के समान ही होता है। अब पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेक से होता है यह प्रसिद्ध ही है। विद्वान् पुरूषों का प्रत्यक्षादि व्यवहार पशु आदि के समान ही देखने में आता है, इसलिये उस समय (व्यवहार काल में) वह समान यानी अविवेक पूर्वक ही होता है ऐसा निश्चित होता है। अब शास्त्रीय व्यवहारमें, यद्यपि आत्माका परलोक से सम्बन्ध है इस बात को न जानने वाला अधिकारी नहीं माना जाता तो भी जो वेदान्त शास्त्र से जाना जाता है, जो क्षुधा आदि से परे है, ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति भेद से रहित तथा संसार से रहित है, ऐसे आत्मा का ज्ञान होने की शास्त्रीय व्यवहार में आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह आत्मज्ञान लौकिक कर्म में उपयोगी नहीं है इतना ही नहीं कर्म करने के अधिकार से इसका विरोध है। इसलिये इस प्रकार का आत्मज्ञान होने के पूर्व प्रवृत्त होने वाला शास्त्र अविद्यावान् पुरूष के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं रह सकता।

इसी प्रकार 'ब्राह्मणो यजेत' (ब्राह्मण यजन करे) इत्यादि विधि वाक्य से प्रवृत्त होने वाले शास्त्र प्रथम आत्मा में वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि विशेष अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। जो वस्तु नहीं है उसमें उस वस्तु की बुद्धि करना इसी का नाम अध्यास है ऐसा हम पहले कह चुके हैं। वह ऐसा होता है, जैसे 'पुत्र स्त्री आदि के दुखी व सुखी होने से मैं ही दुखी व सुखी हूँ' इस प्रकार पुरुष बाह्य धर्मों का अपने में अध्यास करता है। वैसे ही 'मैं स्थूल हूँ दुर्बल हूँ, गोरा हूं, मैं जाता हूँ, खड़ा रहता हूँ, मैं लांघता हूँ' इस प्रकार मनुष्य देह के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इन्द्रिय धर्मों का भी पुरुष आत्मा में अध्यास करता है जैसे 'मैं मूक हूँ. काना, क्लीब, बहरा व अंधा हूँ'।

इसी प्रकार पुरुष अन्तःकरण के इच्छा संकल्प, संशय और निश्चय इन धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इस प्रकार 'मैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण का उसके सब वृत्तियों के साक्षीभूत प्रत्यगात्मा में अध्यास करता है तथा इसके विपरीत प्रत्यगात्मा का अंतःकरण आदि में अध्यास करता है। इस प्रकार अनादि, अनंत, स्वाभाविक, मिथ्या ज्ञान स्वरूप, कर्तृत्व भोक्तृत्व उत्पन्न करने वाला यह अध्यास सब लोगों को प्रत्यक्ष ही है। इस अनर्थ के हेतु रूप अध्यास का नाश कराने के लिये तथा आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये सब वेदान्त शास्त्रों की प्रवृत्ति है। जैसा यह अर्थ सब वेदान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित है वैसा ही इस शारीरक मीमांसा में भी है यह हम अब दिखाते हैं।

प्रथम अध्याय प्रथम पाद ।

१ जिज्ञासाधिकरण ।

जिस वेदान्त शास्त्र का हम व्याख्या करना चाहते हैं उसका प्रथम सूत्र यह है :—

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा । १ ॥

अथ [चार साधन सिद्ध करने के] **अनंतर अतः** [कर्म का फल अनित्य और ज्ञान का फल नित्य है] इसलिये **ब्रह्म जिज्ञासा** ब्रह्म जिज्ञासा [करनी चाहिये] ।

यहां 'अथ' शब्द अनंतरता वाचक है आरंभ वाचक नहीं, क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासा का यहां आरंभ नहीं होता तथा यह शब्द मंगल के अर्थ में भी नहीं हो सकता; क्योंकि इस अर्थ को लेने से वाक्य का अन्वय ठीक नहीं बनता । परंतु, अथ शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग हो तो भी उसके श्रवण मात्र ही से मंगल का कार्य हो जाता है । अथ शब्द का प्रयोग पूर्व पक्ष की अपेक्षा रखता है ऐसा माना जाय तो भी सामान्यता इसमें और अनंतरता में भेद नहीं है । इसलिये अनंतरता का अर्थ लेकर जैसे धर्म जिज्ञासा पहले वेद के अध्ययन की अवश्य अपेक्षा रखती है इसी प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा पहले जिस बात की अपेक्षा रखती है उसको कहना चाहिये । पहिले स्वाध्याय (वेदाध्ययन) का होना तो धर्म जिज्ञासा तथा ब्रह्म जिज्ञासा दोनों के लिये समान है ।

यदि कहो कि ब्रह्म जिज्ञासा के लिये प्रथम (वैदिक) कर्म के ज्ञान की आवश्यकता है, तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि, धर्म जिज्ञासा के पूर्व भी वेदान्त के अध्ययन करने वाले को ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यज्ञ में जैसे हृदय आदि अंगों की आहुतियां देने में क्रम का नियम होता है क्योंकि वहां उसकी आवश्यकता है परंतु यहां पर ऐसे कोई नियम की आवश्यकता नहीं है। वैसे ही धर्म जिज्ञासा तथा ब्रह्म जिज्ञासा इन दोनों में अंग अंगी भाव नहीं है और एक में अधिकार प्राप्त होने के पश्चात् दूसरे में अधिकार की प्राप्ति होती हो ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे, धर्म जिज्ञासा तथा ब्रह्म जिज्ञासाके फल और विषय भी भिन्न भिन्न हैं। धर्म के ज्ञान का फल अभ्युदय है और उसके लिये कर्म करने की आवश्यकता होती है। ब्रह्म-ज्ञान का फल परम कल्याण रूप मोक्ष है और उसके लिये और कोई कर्म नहीं करना पड़ता। धर्म जिज्ञासा में भविष्यत् काल में होने वाला धर्म जिज्ञासा का बिषय होता है और उसकी उत्पत्ति के लिए पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा है परंतु ब्रह्म जिज्ञासा में, जिज्ञासा का विषय ब्रह्म नित्य होने से जिज्ञासा के पूर्व ही से वर्तमान होने से उसकी उत्पत्ति के लिये पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों शास्त्रों की प्रेरणा में भी भेद हैं। धर्म में प्रमाण भूत प्रेरक वेद वाक्य पुरुष को अपने विषय में (धर्म में) प्रवृत्त कर के ही (धर्म का) बोध करते है परन्तु ब्रह्म के प्रेरक वेद वाक्य पुरुष का केवल बोध ही करते हैं। यहां बोध ही प्रेरणा का फल होने से वह पुरुष को बोध में प्रवृत्त नहीं करते यह ठीक ऐसे ही बोध कराते हैं, जैसे, इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से बोध होता है।

इसलिये जिस (साधन) के अनंतर ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश किया जाता है, उसे कहना चाहिये। वह यह है: (१) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक (२) इस लोक तथा परलोक के विषय भोग में वैराग्य (३) शम दमादि साधन संपत्ति और (४) मुमुक्षुता। इस साधन चतुष्टय से संपन्न होने पर धर्म जिज्ञासा के पूर्व ही अथवा पीछे भी ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है और ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है, परन्तु, साधन चतुष्टय हीन को नहीं। इसलिये 'अथ' शब्द से 'उपरोक्त साधन चतुष्टय सम्पन्न होने के अनन्तर' ऐसा उपदेश किया गया है।

'अतः' (इसलिये), यह शब्द हेतु बोधक है। क्योंकि वेद ही स्वयं मनुष्य के कल्याण के साधन रूप अग्निहोत्रादि कर्मों के फल को अनित्य बताते हैं; जैसे, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते!' [छां० ८। १। ६] (इसलिये, इस लोक में कर्म से प्राप्त किये भोग जैसे नष्ट हो जाते हैं वैसे ही पुण्य से प्राप्त किया परलोक भी नाश को प्राप्त होता है) इत्यादि। तथा वेद ही ब्रह्मज्ञान से परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है ऐसा कहते हैं; जैसे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २। १] (ब्रह्म को जानने वाला परम पद को प्राप्त होता है) इत्यादि। इस लिये उपरोक्त साधन सम्पत्ति के अनंतर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये। ब्रह्म को जानने की इच्छा का नाम ब्रह्म जिज्ञासा है। उस ब्रह्म का अर्थ 'जन्माद्यस्य यतः' (इस जगत्की उत्पत्ति आदि जिससे होती है) इस अगले सूत्र से बताया जायगा। इसलिये यहां पर यह संदेह नहीं करना चाहिये कि इस शब्द का जाति आदिक कोई दूसरा अर्थ है। 'ब्रह्म की जिज्ञासा' इस वाक्य में 'ब्रह्म की' यह षष्ठी कर्म बोधक

है सम्बन्ध बोधक नहीं। क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञासा करने योग्य वस्तु की अपेक्षा है, और यहां पर अन्य किसी जानने योग्य वस्तु का निर्देश नहीं किया गया है।

यहाँ पर यदि कोई कहे कि सम्बन्ध बोधक षष्ठी लेने से भी जिज्ञासा का कर्म ब्रह्म है इस बात का विरोध नहीं आता; क्योंकि (षष्ठी का अर्थ) जो सामान्य सम्बन्ध उसी में (कर्म रूप) विशेष सम्बन्ध का भी समावेश हो जाता है। इस पर हमारा यह उत्तर है कि इस प्रकार ब्रह्म का प्रत्यक्ष कर्मत्व छोड़ कर सामान्य सम्बन्ध द्वारा उसके अप्रत्यक्ष कर्मत्व की कल्पना करना व्यर्थ प्रयास है। यदि कहो कि वह व्यर्थ नहीं है, इससे ब्रह्म सम्बन्धी सब बातों का बिचार करने की सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं यह सूचित होता है; तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रधान वस्तुको स्वीकार करने से उसके लिये आवश्यक ऐसी अन्य बातों का स्वीकार हो हो जाता है। ज्ञान से ब्रह्म हीं को प्राप्त करना अत्यन्त इष्ट होने से ब्रह्म ही प्रधान है। इस प्रधान ब्रह्म जिज्ञासा का ग्रहण करने पर फिर जिन बातों को बिना जाने ब्रह्म जिज्ञासा होती ही नहीं ऐसी अन्य बातों का भी ग्रहण हो हो जाता है उनका पृथक् निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे, 'यह राजा जा रहा है' ऐसा कहने से राजा सपरिवार जा रहा है ऐसा ज्ञात हीं होता है, वैसे ही यह है। दूसरे, यही भाव श्रुति के अनुसार है; जैसे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' [तै० ३ । १] (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (उस को जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा का प्रत्यक्ष कर्म (विषय) है ऐसा बताती है। यह श्रुति-कथन कर्म बोधक षष्ठी लेने हीं से सूत्र के साथ

संगत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म की' यह कर्म बोधक षष्ठी ही है।

जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। जिज्ञासा शब्द में 'सा' (मूल संस्कृत सन्) इस प्रत्यय का अर्थ 'इच्छा' है, साक्षात्कार पर्यंत ज्ञान उसका कर्म है, क्योंकि इच्छा हमेशा फल को लेकर ही होती है (यहाँ इच्छा का कर्म ही उसका फल है)। प्रामाणिक ज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार होना ही इष्ट है क्योंकि ब्रह्म का साक्षात्कार करना ही पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ इसलिये है कि इससे सकल संसार के बीज रूप अविद्या का तथा उससे होने वाले अनर्थों का नाश होता है। इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये।

शंकाः—अब यह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध हो तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं है और यदि अप्रसिद्ध हो तो उसकी जिज्ञासा करना ही असंभव है।

समाधानः—नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला तथा सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ऐसा ब्रह्म प्रसिद्ध ही है। ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति देखने से बृह धातु के अनुसार नित्य शुद्धत्वादि अर्थ की उस शब्द से प्रतीति होती है वैसे ही ब्रह्म सब का आत्मा होने से उसका अस्तित्व प्रसिद्ध है। 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकारकी प्रतीति कभी किसी को न होने से सबको आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती है। यदि आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि नहीं होती तो सब लोगों को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव होता। यह आत्मा ब्रह्म है। अब यदि लोक में ब्रह्म आत्मारूप से प्रसिद्ध ही है तो वह सबको विदित है इसलिये उसको जानने

की आवश्यकता नहीं रहती यह दोष तो रहता ही है; परन्तु वह बात नहीं है क्योंकि उसके विशेष रूप के बारे में मत भेद है।

चैतन्य गुण से युक्त देह को सामान्य मनुष्य तथा लोकायतिक (चार्वाक) आत्मा मानते हैं। चेतन इन्द्रियां ही आत्मा हैं ऐसा भी कोई मानते हैं। कोई मन को कोई क्षणिक विज्ञान ही को आत्मा मानते हैं तो कोई शून्य को। संसारी कर्ता और भोक्ता ऐसा आत्मा देह से भिन्न है ऐसा कोई मानते हैं तो कोई उसको केवल भोक्ता ही मानते हैं कर्ता नहीं। कोई मानते हैं कि सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर इससे भिन्न है तथा कोई मानते हैं। कि वह ईश्वर ही भोक्ता का आत्मा यानी स्वरूप है। इस प्रकार वास्तविक युक्ति तथा श्रुति प्रमाण से तथा वास्तविक से प्रतीत होने वाले युक्ति तथा प्रमाण से भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन किया जाता है इस परिस्थिति में यदि कोई विना विचारे किसी पक्ष को ग्रहण करेगा तो उसका मोक्ष नहीं होगा; वह अनर्थ को प्राप्त होगा। 'इसलिये ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये' इस प्रकार उपोद्घात करके वेदान्त शास्त्र के अनुकूल तर्क को ग्रहण करके सूत्रकार वेदान्त वाक्यों की मीमांसा प्रारंभ करते हैं॥ १ ॥

२ जन्माद्यधिकरण।

ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये ऐसा कथन किया। अब उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है वह सूत्रकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

यतः जिससे अस्य इस [जगत्] का जन्मादि जन्मादि [होते हैं, वह ब्रह्म है]।

जन्मादि यह समास जन्म अर्थात् उत्पत्ति है जिसकी, इस प्रकार से तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है (समासांतर्गत शब्दों के अर्थ को लेकर जो बहुव्रीहि समास होता है उसको तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि कहते हैं जैसे, लबकर्ण। अतद्गुण संविज्ञान वह है जिसमें समासोंतर्गत शब्दों के अर्थ को नहीं लिया जाता, जैसे, चित्ररथ)। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, यह इस समास का अर्थ है। उत्पत्ति का प्रथम निर्देश करना श्रुति का कथन वस्तु स्थिति के अनुसार ही है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' [तै० ३।१] (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियां उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का क्रम दिखाती हैं, इसलिये श्रुति कथन भी ऐसा ही है। और वस्तु स्थिति भी ऐसी ही है कि प्रथम उत्पन्न होकर अस्तित्व में आने के पश्चात् ही उस पदार्थ की स्थिति और प्रलय हो सकते हैं।

'इसका' इस पद में 'यह' शब्द से प्रत्यक्ष और अन्य प्रमाणों से उपस्थित होने वाली (जगत् रूप) वस्तु का निर्देश किया गया है। 'इसका' यह षष्ठी (वस्तु का) उत्पत्ति आदि धर्मों के सम्बन्ध का द्योतक है। 'जिससे' इस पद से कारण का निर्देश होता है। (अब सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ कहते हैं—) जो नाम रूप से व्यक्त है, जो अनेक कर्त्ता भोक्ताओं से युक्त है, जिससे कर्मों के फलों का देश, काल और कारण नियत है यानी जो इनका अधिष्ठान है, जिसकी रचना के स्वरूप की मन कल्पना तक नहीं कर सकता, ऐसे इस (जगत्) की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान कारण से होती है, 'वह ब्रह्म है' यह वाक्य शेष (अध्याहार) है। अन्य भाव विकारों की भी उत्पत्ति, स्थिति और लय का इन्ही तीनों

में अंतर्भाव होने से सूत्र में इन का ग्रहण किया है। यास्क ऋषि के कहे हुए 'उत्पन्न होता है, वर्तमान है, इत्यादि छओं विकारों का सूत्र में ग्रहण है, ऐसा मानो तो इन छओं विकारों का जगत् के स्थिति काल में रहना संभव होने से मूल कारण रूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय होते हैं ऐसा नहीं माना जायगा, ऐसी किसी को शङ्का उत्पन्न होगी। वैसा न हो, इसलिये, ब्रह्म ही से जो उत्पत्ति और ब्रह्म ही में जो स्थिति तथा प्रलय उनका ही ग्रहण किया है। उपर्युक्त प्रकार के जगत् की उत्पत्ति आदि उपर्युक्त गुणों से युक्त ऐसे ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से—फिर वह कारण अचेतन प्रधान हो, परमाणु हो अभाव हो अथवा जीव हो—होती है यह मान ही नहीं सकते। वैसे ही वह (विकार) स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस जगत् में प्रत्येक कार्य के लिये विशिष्ट देश काल और निमित्त ग्रहण किया जाता है। इसी अनुमान से जीव से भिन्न ऐसे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है ऐसा ईश्वर को कारण मानने वाले मानते हैं। इस सूत्र में भी वही (अनुमान) कहा है ऐसा यदि कोई कहे तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि, वेदान्त वाक्य रूप फूल एकत्र पिरोना यही इन सूत्रों का उद्देश्य है। इन सूत्रों में वेदान्त वाक्यों को ही ग्रहण करके उनका विचार किया गया है। क्योंकि, इन वाक्यों का विचार करके उसके तात्पर्य का निश्चय करने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है परंतु अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से वह नहीं होता। जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण का कथन करने वाले वेदान्त वाक्यों के साथ ही यदि उनके अर्थ को दृढ़ करने वाला उनका अविरोधी ऐसा कोई अनुमान हो तो उसका निवारण भी नहीं किया जाता। क्योंकि, श्रुति ने भी अपने सहायता के लिये अनुमान का अंगीकार किया है। जैसे

'श्रोतव्यो मन्तव्यः' [बृ० २।४।५] (आत्मा का श्रवण करना चाहिये मनन करना चाहिये) यह श्रुति तथा 'पंडितो मेधावी गंधारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद।' [छां० ६।१४।२] (जैसे, विद्वान् तथा बुद्धिमान गंधार देश ही को प्राप्त होता है वैसे ही इस जगत् में जिस को गुरु प्राप्त हुआ है वह पुरुष ब्रह्म को जानता है) इत्यादि श्रुतियां अपने को पुरुष की बुद्धि के सहायता की अपेक्षा है ऐसा दिखाती है। जैसे धर्म जिज्ञासा में केवल श्रुति ही प्रमाण होती है वैसा ब्रह्म जिज्ञासा में नहीं है। परन्तु ब्रह्म जिज्ञासा में श्रुति आदि तथा अनुभवादि भी यथा सम्भव प्रमाण माने जाते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान का पर्यवसान अनुभव में होता है तथा ब्रह्मज्ञान का विषय (ब्रह्म) वस्तु रूप है। कर्तव्य रूप विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं होती वहां श्रुति आदि ही प्रमाण हैं; क्योंकि कर्तव्य पुरुष के आधीन होता है। वह चाहे उसको करे, और प्रकार से करे अथवा न भी करे। जैसे कोई घोड़े पर चढ़ कर जाय, पैदल जाय अथवा न भी जाय, अतिरात्र याग में षोड़शी (सोम पीने का प्याला) का ग्रहण करता है अथवा अतिरात्र याग में षोड़शी का ग्रहण नही करता' सूर्य उदय होने पर आहुति देता है अथवा सूर्य उदय के पूर्व ही आहुति देता है। इत्यादि। यहाँ पर विधि निषेध को तथा विकल्प, सामान्य तथा अपवाद को अवकाश है परन्तु वस्तु में वह ऐसी है, ऐसी नहीं है अथवा है ही नहीं इस प्रकार के विकल्प नहीं संभव होते। विकल्प पुरुष के बुद्धि पर निर्भर रहते हैं परन्तु वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष की बुद्धि पर निर्भर नहीं रहता। एक ठूँठ में यह ठूँठ है, पुरुष है अथवा और कुछ है इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं होता। यहाँ पुरुष अथवा अन्य किसी की प्रतीत मिथ्या ज्ञान है और ठूँठ ही

है यह वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। इस प्रकार सिद्ध वस्तु विषयक प्रमाण-ज्ञान उस वस्तु ही के अधीन होता है। और ऐसा होने से ब्रह्म ज्ञान भी वस्तु यानी ब्रह्म ही के अधीन है क्योंकि उसका विषय सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) है।

यदि कोई शंका करे कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म अन्य प्रमाणों से भी जाना जाता है, इसलिये ब्रह्म के जानने के लिये वेदान्त वाक्यों का विचार करना व्यर्थ ही है तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय न होने से उसके सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता। स्वभाव ही से इन्द्रियां विषय को ग्रहण करने वाली होती हैं वे ब्रह्म को विषय नहीं करतीं। यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह कार्य (जगत्) ब्रह्म से सम्वन्ध रखता है। केवल कार्य (जगत्) का ग्रहण इन्द्रियों से होता है इसलिये यह नहीं निश्चय कर सकते कि यह कार्य ब्रह्म से सम्वन्धित है या अन्य किसी से सम्बन्ध रखता है। इसलिये 'जन्माद्यस्ययतः' यह सूत्र अनुमान का कथन करने के लिये नहीं लिखा गया। फिर किसलिये लिखा गया है? [ब्रह्म के लिये प्रमाण भूत ऐसे] वेदान्त वाक्य का निर्देश करने के लिये। जिस वाक्य का इस सूत्र ने लक्ष किया है वह वेदान्त वाक्य कौनसा है? भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।' (वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और बोला, हे भगवन्, मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये) इस प्रकार प्रारंभ करके आगे कहा है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।' [तै० ३।१] (जहां से ये सब भूप उत्पन्न हुए है, उत्पन्न हुए ये जिससे जीते हैं और नाश होने पर ये जिसको प्राप्त

होते हैं, उसीको जानने की इच्छा कर; वही ब्रह्म है)। इसके अर्थ के निर्णय के लिये यह वाक्य हैं—'आनंदाद्ध्येव खल्विमानि-भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनंदं प्रयन्त्य-भिसंविशन्तीति।' [तै० ३।६] (सचमुच आनंद ही से ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए भूत आनन्द ही से जीते हैं और प्रलय होने पर आनंद ही को प्राप्त होते हैं)। वैसे ही, नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला तथा सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले इस प्रकार के अन्य वेदान्त वाक्य भी यहां पर उदाहरण रूप से ग्रहण करने चाहिये॥ २॥

३ शास्त्रयोनित्वाधिकरण

ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा कहने से ब्रह्म सर्वज्ञ है ऐसा प्राप्त होता है। उसीको दृढ़ करने के लिये कहते हैं—

शास्त्र योनित्वात्॥ ३॥

शास्त्र योनित्वात् [ब्रह्म सर्वज्ञ है] क्योंकि, वह शास्त्रों का मूल है।

जिनको (पुराण, न्याय, मीमासा, धर्म शास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त; छन्द शास्त्र और ज्योतिष ये दस विद्या स्थान है) विद्या स्थान महत्व देते हैं, दीपक के समान जो सब विषयों को प्रकाशित करते हैं और जो लगभग सर्वज्ञ ही हैं, ऐसे महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त ऐसे ऋग्वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी से होना असंभव है। जो जो विस्तृत शास्त्र जिस पुरुष से उत्पन्न होते हैं, जैसे पाणिनी से व्याकरण उत्पन्न हुआ है जिसमें एकही ज्ञेय विषय है, उस शास्त्र से वह पुरुष

अधिक ज्ञानवान् होता है यह जगत् में प्रसिद्ध ही है। फिर जिसमें अनेक शाखाएँ हैं, जिससे देव पशु और मनुष्य तथा उनके वर्ण आश्रम आदि विभाग होते हैं, जो ज्ञान का समुद्र है ऐसे ऋग्वेदादि शास्त्र की उत्पत्ति विना प्रयत्न केवल लीला से जैसे पुरुष निःश्वास छोड़ता है वैसे—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' [बृह० २।४।१०] (ऋगवेद इस महा पुरुष का निःश्वास है), इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं—जिस महा पुरुष से उत्पन्न होते हैं, उस महा पुरुष के निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्व शक्तिमत्ता के लिये कहना ही क्या है ?

अथवा, ऊपर कहा हुआ ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप ज्ञान होने का कारण यानी प्रमाण है, ऐसा भी इस सूत्र का अर्थ होता है। इसका अभिप्राय यह है कि शास्त्र प्रमाण ही से जगत् के कारण रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि उस शास्त्र के उदाहरण पूर्व सूत्र में दिये गये हैं। जब पूर्व सूत्र ही में इस शास्त्र का उल्लेख कर के ब्रह्म (ज्ञान) के लिये यह शास्त्र प्रमाण है ऐसा दिखाया फिर इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि पूर्व सूत्र में इन शास्त्रों का स्पष्ट शब्दों से ग्रहण न किया होने से जगत् की उत्पत्ति आदि से ब्रह्म विषयक अनुमान ही कहा है ऐसी शंका किसी को हो उसका निवारण करने के लिये यह 'शास्त्र योनित्वात्' सूत्र लिखा गया है ॥ ३ ॥

४ समन्वयाधिकरण।

पूर्व पक्षः—ब्रह्म के लिये शास्त्र प्रमाण है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'

[जै० सू० १।२।१] (वेद वाक्य क्रिया के निमित्त हैं इसलिये जो वाक्य क्रिया के निमित्त नहीं हैं वे निरर्थक हैं) इस सूत्र में शास्त्रों का उद्देश किया है ऐसा दिखाया है। इसलिये, वेदान्त वाक्य क्रिया पर न होने से निरर्थक हैं ऐसा मानना पड़ेगा; अथवा, कर्ता, देवता आदि का विवरण इनमें है ऐसा मान कर ये क्रिया विधि के अंगभूत हैं ऐसा मानना पड़ेगा, अथवा उपासना आदि इतर क्रियाओं के विधान के लिये है ऐसा मानना पड़ेगा। सिद्ध वस्तुओं का प्रतिपादन इन वाक्यों में हो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय है, तथा उसके प्रतिपादन में ग्राह्य और त्याज्य का विवरण न होने से उससे किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी। इसलिये 'सोऽरोदीत्' [य० सं० १।५।१।३] (उसने रुदन किया) इत्यादि वाक्य निरर्थक न हों इस हेतु से 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' [जै० सू० १।२।७] (विधि के स्थान एक वाक्यता होने से वह वाक्य विधि के स्तुति के लिये है इस रूप से प्रमाण हैं) इस सूत्र में इस प्रकार के वाक्यों को स्तुति के अर्थ सार्थकता है ऐसा कहा है। 'इषे त्वा' [य० सं० १।१।१] (शक्ति के लिये तुझको मैं छोड़ता हूँ) इत्यादि मंत्रों में भी क्रिया तथा उसका साधन इनका प्रतिपादन किया होने से उनका कर्मों के साथ सम्बन्ध कहा गया है। वेद वाक्यों का विधि के साथ सम्बन्ध न होते हुए उनको सार्थकता प्राप्त हुई कहीं भी देखने में नहीं आती और आना ठीक भी नहीं है। सिद्ध वस्तु स्वरूप के (ज्ञान के) लिये विधि (वाक्य) का होना असंभव है। क्योंकि विधि का विषय क्रिया है। इसलिये, कर्म के लिये आवश्यक कर्ता, देवता आदि के स्वरूप का वर्णन करने के कारण वेदान्त वाक्य क्रिया विधि के अंगभूत है ऐसा

माननापड़ेगा । अब प्रकरणान्तर होगा इस भय से यह वाक्य क्रिया विधि के अङ्गभूत है ऐसा नहीं मानना है तो उसी प्रकरण में कही हुई उपासनादि क्रियाओं के विधानार्थ है ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार ब्रह्म के लिये शास्त्र प्रमाण नहीं है यह प्राप्त होने पर कहते हैं:—

तत्तु समन्वयात् ।। ४ ।।

तु परन्तु तत् वह [ब्रह्म शास्त्र गम्य है] समन्वयात् क्योंकि [ब्रह्म ही में वेदान्त वाक्यों का] तात्पर्य है।

परन्तु शब्द पूर्व पक्ष के निराकरण का द्योतक है। वह सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान तथा जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण रूप ब्रह्म वेदान्त शास्त्र ही से जाना जाता है क्योंकि इसी में [वेदान्त वाक्यों का] तात्पर्य है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत' 'एकमेवाद्वितीयम्' [छां० ६।२।१] (हे सोम्य, यह पहले सत् ही था। वह एक और अद्वितीय था), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' [ऐ० २।४।१।१] (यह पहिले एक आत्मा ही था) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम् ।' [बृ० २।५।१९] (जिसका कोई कारण नहीं है, जिसका कोई कार्य नहीं है और जिसको भीतर और वाहर नहीं है वह ब्रह्म है), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' [बृ०२।५।१९] (यह आत्मा ब्रह्म है, सर्व साक्षी है)' 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' [मुण्ड० २।२।११] (यह जो आगे है वह सब अमृत स्वरूप ब्रह्म ही है) इत्यादि सभी वेदान्त वाक्यों का झुकाव इसी अर्थ की ओर है। इन वाक्यों के शब्दों का तात्पर्य ब्रह्म स्वरूप कथन करने ही का है ऐसा जानने पर इनके भिन्न अर्थों की कल्पना करना योग्य नहीं है। ऐसा करने से श्रुत हानि (श्रुति प्रतिपादित

अर्थका त्याग) तथा अश्रुत कल्पना (श्रुति में न कहे हुए अर्थ की कल्पना) का दोष प्राप्त होता है।

वेदान्त वाक्य कर्त्ता के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'तत्केन किं पश्येत्' [बृ० २।४।१३] (तब वह किससे क्या देखे) इत्यादि श्रुतियोंमें क्रिया कर्त्ता और फल इनका निराकरण किया गया है; सिद्ध वस्तु होने पर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है; क्योंकि, 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है) इस प्रकार आत्मा ब्रह्म ही है यह भाव इस वेदान्त शास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी से भी नहीं जाना जाता।

ब्रह्म में हेय और उपादेय भाव न होने से उसका उपदेश व्यर्थ है ऐसा (पूर्वपक्ष में) कहा था' सो ठीक ही है, क्योंकि हेय और उपादेय भाव से रहित ब्रह्म ही आत्मा है इस ज्ञान ही से सब क्लेशों का नाश होकर पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। वैसे ही कहीं कहीं देवता आदिका प्रतिपादन है वह उस प्रकरण में कही हुई उपासना के लिये हैं ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं प्राप्त होता। परन्तु इससे ब्रह्म उपासना विधि का अंग है ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि एकता का ज्ञान होने से ग्राह्य तथा त्याज्य कुछ भी शेष नहीं रहने से द्वैत विज्ञान का नाश होता है। एकता का निश्चय दृढ़ होकर एक बार द्वैत विज्ञान का नाश हो जाने पर उसका फिर उत्पन्न होना संभव नहीं है, जिससे ब्रह्म उपासना विधि का अंग है ऐसा प्रतिपादन हो सके। यद्यपि इतर स्थान पर वेद वाक्यों का विधि से संबंध न होने से वह प्रमाण रूप हो ऐसा देखने में नहीं आता तो भी आत्म विज्ञान फलपर्यवसायी होने से वेदान्त शास्त्र अप्रमाण नहीं हो

सकता । शास्त्र का प्रमाण्य अनुमान से सिद्ध नहीं होता क्योंकि ऐसा होता तो उसके लिये अन्यत्र देखे हुए दृष्टांत की अपेक्षा रहती । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म के लिये शास्त्र प्रमाण है ।

पूर्वपक्षः—यद्यपि ब्रह्म शास्त्र ही से जाना जाता है तो भी वे उपासना विधि के अंग रूप से उसका बोध करते हैं जैसे लोक व्यवहार में अप्रसिद्ध ऐसे यूप (यज्ञपशु बाधने का स्तंभ) तथा आहवनीय (अग्नि विशेष) ये पदार्थ विधि का अंग होने से, इनका वर्णन शास्त्र में दिया गया है । पुरुष को किसी कर्म में प्रवृत्त करना अथवा किसी कर्म से उसको निवृत्त करना यही शास्त्र का उद्देश है । शास्त्र का आशय जानने वाले यही कहते हैं—'दृष्टोहि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् ।' [शाबर भाष्य १।१।१] (कर्म का बोध कराना यही वेदों का दृष्ट प्रयोजन है), 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।' [शाबर भाष्य १।१।२] (कर्म में प्रवृत्त करने वाले वचन को 'चोदना' कहते हैं), तस्मज्ञान मुपदेशः' [जै० सू० १।१।५] (उसका ज्ञान कराने वाले वचन को उपदेश कहते हैं), 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः [जै० सू० १।१।२५ (वाक्य में आये हुए पदोंका क्रियार्थं पद के साथ संबंध लगाया जाता है) तथा 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' [जै० सू० १ । २ । १] वेद वाक्यों का उद्देश्य कर्म को प्रतिपादन करने का होने से जिनका अर्थ वैसा न हो वे निरर्थक हैं) । इसलिये कहीं पुरुष को किसी विषय में प्रवृत्त करने से तथा कहीं पुरुष को किसी विषय से निवृत्त करने से शास्त्र के वाक्य सार्थक होते हैं तथा इनके अंगभूत होनेसे ही अन्य वाक्य उपयोगी होते हैं । इसी के समान वेदान्त वाक्य इसी प्रकार से सार्थक हैं । वेदान्त वाक्य विधि पर हैं ऐसा सिद्ध होने पर जैसे स्वर्ग की कामना वालें के लिये अग्निहोत्रादि

साधन हैं वैसे ही अमृतत्व की प्राप्ति की इच्छा हो उसके लिये ब्रह्म ज्ञान साधन कहा गया है ऐसा मानना युक्त है।

शंका:—परन्तु यहां पर ज्ञेय पदार्थ भी तो भिन्न है। कर्म-काण्ड में आगे होने वाला कर्म ज्ञेय है और इस शास्त्र में नित्य सिद्ध-ब्रह्म ज्ञेय है। वैसे ही, धर्म ज्ञान का फल कर्म के अनुष्ठान पर निर्भर है इसलिये ब्रह्म ज्ञान का फल भी उससे भिन्न होना चाहिये।

उत्तर :—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य विधि के साथ ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: [वृ २।४।५] (आत्मा का दर्शन करना ही चाहिये), 'य आत्माऽपहतपाप्मा, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासि तव्यः।' [छां० ८,७।१] (जो आत्मा पापोंसे मुक्त है उसको ढूँढ़ना चाहिये, उसको जानने की इच्छा करनी चाहिये), 'आत्मेत्ये-वोपासीत।' [बृ० १।४।७] (वह आत्मा है ऐसा जानकर उसकी उपासना करे)। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत।' [बृ० १।४।१५] (आत्मा ही को स्वलोक यानी अपना स्वरूप जान कर उसकी उपासना करे), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' [मुण्ड० ३।२।९] (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है) इत्यादि विधान होने से, यह आत्मा कौन है तथा ब्रह्म क्या है ऐसी शंका उत्पन्न होती है, इसलिये ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने ही में 'नित्यः, सर्वगतः, नित्य तृप्तः, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावः, विज्ञान मानंदं ब्रह्म।' (आत्मा नित्य है; सर्व व्यापक है; नित्य तृप्त हैं नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला है; ब्रह्म विज्ञान स्वरूप और आनंद स्वरूप है) इत्यादि वेदान्त वाक्यों की उपयोगिता है। और इस ब्रह्म की उपासना से जगत् में न दीखने वाला

परन्तु शास्त्र से जाना जाता है ऐसा मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है। वेद वाक्यों का कार्य विधि से सम्वन्ध न मानते हुए उनमें केवल सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन है ऐसा मानें तो उससे त्याग और ग्रहण का (वोध होना) असम्भव होने से 'पृत्वी पर सात द्वीप हैं' तथा 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्यों के समान वेदान्त वाक्य भी निरर्थक हो जायेंगे। यदि कहो, कि जैसे यह रस्सी है सर्प नहीं है' ऐसे कथन में वस्तु मात्र के कथन द्वारा सर्व भ्रान्ति से उत्पन्न हुए भय की निवृत्ति होने से उन वाक्यों की सार्थकता देखने में आती है, वैसे ही यहाँ पर भी असंसारी आत्म वस्तु के कथन से संसारिता (जीवभाव) की भ्रान्ति निवृत्त होने से वेदान्त वाक्य सार्थक होंगे; तो ऐसा कहना तव हो सकता है, जब जैसे रस्सी के स्वरूप का श्रवण करके सर्प की भ्राँति दूर होती है, वैसे ही व्रह्म स्वरूप के श्रवण करने से आत्मा के संसारित्व की भ्रांति दूर हो जाती। परन्तु वह भ्रांति दूर नहीं होती। क्योंकि जिसने व्रह्म का स्वरूप श्रवण किया है ऐसे पुरुष में भी पूर्ववत् सुख दुःखादि संसारी पुरुष के धर्म देखने में आते हैं। इसके अतिरिक्त, 'श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्या-सितव्यः' [वृ० २।४।५] (आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) इस श्रुति में श्रवण के अनन्तर मनन और निदिध्यासन का विधान देखने में आता है। इसलिये व्रह्म उपासना विधि का अंश रूप है ऐसा ही शास्त्र से व्रह्म का ज्ञान होता है ऐसा जानना चाहिये।

समाधान :—यह आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि कर्म विद्या और व्रह्म विद्या इन दोनों के फल में भेद है। कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसा तीन प्रकार का कर्म श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है, इसी का नाम धर्म है। इसका विचार 'अथातो

धर्म जिज्ञासा' [जै० सू० १।१।१] (अब इसलिये धर्म की जिज्ञासा) इस सूत्र से किया गया है। वैसे ही हिंसा आदि भी निषेधात्मक प्रेरक वेद वाक्यों के विषय होने से उनके परिहार के लिये उनकी जिज्ञासा आवश्यक है। शास्त्र से प्रेरित हित और अहित रूप इन धर्म और अधर्म का फल प्रत्यक्ष है। विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होने वाले इनके सुख दुःख शरीर, इन्द्रिय और मन से भोगे जाते हैं यह ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब में प्रसिद्ध है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक के सभी देह धारियों में सुख दुःख की न्यूनाधिकता है यह श्रुति से जाना जाता है। वैसे ही इनके हेतु रूप धर्म की भी न्यूनाधिकता होती है तथा धर्म के न्यूनाधिकता से अधिकारी के भेद होते हैं। फल की इच्छा तथा कर्म करने की सामर्थ्य इत्यादि के कारण अधिकारियों में भी भेद होता है यह प्रसिद्ध है। वैसे ही, यज्ञ यागादि कर्म करने वाले पुरुषों में विद्या और समाधि विशेष प्रकार की होने से वे उत्तर मार्ग से जाते हैं। परन्तु केवल इष्ट (अग्नि होत्रादि), पूर्त (कुआ मन्दिर आदि बनवाना) तथा दत्त (शरणागत की रक्षा आदि) कर्म करने वाले धूमादि क्रम से दक्षिण मार्ग से जाते हैं और वहां भी उनके सुख में तथा सुख साधनों में न्यूनाधिकता होती है यह 'यावत्संपात मुषित्वा' [छां० २।१०।५] (कर्मक्षय होने तक रह कर) इस श्रुति से जाना जाता है। वैसे ही मनुष्य से लेकर नरकस्थ अथवा स्थावर तक योनियों में न्यूनाधिक प्रमाण से जो थोड़ा सा सुख प्राप्त होता है, वह शास्त्रगम्य धर्म ही से प्राप्त होता है। ऐसा विदित होता है। इसी प्रकार मनुष्य से उच्च अथवा कनिष्ठ देह धारियों में दुःख भी न्यूनाधिक प्रमाण में दिखाई देता है। इससे उस दुःख के कारण रूप वेदों में निषेध वाक्यों से विदित अधर्म

में तथा उस अधर्म का आचरण करने वालों में भी न्यूनाधिकता होनी चाहिये ऐसा अनुमान होता है। इसी प्रकार अविद्यादि दोषों से युक्त प्राणियों के धर्म और अधर्म के भेद से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर धारण के ऊपर ही निर्भर रहने वाला जो सुख दुःख का भेद, तदरूप ही यह अनित्य संसार है ऐसा श्रुति, स्मृति तथा न्याय (युक्ति) से भी सिद्ध होता है। वैसे ही ! 'नह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपह तिरस्ति' [छां० ८।१२।१] (शरीर के होते हुए सुख दुःख का नाश नहीं होता ।) इस श्रुतिमें ऊपर वर्णन किये हुएसांसारित्वकाही वर्णन किया गया है।' अशरीरंवाव संतंन प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छां०८।१२।१] (जिसकेशरीर नहीं है उसका सुख दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति में (मोक्ष दशा में) सुख दुःख का निषेधात्मक धर्म का फल नहीं हो सकता ऐसा निश्चित होता है। यदि वह धर्म का फल माना जाय तो उसमें सुख दुःख का निषेध बताया है वह ठीक नहीं होगा। यदि कहें कि अशरीरत्व ही धर्म का कार्य है तो वैसा नहीं है; अशरीरत्व तो स्वाभाविक है यह आगे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट होता है—'अशरीरं शरीरेष्व नवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [काठ० १।२।२१] (शरीर में होते हुए अशरीर, अनित्य वस्तु में होते हुए भी नित्य, महान् तथा सर्वव्यापी ऐसे आत्मा को जान कर विद्वान् पुरुष शोक नहीं करते) 'अप्राणोह्यमना शुभ्रः' [मुण्ड० २।१।२] (वह प्राण रहित मन रहित तथा शुद्ध है) 'असंगो ह्ययं पुरुषः ।' [बृ० ४।३।१५] (क्योंकि यह पुरुष असंग है) इत्यादि। इसलिये अनुष्ठित कर्म के फल से विलक्षण ऐसा मोक्ष संज्ञक अशरीरत्व नित्य है ऐसा सिद्ध हुआ।

कोई २ पदार्थ परिणामी होते हुए भी नित्य होते हैं। उनका विकार होने पर भी उसके सम्बन्ध में वही यह है, ऐसी बुद्धि नष्ट नहीं होती, जैसे जगत् नित्य है ऐसा कहने वालों के मत में पृथ्वी आदि तथा सांख्य आदि के मत में गुण। परन्तु यह अशरीरत्व पारमार्थिक है, कूटस्थ के समान नित्य आकाश के समान सर्वव्यापक, सर्व क्रिया रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं ज्योति स्वभाव वाला है। तथा जिसमें फलरूप कार्य सहित धर्माधर्म तीनों काल में नहीं होते ऐसा यह मोक्षसंज्ञक अशरीरत्व है। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा-स्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।' [क० २। १४] (जो धम अधर्म से भिन्न है, कार्य कारण से भिन्न है तथा जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य से भिन्न है) इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। इसलिये जिसकी यहां पर जिज्ञासा प्रस्तुत है उस ब्रह्म का यदि कर्त्तव्य के अंग रूप से उपदेश हो तो कर्त्तव्य से साध्य किया हुआ वह मोक्ष अनित्य ही होगा। और ऐसा होने से पूर्व कहे हुए कर्म के न्यूनाधिक रहने वाले तथा अनित्य ऐसे फलों में से ही यह एक विशिष्ट फल है ऐसा प्राप्त होगा। परन्तु मोक्ष नित्य है; ऐसा सभी मोक्षवादी मानते हैं। इसलिये कर्त्तव्य के अंगरूप से ब्रह्म का उपदेश किया गया है ऐसा मानना ठीक नहीं है। तथा, 'ब्रह्मविद्ब्रह्म व भवति। [मु० ३।२।६] (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है), 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्-दृष्टे परावरे।' [मु० २।२।८] (उस कार्य कारण रूप ब्रह्म का दर्शन करने से इसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं), आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' [तै० २।६] (जो ब्रह्म के आनन्द को जानता है वह किसी से भय को नहीं प्राप्त होता) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' [बृ० ४।२।४] (हे जनक, तू अभय

रूप ब्रह्म को प्राप्त हुआ है), 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' [बृ० १।४।१०] (उसने मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अपने को जाना और उसी से यह सब हुआ), 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ईशा० ७] (सब एक है ऐसा देखने वाले को मोह और शोक क्या ?) इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति का उपदेश करती हैं और (ज्ञान और मोक्ष) दोनों के बीच किसी अन्य कार्य का निवारण करती है (यानी ज्ञान के पश्चात् मोक्ष के लिये और कुछ भी नहीं करना पड़ता) वैसे ही ब्रह्म ज्ञान और सर्वात्म भाव रूप मोक्ष में इन दोनों के बीच में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता इसके उदाहरण के लिये 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरहं सूर्यश्च ।' [बृ० १।४।१०] (ऐसे उसको देख कर वामदेव ऋषि को ज्ञान हुआ कि मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ)। जैसे खड़ा होकर गाता है, ऐसा कहने में खड़ा होता है और गाता है इन दोनों के बीच वह और कोई तीसरी क्रिया नहीं करता ऐसा जाना जाता है। (वैसे ही यहां पर जानना चाहिये) 'त्वंहिनः पिता योऽस्माकम विद्यायाः परंपारं तारयसि ।' [प्र० ६।८] (तू हमारा पिता है क्योंकि तू हमको अविद्या से परपार लेजाता है), 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्म विदिति सोहं भगवः शोचामितं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु ।' [छां० ७।१।३] (मैंने आप सरीखों से सुना है कि आत्म ज्ञानो शोक से मुक्त हो जाता है। मैं शोकग्रस्त हूँ, भगवन् मुझे इस शोक से पार उतारिये), 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः ।' [छां० ७।२६।२] (जिस के दोष क्षीण होगये हैं, ऐसे उसको भगवान् सनत्कुमार ने अविद्या के परपार को दिखाया) इत्यादि प्रकारकी श्रुतियाँ मोक्ष के प्रतिबंध की निवृत्ति करना इतना

हो आत्म ज्ञान का फल है ऐसा दिखाती हैं। न्यायाचार्य का इसी प्रकार का युक्तियुक्त सूत्र है कि 'दुःखजन्म प्रवृत्तिदोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।' [न्या० सू० १।१।२] (दुःख जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इनमें से उत्तरोत्तर के नाश से पूर्व पूर्व का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है) इस मिथ्याज्ञान का नाश—'जीव और ब्रह्म एक ही है' इस ज्ञान से होता है। वह ज्ञान, जैसे, 'अनंतं वै मनोऽनन्ता वै विश्वदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति।' [बृ० ३।१।९] (यह अनन्त है, विश्वदेव अनन्त हैं इसलिये उससे अनन्त लोक मिलता है) इस श्रुति में कहा हुआ ज्ञान भावना रूप है वैसा नहीं है। वैसे ही, मनो ब्रह्मे त्युपासीत।' [छां० ३।१८।१] (मन ब्रह्म है ऐसा मान कर उसकी उपासना कर) तथा, आदित्यो ब्रह्मे त्यादेशः' [छां० ३।१९।१] (सूर्य ब्रह्म है ऐसा मान कर उसकी उपासना कर) इन श्रुतियों में जैसा मन और सूर्य पर ब्रह्म का अध्यास है वैसा वह ज्ञान अध्यास रूप नहीं है। वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणोवाव संवर्गः।' [छां४।३।१] (वायु संहार कर्ता है, प्राण संहार कर्ता हैं) इस श्रुति के कथनानुसार ध्यानादि किसी विशिष्ट क्रिया द्वारा वह होता है यह भी नहीं कह सकते। वैसे ही, जैसे यज्ञ में आज्य को देखने का संस्कार उस यज्ञ कर्म का अंश है, वैसे ह यह ब्रह्म दर्शन का ज्ञान भी जीव का संस्कार रूप है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जीव ब्रह्म का ऐक्य ज्ञान यदि भावनादि रूप है ऐसा मानो तो, 'तत्वमसि' [छां ६। ८। ७] (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' [वृह० १४। १०] (मैं ब्रह्म हूँ) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुति के शब्दों का तात्पर्य जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने का है उसको बाध पहुँचता है।

वैसे ही, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयः।' [मुण्ड० २। २। २८] (हृदय की ग्रन्थि टूट जाती हैं तथा सब संशय निवृत्त हो जाते हैं) इत्यादि ब्रह्म ज्ञान का अविद्या की निवृत्ति करना ही फल है ऐसा कथन करने वाली श्रुतियां बाधित हो जांयगी। तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' [मुण्ड० ३। २। ६] (ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि जीव को ब्रह्म भाव की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान भावनादि रूप है; ऐसा मानने से ठीक ठीक अर्थ नहीं उपपन्न होता। इसलिये ब्रह्म और जीव की एकता का ज्ञान भावनादि रूप नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ। इसलिये ब्रह्म ज्ञान पुरुष के कर्तृत्व पर निर्भर नहीं है; परन्तु जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जानी जाती है ऐसी वस्तु के ज्ञान के सदृश यह ज्ञान भी केवल वस्तु पर ही निर्भर है। अर्थात् इस प्रकार का ब्रह्म और उसका ज्ञान इनका किसी भी युक्ति से कार्य वस्तु में अन्तर्भाव है ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। वैसे ही 'जानना' इस क्रिया के कर्म रूप से भी ब्रह्म का कार्य पदार्थों में अन्तर्भाव होता है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' [केन० १। ३] (जाने हुए से अन्य तथा न जाने हुए से भी अन्य), 'येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्।' [बृ० २। ४। १३] (जिससे यह सब जानता है उसको किस से जाने), इन श्रुतियों में ब्रह्म 'जानना' इस क्रिया का कर्म नहीं बनता ऐसा प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार, ब्रह्म उपासना की क्रिया का कर्म नहीं हैं ऐसा आगे दी हुई श्रुति में कहा है:—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।' [जिसका वाणी से कथन नहीं होता, परन्तु जिससे वाणी बोलती है। ऐसा प्रतिपादन करके आगे, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नैनं यदिदमु-

पासते ।' [केन० १ । ४] [वही ब्रह्म है ऐसा तू जान; जिसको लोग भजते हैं, वह नहीं) ।

यदि कोई कहे कि ब्रह्म मन वाणी आदि का विषय नहीं है तब वह शास्त्र से किस प्रकार जाना जाता है ? उस पर हमारा उत्तर है कि अविद्या कल्पित भेदों को निवृत्ति करना यही शास्त्रों का उद्देश है । 'यह' इस प्रकार से ब्रह्म (मन वाणी का) विषय है, ऐसा प्रतिपादन करना उनका अभिप्राय नहीं है परंतु, ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने से किसी का भी विषय नहीं है, ऐसा प्रतिपादन कर के अविद्या द्वारा कल्पित ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान इत्यादि भेदों को निवृत्त करना यही शास्त्र का उद्देश है । शास्त्र ऐसा ही कहते हैं—'यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।' [केन० २।३] (जिसने ब्रह्म को नहीं जाना उसने उसको जाना और जिसने जाना उसने नहीं जाना; जानने वालों से वह जाना नहीं गया और न जानने वालों से वह जाना गया है), 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः [के० २।३] (दृष्टि के द्रष्टा को तू देख नहीं सकता, ज्ञान के जानने वाले को तू जान नहीं सकता) इत्यादि । इसलिये आत्मा के अविद्या कल्पित संसारित्व की निवृत्ति करके नित्य मुक्त आत्म स्वरूप का शास्त्रों में प्रतिपादन होने से मोक्ष की अनित्यता का दोष प्राप्त नहीं होता ।

जिनके मत में मोक्ष उत्पाद्य पदार्थ है तथा जिनके मत में मोक्ष विकार्य पदार्थ है उनके मत में मोक्ष के लिये कायिक, वाचिक तथा मानसिक कार्य विशेष की आवश्यकता रहनी युक्त है । परंतु, इन दोनों मतोंमें मोक्ष निश्चित रूप से अनित्य

है । क्योंकि दही आदि विकार्य पदार्थ अथवा घट आदि उत्पाद्य पदार्थ नित्य हैं ऐसा जगत् में देखने में नहीं आता । अब मोक्ष को एक प्राप्य पदार्थ मानकर उसके लिये कार्य की अपेक्षा है ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि, मोक्ष आत्म स्वरूप होने से उसको कहीं से प्राप्त नहीं किया जाता । मोक्ष रूप ब्रह्म आत्मा से भिन्न है ऐसा मानें तो भी उसको प्राप्त किया जाता है ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि, ब्रह्म सर्व व्यापक होने से उसका स्वरूप आकाश के समान सबको नित्य प्राप्त ही है । संस्कार्य वस्तु को कार्य की आवश्यकता होती है, मोक्ष ऐसी संस्कार्य वस्तु नहीं है; क्योंकि, संस्कार से संस्कार्य वस्तु में कुछ गुण उत्पन्न किया जाता है अथवा उसमें रहे हुये दोषों की निवृत्ति की जाती है । इनमें से यहां गुण उत्पन्न करने के लिये संस्कार करना संभव नहीं है, क्योंकि, जिसमें कोई भी अतिशय नहीं उत्पन्न किया जा सके ऐसा ब्रह्म स्वरूप ही मोक्ष है । वैसे ही, यहां दोष दूर करने के लिये भी संस्कार संभव नहीं; क्योंकि, नित्य शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही मोक्ष है । यदि कहो कि जैसे आदर्श (आईना) पर घिसने का संस्कार होने से उसकी पूर्व में अदृश्य रही हुई चमक व्यक्त होती है वैसे ही किसी क्रिया से आत्मा में संस्कार होने से पूर्व में अदृश्य रहा हुआ उसका मोक्ष रूप धर्म व्यक्त होता है, तो वह ठीक नहीं है । आत्मा क्रिया का आश्रय होता है ऐसा सिद्ध ही नहीं होता । जिसमें क्रिया होती है उसमें विकार किये बिना क्रिया हो ही नहीं सकती और क्रिया द्वारा आत्मा विकार को प्राप्त होता है ऐसा मान लिया जाय तो आत्मा अनित्य हो जायगा । तथा 'अविकार्योऽयमुच्यते' (उसको अविकारी कहते हैं) इत्यादि वाक्यों को बाध पहुंचेगा, जो इष्ट

नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में कोई क्रिया नहीं संभवती। वैसे ही, अन्य पदार्थों में होने वाली क्रिया का आत्मा विषय न होने से उस क्रिया द्वारा आत्मा में संस्कार नहीं हो सकता।

यदि कहो कि देह की स्नान, आचमन यज्ञोपवीतधारण आदि क्रियाओं से आत्मा पर संस्कार होता है, ऐसा देखने में आता है. तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि, अविद्या कल्पिप देह से अभिन्न ऐसे आत्मा पर ही उस क्रिया का संस्कार पड़ता है; स्नान, आचमन आदिका देह के साथ सम्बन्ध है यह प्रसिद्ध ही है। इसलिये, देह के आश्रय से होनी वाली क्रियाओं के संस्कार देह से अभिन्न ऐसे अविद्या कल्पित आत्मा पर ही पड़ते हैं ऐसा मानना युक्त है। जैसे देह को किये हुए औषधोप-चार से उत्पन्न हुए देह के धातुओं के साम्य से देह से अभिन्न और देह के अभिमानी ऐसे आत्मा को आरोग्य रूप फल प्राप्त होता है, क्योंकि मैं नीरोग हुआ हूँ ऐसा ज्ञान उसी को होता है; इसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत धारण इत्यादि क्रियाओं से 'मैं शुद्ध हुआ हूँ संस्कृत हुआ हूँ' ऐसा ज्ञान जिसको होता है उसी पर उन क्रियाओं से संस्कार पड़ते है, क्योंकि वह देह से अभिन्न ही है। वही देह से अभिन्न आत्मा अपने को मैं' कहता हुआ वह 'मैं' इस ज्ञान का विषय तथा अन्य सब ज्ञान करने वाला होता है, वही सब क्रिया करता है और उन क्रियाओं के फल भी वही भोगता है, यह आगे की श्रुतियों से स्पष्ट होता है—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक-शीति।' [मुण्ड० ३।१।१] (उन दोनों में से एक मधुर फल खाता है। और दूसरा कुछ भी न खाते हुए देखता ही रहता है),

'आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' [काठ० १।३ ४] (देह, इन्द्रिय और मन से युक्त ऐसे आत्मा को विद्वान् भोक्ता कहते हैं)। वैसे ही, 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। [श्वें० ६।११] (वह एक देव सब भूतों में गुप्त रहा हुआ, सर्वव्यापी, सब भूतों का अंतरात्मा, क्रिया का साक्षी, सब भूतोंका आधार, सबका द्रष्टा, ज्ञाता, उपाधि रहित तथा निर्गुण) और 'सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।' [ईश० ८] (वह सर्वव्यापी, दीप्तिमान, जिसके देह, व्रण तथा नसें नहीं हैं ऐसा, तथा शुद्ध और पाप रहित है), ये दो मन्त्र दिखाते हैं कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध तथा जिसमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं किया जा सके ऐसा है, और ब्रह्म होना यही मोक्ष है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म संस्कार्य वस्तु भी नहीं है। अब मोक्ष के प्रति क्रिया का सम्बन्ध होने के लिये ऊपर कहे हुए मार्गों के (उत्पत्ति, प्राप्ति विकार और संस्कार के) अतिरिक्त अन्य मार्ग कोई भी नहीं बता सकता। इसलिए यहां पर ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी क्रिया का सम्बन्ध होना संभव नहीं है।

क्या ज्ञान मानसिक क्रिया नहीं हैं ? नहीं है। क्रिया और ज्ञान में भेद है। वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा न रखते हुए जो प्रेरणा होती है वह क्रिया है। वह पुरुष के प्रयत्न के अधीन है जैसे, 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन् [ऐत० ब्रा० ३।८।१] (जिस देवता के लिये हवि ग्रहण किया हो उस देवता का 'वषट्' ऐसा उच्चारण करते हुए मन से ध्यान करना चाहिये), 'संध्यां मनसा ध्यायन्' [ऐत० ब्रा० ३।८।१]

३

संध्या का मन से ध्यान करते हुए) इत्यादि । ध्यान वा चिन्तन यद्यपि मानसिक होता है तो भी वह पुरुष के अधीन है इसलिये उसको करना न करना या दूसरे प्रकार से करना बन सकता है। परन्तु ज्ञान प्रमाण जन्य हैं और उस प्रमाण का विषय वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, इसलिये ज्ञान का होना, न होना अथवा अन्यथा होना असंभव है। वह केवल वस्तुके अधीन होता है। इसलिये; ज्ञान मानसिक होने पर भी वह ध्यान से भिन्न है; जैसे, पुरुषो वाव गोतमाग्निः ।' [छां० ५।७।१] (हे गोतम, पुरुष अग्नि है), 'योषा वाव गोतमाग्निः ।' [छां ।८।१] (हे गोतम स्त्री अग्नि है), इन श्रुतियों में पुरुष तथा स्त्री में जो अग्नि की भावना की गई है वह यद्यपि मानसिक है तो भी वह भावना श्रुति प्रेरित होने से वह क्रिया ही है। और वह पुरुष के अधीन भी है। परन्तु प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्नि का ज्ञान होता है उसके लिये न तो श्रुति वाक्य की आवश्यकता है न वह पुरुष के अधीन है। फिर वह क्या है ? प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय जो वस्तु उसी के अधीन होने से वह ज्ञान ही है क्रिया नहीं है। ऐसा हो सब प्रमाणों के विषव जो पदार्थ हैं उनके संबंध में समझना। इसलिये नित्य सिद्ध ब्रह्म ही आत्मा है यह ज्ञान भी श्रुति वाक्य के अधीन नहीं है। इस ज्ञान के लिये यद्यपि श्रुति में उसके लक्षण पाये जाते हैं तो भी ब्रह्म (इन्द्रिय के) संबंध का विषय न होने से पत्थरपर चलाये हुए छुरेके समान वे श्रुतियां कुंठित (निरर्थक) हो जाती हैं। क्योंकि ब्रह्म रूप वस्तु न तो ग्राह्य है न त्याज्य है।

फिर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० २।४।५] (अरे आत्मा का दर्शन करना चाहिये) इत्यादि प्रेरणात्मक से दीखने वाले वाक्य हैं उनका क्या उपयोग ? मनुष्य की विषय में जो स्वभाविक प्रवृत्ति होती है उससे उसको पराङ मुख करना यही

उनका उपयोग है। अपना इष्ट हो अथवा अनिष्ट न हो, इस बुद्धि से पुरुष की जो वहिर्मुख प्रवृत्ति होती है परन्तु उससे उसकी परम पुरुषार्थ को प्राप्ति नहीं होती। ऐसे परम पुरुपार्थ की इच्छा वाले पुरुष को देहादि की जिनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है ऐसे विषयों से परांङ्मुख करके, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' [बृ० २।४।५] (अरे आत्मा का दर्शन करना चाहिये) इत्यादि श्रुति से उससे विचार का श्रोत प्रत्यगात्मा की ओर मोड़ते है। इस प्रकार आत्मतत्त्व के शोध में प्रवृत्त हुए मनुष्य के लिये जो त्याज्य और ग्राह्य नहीं है ऐसे आत्मतत्त्व का श्रुतिने उपदेश किया है—'इदं सर्वयदमात्मा' [बृ० २।४।६] (यह जो कुछ है सब आत्मा है) 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत केन कं विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।' [बृ० ४।५।१५] (परन्तु जहाँ इसको सब आत्मरूप ही हुआ है वहां वह किस से किस को देखे, किस से किस को जाने? जो जानने वाला है उसको किससे जाना जाय?) 'अयमात्मा ब्रह्म।' [बृ० २।५।१९] (यह आत्मा ब्रह्म है)। अब आत्मज्ञान में कुछ करना नहीं पड़ता, यही वात मुख्य होने से उस ज्ञान से किसी का त्याग या ग्रहण नहीं होता यह ठीक ही है। परन्तु वह हमें ऐसा ही मान्य है इतना ही नहीं तो यह हमारा भूषण है क्योंकि आत्मा ब्रह्म हैं ऐसा ज्ञान होने पर हमारा सब कर्त्तव्य समाप्त होकर हम कृतकृत्य हो जाते हैं। श्रुति यही कहती है,—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' [बृ० ४।४।१२] (जो पुरुष स्वयं आत्मा है ऐसा जानता है वह किसकी इच्छा के लिये, किसके तृप्ति के लिये शरीर को कष्ट दे); स्मृति भी यही कहती है,—'एतद्बुद्ध्वा

बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।' [भग० गी० १५।२०] (हे अर्जुन, यह जान कर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है) इसलिये ज्ञानविधि के विषयरूप से शास्त्र में ब्रह्म का कथन नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ।

कोई कहते हैं कि प्रवृत्ति विधि अथवा निवृत्ति विधि अथवा इनके अंगभूत रूप, इनके अतिरिक्त केवल वस्तु का प्रतिपादन करनेवाला वेद का कोई भी भाग नहीं है। उनका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उपनिषदों से जाना हुआ पुरुष किसी के अंगभूत नहीं होता। उपनिषदोंसे जाना हुआ जो असंसारी ब्रह्म-रूप तथा उत्पाद्य आदि चार धर्मों से युक्त द्रव्यों से भिन्न और जो अपने ही प्रकरणमें वर्णित है और इसलिये जो अन्य किसी अंगभूत है ऐसा नहीं माना जाता, ऐसे उस पुरुष के विषय में 'वह नहीं है' अथवा 'वह जाना नहीं जाता' ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि श्रुति में,—'स एव नेतिनेत्यात्मा ।' [बृह० ३।६।२६] (यह नहीं यह नहीं, ऐसा यह आत्मा है) इस प्रकार पुरुष के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है और आत्मा नहीं है ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि, जो निराकरण कर्ता है वही आत्मा है।

शंका:—'मैं' इस ज्ञान का आत्मा विषय होने से वह उपनिषदों से जाना जाता है ऐसा कहना ठीक नहीं है।

समाधान:—('मैं' इस ज्ञान का विषय जो जीव) उसका भी साक्षी होने से (आत्मा 'मैं' इस ज्ञानका विषय है) इसका खंडन होता है। 'मैं' इस ज्ञानका विषय और कर्ता जो जीव है उससे भिन्न, उसका साक्षी, सब भूतों में रहने वाला, सबको समान, एक, कूटस्थ, नित्य और सबका आत्मा ऐसे पुरुष का

ज्ञान कर्मकाण्ड से अथवा तर्क से किसी को नहीं हुआ। इसलिये उसका निषेध करना अथवा उसको विधि के अंगभूत मानना बन नहीं सकता। सबका आत्मा होने से वह त्याज्य भी नहीं है और ग्राह्य भी नहीं है। पुरुष को छोड़ कर अन्य सब विकारी पदार्थ नाशवान हैं परन्तु पुरुष के नाश का कोई हेतु न होने से वह अविनाशी है। उसके विकार के लिये कोई हेतु न होने से वह कूटस्थ नित्य है और इसीलिये वह नित्य, शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला है। इसलिये 'पुरुषान्नपरं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः।' [काठ० १।३।११] (पुरुष से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है वही अन्तिम वस्तु है, वही श्रेष्ठ गति है), ऐसा श्रुति ने कहा है, वह ठीक ही है। वैसे ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।' [बृ० ३।९।२६] (उस उपनिषत् से जानने योग्य पुरुष के सम्बन्ध में मैं पूछता हूँ) इस श्रुति में 'औपनिषत्' यह विशेषण पुरुष के लिये लगाया गया है वह भी उपनिषदों में प्रधानता से पुरुष का ही वर्णन है ऐसा मानने हो से युक्त होता है। इसलिये वेद का कोई भी भाग सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं करता ऐसा कहना केवल साहस है।

शास्त्रों का तात्पर्य जानने वालों के जो वचन दिये हैं; जैसे कि 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्।' [शा० भा० १।१।१] इत्यादि इन वाक्यों का धर्म-विचार विषय होने से ये वचन विधि निषेध मय शास्त्र से अभिप्राय रखते हैं ऐसा समझना चाहिये। दूसरे, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।' [जै० १।२।१] (कर्मों का प्रतिपादन करना यही वेद वाक्यों का उद्देश होने से जिनका यह उद्देश नहीं है वे निरर्थक हैं) यह एकान्तिक यानी सार्वभौम नियम है ऐसा मानें तो सिद्ध वस्तु का जो वेदों में उपदेश है वह निरर्थक हो जायगा। प्रवृत्ति और

निवृत्ति विधि के साथ यदि सिद्ध वस्तु का भी, वह क्रिया के लिये उपयोगी है इस हेतु से, शास्त्र उपदेश करते हैं, फिर नित्य कूटस्थ सिद्ध वस्तु का उपदेश शास्त्र क्यों न करेंगे ? सिद्ध वस्तु का उपदेश करने से ही वह क्रिया नहीं बन जाती। वह क्रिया न बने तो भी वह क्रिया में उपयोगी होने से उसका उपदेश उस क्रिया के निमित्त ही होता है, ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है। सिद्ध वस्तु क्रिया के लिये उपयोगी है इसलिये उसका उपदेश किया है ऐसा कहो, तो भी जिसमें क्रिया कराने की सामर्थ्य है ऐसी सिद्ध वस्तु का ही उपदेश है यह मानना पड़ेगा। क्रिया के लिये उपयोगी होना यह उस उपदेश का प्रयोजन है। परन्तु इतने से वस्तु का उपदेश ही नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता।

यदि कहो कि वस्तु का उपदेश है, ऐसा मानने से लाभ क्या ? तो कहते हैं—अज्ञात आत्म वस्तु का उपदेश वैसा ही होना चाहिये। उसको जानने से संसार के हेतु रूप मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है, यह उसका फल है। इससे क्रिया में उपयोगी वस्तु के उपदेश के समान आत्म वस्तु का उपदेश भी सफल है। 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये' इस प्रकार की निवृत्ति का उपदेश है वह न तो क्रिया है, न क्रिया साधन ही है। यदि क्रिया में उपयोगी न होने वाला उपदेश निरर्थक है। ऐसा ही माना जाय तो 'ब्राह्मण को न मारना चाहिये' इत्यादि निवृत्ति का उपदेश निरर्थक हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। 'हन्' (मारना) इस धातु के अर्थ के साथ नकार लगाकर मारने के सम्बन्ध में उदासीन रहना, इससे भिन्न किसी क्रिया का अर्थ उससे सिद्ध हो नहीं सकता; क्योंकि जिस क्रिया के साथ नकार का सम्बन्ध हो उस क्रिया के

अभाव ही का बोध करना यह नकार का स्वभाव है और इस अभाव का ज्ञान ही उदासीनता का हेतु है। लकड़ी जल जाने पर जिस प्रकार अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है, वैसे ही क्रिया के अभाव का ज्ञान क्रिया करने की इच्छा नष्ट होने पर अपने आप नष्ट हो जाता है। इसलिये प्रजापति व्रत (ब्रह्मचारी सूर्य का दर्शन नहीं करते इसी को प्रजापति व्रत कहते हैं) आदि को छोड़ कर ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये इत्यादि स्थान पर उन उन स्थानों पर दी हुई क्रियाओं की निवृत्ति से सूचित उदासीनता ही उन वाक्यों से कहे हुए निषेध का अर्थ है ऐसा हम मानते हैं। इसलिये, वेद का कुछ भाग निरर्थक है ऐसा जो (जै० सू० १।२।१ में) कहा है वह पुरुषार्थ के लिये निरुपयोगी जो सिद्ध वस्तु के वर्णन हैं उनके सम्बन्ध में कहा है ऐसा समझना चाहिये। जो पहिले कहा था कि कार्य विधि में अन्तर्भाव न हो ऐसा केवल वस्तु का वर्णन 'पृथ्वी पर सात द्वीप हैं', ऐसे कथन के समान निरर्थक हो जायगा; उसका खंडन हम कर चुके हैं। 'यह रस्सी है सर्प नहीं है' ऐसा केवल वस्तु के कथन करने का भी कुछ फल होता है यह देखने में आता है। ब्रह्म का श्रवण करने के पश्चात् भी पहिले के समान ही मनुष्य संसारी ही रहता है ऐसा देखने में आता है इसलिये 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' इस ज्ञान के समान वेदान्त वाक्य सार्थक नहीं है, ऐसा जो कहा है उसका उत्तर यह है कि जिसको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हुआ है वह पहिले के समान ही संसारी है ऐसा नहीं दिखा सकते। क्योंकि वेद प्रमाण से उत्पन्न हुए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ज्ञान से संसारित्व का विरोध है। शरीर आदि में अहंभाव रखने वाले मनुष्य को दुःख भय आदि होते हैं ऐसा देखने में

आता है इसलिये जिसको वेद प्रमाण से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होकर जिसका अभिमान दूर हुआ है तो भी मिथ्या ज्ञान से होने वाले दुःख भय आदि उसको फिर होते हैं। ऐसा मान नहीं सकते। जैसे, जिसके पास धन है और जिसको उस धन के लिये 'मेरा है' ऐसा अभिमान है ऐसे गृहस्थ को उस धन के चोरी हो जाने से दुःख होता है ऐसा देखने में आता है। परन्तु वह सन्यासी हो जाय तो फिर उसका उस धन के प्रति का अभिमान दूर हुआ होने से उसकी चोरी होजाय और उसे दुःख हो ऐसा अनुभव नहीं है। इसी प्रकार जिसने कान में कुन्डल पहने हैं उसको कुन्डल पहनने के अभिमान से सुख होता है परन्तु कुंडल उतार लेने पर उस का उस विषय का अभिमान न रहने से पश्चात् उसको वह सुख प्राप्त नहीं होता। यही बात आगे की श्रुति में कही है—'अशरीरं वाव संन्तं न प्रियप्रिये स्पृशतः।' [छां० ८।१२।१] (जिसको शरीर नहीं है उसको सुख दुःख स्पर्श नहीं करते)। यदि कहो कि शरीर छूटने पर अशरीरत्व की प्राप्ति होगी जीतेजी नहीं, तो वह भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि; आत्मा को सशरीरत्व मिथ्या ज्ञान से प्राप्त होता है। 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार मिथ्याज्ञान आत्मा को न हो तो अन्य किसी कारण से आत्मा को सशरीरत्व प्राप्त होता है यह मान नहीं सकते। और अशरीरत्व नित्य है क्योंकि वह किसी कर्म से उत्पन्न नहीं होता ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। यदि कहो कि आत्मा के किये हुए धर्म और अधर्म से उसको सशरीरत्व प्राप्त होता है तो वैसा नहीं है। क्योंकि, आत्मा का शरीर के साथ संबंध है यही बात सिद्ध नहीं होती। इसलिये आत्मा के किये हुए धर्म और अधर्म से आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है और शरीर के साथ सम्बन्ध होने से वह धर्म और अधर्म

करता है ऐसा इतरेतराश्रय दोष प्राप्त होगा। इन दोनों का परस्पर कार्य कारण भाव अनादि है ऐसा मानना भी केवल अन्धपरपंरा है। दूसरे, आत्मा का क्रिया से सम्वन्ध न होने से उसमें कर्तृत्व ही नहीं संभवता। यदि कहो कि राजा आदि लोगों को उनके सांनिध्य ही से कर्तृत्व की प्राप्ति होती है ऐसा देखने में आता है तो वैसा नहीं है। राजा आदि को कर्तृत्व प्राप्त होता है वह धन आदि देकर संपादन किये हुए सेवकों से प्राप्त होता है। परन्तु राजा और सेवक इन में स्वामी सेवक भाव रूप सम्वन्ध होने के लिये 'धन देना' आदि कारण है। इस प्रकार आत्मा और शरीर आदि में स्वामीं सेवक भाव सम्वन्ध होने के लिये किसी कारण की कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु आत्मा और शरीर इनका सम्बन्ध होने के लिये मिथ्याभिमान कारण है यह प्रत्यक्ष है। इससे आत्मा को यजमानत्व किस प्रकार प्राप्त होता है उसका भी व्याख्यान हुआ।

कोई कहते हैं कि देह से भिन्न ऐसे आत्मा में जो देह का अभिमान होता है वह मिथ्या नहीं है, परंतु गौण है। यह कहना ठीक नहीं है। जिन दो पदार्थों के भेदका ज्ञान होता है उनके सम्वन्ध में गौण और मुख्य ऐसे दो शब्दों का प्रयोग होता है यह प्रसिद्ध है। जैसे गरदन पर बाल हों ऐसे विशिष्ट आकृति में अन्वय व्यतिरेक से 'सिंह' ऐसा ज्ञान होने वाला पदार्थ प्रसिद्ध होता है तथा उससे भिन्न और उसी के शौर्य क्रूरता आदि सामान्य गुणों से युक्त पुरुष प्रसिद्ध होता है, तब ऐसे पुरुष में 'यह सिंह है' ऐसा जो ज्ञान होता है वह तथा सिंह शब्द का प्रयोग गौण है। वस्तु भेद प्रतीत न होने पर ऐसा नहीं कह सकते। परन्तु उसकी अथवा उस शब्द की अन्यत्र प्रतीत अथवा प्रयोग गौण नहीं कहा जायगा; वह भ्रान्तिजन्य

ही कहा जायगा। जैसे अल्प अन्धकार में 'यह खम्भा है' ऐसा ज्ञान न होकर उस स्थान में पुरुष बुद्धि और पुरुष शब्द का प्रयोग होता है, अथवा सोपी में यह रूपा है ऐसा अकस्मात् निश्चय हो जाता है, जिस प्रकार वह बुद्धि और उस शब्द का प्रयोग होता है उसी प्रकार देहादि संघात् में प्रधान रूप से 'मैं' इस प्रकार का प्रत्यय और 'मैं' शब्द का प्रयोग आत्मा और अनात्मा का विवेक न होने से उत्पन्न होता है, उनको गौण किस प्रकार कह सकते है ? आत्मा और अनात्मा का विवेक जानने वाले पंडितों को भी साधारण गडरिये के समान ही, यह बुद्धि होती है और वे इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिये देह से आत्मा भिन्न है ऐसा मानने वालों में भी देहादि में 'मैं' ऐसी जो बुद्धि होती है वह मिथ्या ही है, गौण नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुआ होने से ज्ञानी को अशरीरत्व प्राप्त होता है। ब्रह्म ज्ञानी के संबंध में श्रुति ऐसा ही कहती है—'तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथ अयमशरीरोऽमृतः प्राणों ब्रह्मं व तेज एव।' [बृह० ४।४।७] (जिस प्रकार सर्प की निकली हुई केंचुली जैसे विल में मरी हुई पड़ी रहती है वैसे ही यह शरीर पड़ा रहता है; परन्तु यह अशरीर है, अमृत है प्राण, ब्रह्म तथा तेज है) स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमनाइव सप्राणोऽप्राण इव (चक्षु सहित परंतु चक्षु रहित के समान, कर्ण सहित परन्तु कर्ण रहित के समान, वाणी सहित परन्तु वाणी रहित के समान, मन सहित परंतु मन रहित के समान, प्राण सहित परंतु प्राण रहित के समान)। स्मृति भी 'स्थित प्रज्ञस्य का भाषा' [भग० गी० २। ५४] (स्थित प्रज्ञ की भाषा कैसी होती है) इत्यादि

से स्थित प्रज्ञ के लक्षण कहते हुए ज्ञानी का किसी प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध नहीं होता यह दिखाती है। इसलिये जिसने 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा बोध कर लिया है वह पूर्ववत् संसारी नहीं होता और यदि उसका पूर्ववत् संसारित्व बना रहे तो 'उसको वह ब्रह्म ही है' ऐसा बोध ही नहीं हुआ ऐसा समझना चाहिये। इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है।

जो (पूर्वपक्ष में) कहा था कि श्रवण के पश्चात् मनन और निदिध्यासन करने का विधान होने से ब्रह्म विधिकर्म का अंग है, वह स्वरूप पर्यवसायी यानी स्वरूप प्राप्ति रूप नहीं है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि मनन निदिध्यासन ज्ञान के लिये है। यदि जाने हुए ब्रह्म का अन्यत्र कहीं पर विनियोग किया जाता तब वह कर्म का अँग भूत बन सकता परन्तु वैसा नहीं होता। श्रवण समान ही मनन और निदिध्यासन ज्ञान ही के हेतु हैं। इसलिये ज्ञान रूप कर्म का ब्रह्म एक अंग होने से वह शास्त्र-प्रमाण हो, यह नहीं संभवता ब्रह्म स्वतंत्र रूप से शास्त्र-प्रमाण है ऐसा उपनिषदों के वाक्यों के समन्वय से सिद्ध होता है। ऐसा होने ही से 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रकार उसके विषयक एक स्वतन्त्र शास्त्र का आरम्भ करते हैं। यदि यह धर्मशास्त्र ही के अंतर्भूत होता तो उसका 'अथातः परिशिष्ट धर्म जिज्ञासा' (इसलिये अवशिष्ट धर्म की जिज्ञासा) इस प्रकार जैसे, 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' [जै० ४।१।१] (अब इसलिये यज्ञार्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा) इस सूत्र में किया है वैसे आरम्भ किया होता। परन्तु (धर्म शास्त्र में) ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के ज्ञान की प्रतिज्ञा नहीं है इसलिये उसके लिये 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रकार नवीन शास्त्र का आरम्भ युक्त है। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने

तक ही सब विधि हैं और सब अन्य प्रमाण हैं। हेय उपादेय रहित अद्वैत आत्म तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर उस अवस्था में जिनके जिनके लिये न कोई विषय है न प्रमाता ऐसे प्रमाण प्रमाण ही नहीं रह सकते। और कहते भी हैं कि—

गौण मिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादि बाधनात्।
सद्ब्रह्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्म विज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्म दोषादि वर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥

('मैं पारमार्थिक ब्रह्म स्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर पुत्र, देह आदि का बाध होकर गौण और मुख्य ऐसा दोनों प्रकार का अभिमान जब नष्ट हो जाता है। तब कार्य किस प्रकार होगा ? जिस आत्मा का ज्ञान करना है उस आत्मा का ज्ञान होने के पूर्व आत्मा प्रमाता बन सकता है। परन्तु प्रमाता के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वही पाप आदि दोषों से रहित (परमात्म रूप) होता है। आत्म साक्षात्कार के पूर्व देह ही आत्मा है यह जिस प्रकार सत्य माना जाता है वैसे ही आत्म साक्षात्कार तक लौकिक प्रमाण सत्य हैं)॥ इति चतुः सूची समाप्त॥

———

५ ईक्षत्यधिकरण। सूत्र ५–११

इस प्रकार आत्मा ब्रह्म हैं ऐसा ज्ञान कराना जिसका प्रयोजन है तथा ब्रह्मात्मत्व में ही जिनका तात्पर्य है ऐसे वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म का कार्य के साथ सम्बन्ध न रखते हुए भी ब्रह्म के प्रतिपादन में पर्यवसान है ऐसा कहा।

"ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश का कारण है" ऐसा श्रुति में कहा है। सांख्य आदि शास्त्र तो परिनिष्ठित वस्तु (ब्रह्म) अन्य प्रमाणों से ही जानी जाती है ऐसा मानते हैं और प्रधानादि अन्य कारणों का अनुमान करके उनके सहारे से ही वेदान्त वाक्यों का अर्थ लगाते हैं। सब वेदान्त वाक्य, जिनका विषय सृष्टि है, उनमें अनुमान द्वारा ही कार्य से कारण के लक्षण बताने की चेष्टा की गई है। प्रधान और पुरुष का संयोग नित्य अनुमान करने के योग्य है ऐसा सांख्य के अनुयायी मानते हैं कणाद के अनुयायी उन्हीं वाक्यों से ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है और अणु समवाय कारण है। इसी प्रकार अन्य तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभास का अवलम्बन लेते हुए पूर्व पक्षी बन कर खड़े हो जाते हैं। उनमें पद, वाक्य और प्रमाण के जानने वाले आचार्यों ने वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन ब्रह्म का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये है, ऐसा दिखलाने के लिये वाक्याभास और युक्त्याभास के ज्ञान को पूर्व पक्ष करके उसका निराकरण (खण्डन) किया है।

उनमें सांख्य मतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि तीन गुण वाला अचेतन प्रधान जगत का कारण है और कहते हैं कि तू जो ऐसा कहता है कि वेदान्त वाक्य सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् को जगत् का कारण बताते हैं तो वे वाक्य इस पक्ष में भी लगाये जा सकते हैं कि प्रधान जगत् का कारण है। क्योंकि, सर्व शक्तिमत्त्व प्रधान के विकारों को भी हो सकता है और इसी प्रकार सर्वज्ञता भी हो सकती है। सर्वज्ञता किस प्रकार हो सकती है, ऐसा यदि प्रश्न करे तो सुन—जिसको तू ज्ञान मानता है वह सत्त्व का धर्म है क्योंकि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' [गीता १४।१७]

(सत्त्वसे ज्ञान उत्पन्न होता है) इस स्मृतिसे यह सिद्ध होता है और उस सत्त्व के धर्म रूप ज्ञानसे युक्त शरीर और इन्द्रिय वाले योगी प्रसिद्ध हैं। योगी अत्यन्त शुद्ध सत्त्व होने से सर्वज्ञ होते हैं यह वात प्रसिद्ध है; और कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) रहित, ज्ञान स्वरूप केवल पुरुष में वह सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ है, ऐसी कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु प्रधान त्रिगुण होने से सर्व ज्ञान का कारणभूत सत्त्व प्रधानावस्था में भी होता है इसलिये अचेतन होने पर भी प्रधान में ही सर्वज्ञत्व का वेदान्त वाक्यों में आरोप किया है। यदि निस्सन्देह ब्रह्मको ही सर्वज्ञ मानो तो सर्व ज्ञान शक्ति वाला होने से ही उसकी सर्वज्ञता माननी पड़ेगी। परंतु ब्रह्म नित्य सर्व विषयों का ज्ञान नहीं रखता। ज्ञान जो नित्य हो तो ज्ञान क्रिया में ब्रह्मकी स्वतन्त्रता न्यून होवेगी और जो ज्ञान अनित्य हो तो ज्ञान क्रिया न रहने से ब्रह्म भी न रहेगा। इस अवस्थामें भी सर्व ज्ञान शक्ति वाला होने से ही उसकी सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। तू उत्पत्तिसे पूर्व 'सर्व कारकरहित ब्रह्म है' ऐसा मानता है, परन्तु ज्ञान के साधन— शरीर. इन्द्रिय आदि न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति किसी के मत में भी युक्त नहीं है और अनेक आत्मा वाले प्रधान के परिणाम का सम्भव होने से मृतिका आदि के समान इसका कारणपना हो सकता है परन्तु एकात्मक ब्रह्म का कारणपना नहीं हो सकता। इस पूर्व पक्ष के खण्डन करने को पांचवें सूत्र का आरम्भ होता है।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

अशब्दम् शब्द से प्रदिपादन न करने योग्य (प्रधान) न (जगत् का कारण) नहीं है ईक्षतेः ईक्षणाका निर्देश होने से।

सांख्य ने जिस प्रकार अचेतन प्रधान को जगत् का कारण माना है वैसा वेदान्त में नहीं मान सकते; क्योंकि उसके लिये वेद प्रमाण नहीं। सो कैसे? ईक्षतिसे, अर्थात् श्रुति में कारण को ईक्षण करने वाला कहा है इसलिए। सो कैसे? श्रुति स्पष्ट कहती हैं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम्' [छा० ६।२।१] (हे प्रिय दर्शन, उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् अस्तित्व मात्र यानी नामरूप आदिसे रहित—केवल सत्तामात्र था, एक ही द्वितीय रहित था) इस प्रकार आरंभ करके फिर श्रुति यह कहती है 'तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्' [छां० ६।२।३] (उस सत् स्वरूप ने, ऐसी इच्छा की कि मैं वहुत हो जाऊँ, वहुत उत्पन्न करूं और उसने तेज उत्पन्न किया) इन श्रुतियों में 'यह' शब्द से वाच्य नाम रूप से प्रगट हुए जगत् का उत्पत्ति से पहले सत् स्वरूप से निश्चय करके वह ही प्रस्तुत (जिसका विषय चल रहा है) सत् नाम वाला (ब्रह्म) तेज आदि को ईक्षण पूर्वक उत्पन्न करने वाला है, ऐसा दिखलाया है। इसी प्रकार दूसरे स्थल पर 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।' [ऐत० आर० २।४।१।२] (निश्चय आगे वह एक ही आत्मा था, दूसरा कोई भी न था, उसने ईक्षण की कि लोकों को उत्पन्न करूँ, उसने इन लोकों को उत्पन्न किया) इस प्रकार सृष्टि ईक्षण पूर्वक ही वताई है। कहीं पर सोलह कला वाले पुरुष को विषय करके श्रुति कहती है 'स ईक्षां चक्रे' 'स प्राणमसृजत' [प्रश्न० ६।३ और ६।४] (उसने ईक्षण किया उसने प्राण उत्पन्न किया)। यजति, के समान 'ईक्षति' से धातु के अर्थ का कहना यहां पर इच्छित है धातु कहना इच्छित नहीं है। इसलिये 'यः सर्वज्ञः सर्व विद्यस्य ज्ञानमयं

तपः तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।' [मुण्ड० १।१।९।] (जो सर्वज्ञ और सर्व वेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है उससे यह ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है) यह वाक्य और सर्वज्ञ ईश्वर को जगत् का कारण प्रतिपादन करने वाले दूसरे वाक्य उदाहरण के लिये मिलते हैं। अत्र सत्त्व के धर्म रूप ज्ञान से प्रधान को जो सर्वज्ञ कहा है वह ठीक नहीं है; क्योंकि वस्तुतः प्रधान अवस्था में गुणों की समता (समान स्थिति या अवस्था) होने से सत्त्व का धर्म ज्ञान सम्भव नहीं है। और जो यह कहा है कि सर्व ज्ञान की शक्ति होने से प्रधान सर्वज्ञ है यह भी ठीक नहो है, क्योंकि जो गुणों की समता होने से सत्त्व के सहारे रही हुई ज्ञान शक्ति के आधार से प्रधान सर्वज्ञ कहा जाय तो ठीक हो, परन्तु फिर रजोगुण और तमोगुण के सहारे ज्ञान रोकने वाली शक्ति के आधार से प्रधान अल्पज्ञ भी कहलावेगा। साक्षी रहित सत्त्व वृत्ति जानती नहीं और अभिधान (ज्ञान) नहीं कराती; और अचेतन प्रधान में साक्षित्व है नहीं, इसलिये 'प्रधान सर्वज्ञ है' यह कहना ठीक नहीं है। योगियों को तो चेतनता के कारण सत्त्व के उत्कर्ष (श्रेष्ठता) से उत्पन्न हुआ सर्वज्ञत्व ठीक है इसलिये यह दृष्टान्त युक्त नहीं है। जैसे लोहे के गोले की दहन शक्ति अग्नि के कारण है वैसे ही प्रधान की ईक्षण शक्ति साक्षी के कारण है—यदि ऐसी कल्पना की जाय तो ऐसा करने से प्रधान की ईक्षण शक्ति का जो निमित्त है वही सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण हैं ऐसा प्राप्त होने से भी यह ठीक है। परन्तु ब्रह्म का मुख्य सर्वज्ञपना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म की ज्ञान क्रिया नित्य होने के कारण ज्ञान क्रिया पर उसकी स्वतन्त्रता असम्भव है. यह जो कहा है, उसके उत्तर में यह कहा जाता है प्रथम

तुमसे यह पूछना चाहिये कि ज्ञान क्रिया नित्य होने के कारण सर्वज्ञता की किस प्रकार से हानि होती है। सर्व विषय को प्रकाश करने योग्य, जिसका ज्ञान नित्य है वह असर्वज्ञ है यह कहना विरुद्ध है। यदि ज्ञान को अनित्य मानो तो कभी न जानने से सर्वज्ञता नहीं होगी और ज्ञान को नित्य मानने में यह दोष नहीं है। यदि कहो कि ज्ञान को नित्य मानने में ज्ञान के विषय में जो स्वतन्त्रता कही है वह नहीं होती तो वह ठीक नहीं है। सूर्य की उष्णता और प्रकाश नित्य है तो भी 'जलाता है' 'प्रकाशता है' ऐसे स्वतन्त्रता का कहना देखने में आता है परन्तु यदि कहो कि दाह्य (जलाने योग्य) और प्रकाश्य (प्रकाश करने योग्य) पदार्थ के साथ सूर्य का संयोग होने पर ऐसा कह सकते हैं कि 'जलाता है', 'प्रकाशता है', परन्तु उत्पत्ति से पहले ब्रह्म का ज्ञान कर्म के साथ संयोग है नहीं इसलिये यह दृष्टान्त विषम है तो वह ठीक नहीं है। कर्म न हो तो भी 'सूर्य प्रकाशता है' ऐसे कर्ता रूप से कहना देखने में आता है इसी प्रकार ज्ञान का कर्म न होय तो भी 'उसने ईक्षण दृष्टि किया' ऐसे ब्रह्म को कर्ता रूप से कहना योग्य है इसलिये दृष्टान्त विषम नहीं है। कर्म की अपेक्षा से तो ब्रह्म में ईक्षण प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां विशेष युक्त हैं; परन्तु वह कर्म क्या है कि जो उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञान का विषय होता है? जो ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा कहने में न आवे ऐसे, प्रगट न हुए परन्तु प्रगट करने को इच्छित नाम और रूप। वस्तुतः जिसके प्रसाद से योगियों को भी भूत और भविष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा योग शास्त्र जानने वाले कहते हैं, उस नित्य सिद्ध ईश्वर

को सृष्टि, स्थिति और नाश का नित्य ज्ञान है इसमें तो कहना ही क्या है ? और यह जो कहा है कि उत्पत्ति से पहले शरीर आदि के सम्बन्ध न होने से ब्रह्म की ईक्षण शक्ति का कथन युक्त नहीं है यह शंका भी नहीं हो सकती; क्योंकि सूर्य के प्रकाश के समान ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप की नित्यता में ज्ञान के साधन की अपेक्षा युक्त नहीं है। अविद्या आदि वाले संसारी जीवों को ज्ञानोत्पत्ति के लिये शरीर आदि की अपेक्षा हो सकती है परन्तु ज्ञान के रोकने वाले कारणों से रहित ईश्वर की ज्ञानोत्पत्ति के लिये शरीरादि की अपेक्षा नहीं है। नीचे लिखे मंत्रों से विदित होता है कि ईश्वर को शरीरादिक की अपेक्षा नहीं है और उसका ज्ञान आवरण रहित है:—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' ॥ [श्वेता० ६।८] (उसके कार्य—शरीर और करण—नेत्रादि इन्द्रियों का समूह नहीं है, उसके समान या उससे अधिक कोई नहीं दीखता, उसकी शक्ति यानी माया परा और विविध सुनी जाती है, तथा उसकी ज्ञान रूप बल से क्रिया—उत्पत्ति स्वाभाविक है।) और अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ [श्वे. ३।१९] (उसके हाथ नहीं है तो भी वह सबको ग्रहण करता है, पैर नहीं है तो भी दूर जाने वाला है, नेत्र रहित है तो भी वह देखता है और कर्ण रहित है तो भी वह सुनता है। वह जानने योग्य वस्तु को जानता है परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसको सबका कारण होने से] प्रथम, पुरुष, पूर्ण और महान् कहते हैं।)

शंका:—तेरे मत में तो ज्ञान—प्रतिबन्ध के कारण वाला संसारी ईश्वर से भिन्न नहीं है; क्योंकि 'नान्योऽतोस्ति 'द्रष्टा नान्योऽतोस्ति विज्ञाता' [ब्रह० ३।७।२३] (इसके सिवाय दूसरा देखने वाला नहीं है और इसके सिवाय दूसरा जानने वाला नहीं है।) यह श्रुति है फिर क्यों कहता है कि संसारी की ज्ञानोत्पत्ति के लिये शरीरादि की अपेक्षा है, ईश्वर की ज्ञानोत्पत्ति के लिये शरीर आदि की अपेक्षा नहीं है ?

उत्तर:—ईश्वर से भिन्न संसारी नहीं है यह सत्य है तो भी जैसे घडा, कमंडल, गुफा इत्यादि उपाधियों के साथ आकाश का सम्बंध इष्ट है, वैसे ही देहादि संघात रूप उपाधियों के साथ (संसारी का) सम्बंध इष्ट ही हैं; और आकाश से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) ऐसे घटाकाश, कमंडलाकाश, इत्यादि रूप से किया हुआ शब्द व्यवहार और अर्थ व्यवहार लोक में देखा जाता है। तथा उससे उत्पन्न हुआ आकाश के प्रति घटाकाश आदि भेद रूप मिथ्या ज्ञान देखा जाता है। वैसे ही, यहां भी देहादि संघात रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध के अविवेक से उत्पन्न हुई ईश्वर और संसारी की भेद रूप मिथ्या बुद्धि है। इसी प्रकार ऐसे आत्मा का, जो वस्तुत: अतिरिक्त ही है, देहादि संघातरूप अनात्म पदार्थों के विषे आत्मपने का अभिनिवेश (अध्यास) पूर्व पूर्व मिथ्या बुद्धि से दीखता है, और इस प्रकार संसारित्व के होने से संसारी की ईक्षण (विचार) शक्ति के लिये देहादि की अपेक्षा युक्त है।

अनेकात्मक होने से मिट्टी आदि के समान प्रधान का कारणपना युक्त है, ब्रह्म का कारणपना युक्त नहीं, ऐसा जो कहा है उसका निराकरण (खंडन) प्रधान के कारणत्व के लिये वेद का प्रमाण नहीं है ऐसा कहने से ही हुआ है। ब्रह्म के

कारणपने का निर्वाह तर्क से भी किस प्रकार हो सकता है तथा प्रधान आदि का कारणपना सम्भव नहीं है इसका 'न विलक्षणत्वादस्य' [ब्रह्म० सू० २।१।४] इत्यादि से विस्तार किया जायगा ॥ ५ ॥

पूर्व पक्षः—अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं है क्योंकि श्रुति में कारण को ईक्षण शक्ति वाला बताया है। ऐसा तुमने कहा परन्तु दूसरे प्रकार भी युक्त हो सकता है। अचेतन में भी चेतन के समान उपचार (गौण प्रयोग) देखने में आता है। जैसे नदी का किनारा गिरने को होता है उसको देख कर 'किनारा गिरना चाहता है' ऐसा कहने में आता है अर्थात् अचेतन किनारे में चेतन का उपचार (गौण प्रयोग) दिखाई देता है वैसे ही जब सृष्टि होने को होती है तब अचेतन प्रधानमें 'उसने ईक्षण किया' ऐसा चेतन का उपचार (गौण प्रयोग) होगा। जैसे लोक में कोई स्नान, भोजन करके, पिछले पहर रथमें ग्राम जाऊंगा, ऐसा विचारकर पीछे उसी नियमसे वर्तता है वैसे ही प्रधान भी महदादि रूप से नियम में प्रवृत होते हैं इसलिये उसमें चेतन कासा उपचार (गौण प्रयोग) किया जाता है। परन्तु जो तुम ऐसे कहो कि मुख्य ईक्षण शक्ति को त्याग कर औपचारिक (गौण प्रयोग वाली) ईक्षण शक्ति की किस लिये कल्पना करते हो, तो सुनोः—

'तत्तेज ऐक्षत' [छान्दो० ६।२।३] (उस तेज ने ईक्षण किया) 'ता आप ऐक्षन्त' [छान्दो० ६।२।४] उस पानी ने ईक्षण किया) इस प्रकार अचेतन, तेज और पानी में चेतन की समान उपचार देखनेमें आता है इसलिये मुख्य ईक्षण शक्तिको त्याग कर औपचारिक ईक्षण शक्ति की कल्पना करते हैं। इस कारण से

'सत् है कर्ता जिसका' ऐसा ईक्षरण भी औपचारिक है ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि जिस प्रकरण में यह कथन है उसमें बहुत स्थल पर गौण प्रयोग ही आये हैं।

इस पूर्व पक्ष पर यह सूत्र आरम्भ होता है:—

गौणश्चेन्नात्म शब्दात् ॥ ६ ॥

गौण [ईक्षति शब्द] गौण [है] चेत् [ऐसा कहो] तो आत्म शब्दात् आत्म शब्द के होने से [सत् चेतन है ऐसा सिद्ध होता है इसलिये न [इक्षति शब्द गौण] नहीं।

'सत्' इस शब्द का अर्थ अचेतन प्रधान है और जैसे अग्नि और जल में ईक्षरण शक्ति औपचारिक भाव से कथन की गई है, वैसे ही उस (अचेतन प्रधान) में भी ईक्षरण औपचारिक है ऐसा जो कहा वह असत् है। यदि कहो कि असत् है तो सुनो— आत्मा शब्द का प्रयोग होने से असत् है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छां० १०।२।१] (हे प्रियदर्शन ! उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् केवल अस्ति स्वरूप था) 'तदैक्षत्' [छन्दो० ६।२।३] (उसने ईक्षरण किया) तत्तेजोऽसृजत् [छान्दो० ६।२।३] (उस ने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार तेज, पानी, और अन्न की सृष्टि कह कर उसी प्रकृत ईक्षरण करने वाले सत् को और उन तेज, पानी, अन्न को देवता शब्द से परामर्श (विचार) करके कहा है 'सेयंदेवतैक्षत' 'हस्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।'[छन्दो०६।२] (सो उस देवता ने ईक्षरण किया—अब इन तीन देवताओं में इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके मैं नाम और रूपको प्रगट करूँ) इसमें अचेतन प्रधान को उपचार (गौण रीति) से

ईक्षण करने वाला माना जाय तो प्रकृत होने से 'सेयं देवतैक्षत' [छांदो० ६।२] (उस देवता ने चिन्तन किया) इस श्रुति में उसका ही परामर्श (विचार) है और ऐसा हो तो 'देवता' जीव के लिये 'आत्म' शब्द का प्रयोग नहीं करेगा, क्योंकि जीव वास्तविक चेतन, शरीर का अध्यक्ष और प्राण का धारण करने वाला है यह प्रसिद्ध है और धातु के अर्थ के अनुसार है। वह (जीव) अचेतन प्रधान का आत्मा किस प्रकार हो ? आत्मा तो वास्तविक स्वरूप ही है और चेतन जीव अचेतन प्रधान का स्वरूप नहीं हो सक्ता। परन्तु यदि चेतन ब्रह्म मुख्य ईक्षण करने वाला है ऐसा ग्रहण किया जाय तो उसके लिये जीव के सम्बन्ध में आत्म शब्द का प्रयोग युक्त हो। वैसे ही 'सय एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यं् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छांदो ६।८।७] (जो सत्संज्ञक कहा है वह यह अणिमा यानी अणुका भाव है यह सब जगत् उसीका स्वरूप है; वह सत्संज्ञक ही सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो वह त् है) इसमें 'वह आत्मा,' ऐसे प्रकृत, सत्संज्ञक, सूक्ष्म स्वरूप आत्मा का आत्म शब्द से उपदेश करके "हे श्वेतकेतो, वह तू है" ऐसे चेतन श्वेतकेतु को आत्म रूप उपदेश किया है। अग्नि और जल का ईक्षण तो 'किनारे की गिरने की इच्छा के समान' गौण है यह कहना ठीक है क्योंकि अग्नि और पानी विषय होने से अचेतन है। नाम और रूप के प्रगट करने आदि में उनका प्रयोग हुआ है आत्म शब्द के समान उनके मुख्य मानने में कोई कारण नहीं है और उनका (अग्नि और जल का) ईक्षण भी सत् के अधिष्ठान की अपेक्षा रखता ही है और सत् का ईक्षण तो आत्म शब्द के प्रयोग के कारण गौण नहीं है ऐसा कहा है॥ ६॥

पूर्वपक्षः--जैसे राजाके सर्व प्रयोजन सिद्ध करने वाले नौकर के विषे "भद्रसेन मेरा आत्मा है" ऐसे आत्म शब्द का प्रयोग होता है वैसे ही अचेतन प्रधान के लिये भी आत्म शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि वह आत्मा का सर्व प्रयोजन साधने वाला है। जैसे सन्धि विग्रह आदि में वर्तमान भृत्य राजा का उपकारक होता है वैसे ही आत्मा के भोग और मोक्ष करने वाला प्रधान निश्चय ही आत्मा का उपकारक है। अथवा, जैसे एक ही ज्योति शब्द का यज्ञ और अग्नि दोनों में प्रयोग होता है, वैसे ही, एक ही आत्मशब्द का चेतन और अचेतन दोनों में प्रयोग हो जायगा; क्योंकि, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा ऐसा प्रयोग देखने में आता है। इसलिये आत्म शब्द में ईक्षण मुख्य है ऐसा क्यों माना जाय ?

इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है:--

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

तन्निष्ठस्य उसमें (जगत् के कारण--सत्पदार्थ ब्रह्ममें) निष्ठा वाले को **मोक्षोपदेशात्** मोक्ष का उपदेश होने से [ब्रह्म जगत्का कारण है]।

अचेतन प्रधान आत्म शब्द का आलम्बन (आधार) नहीं हो सक्ता; क्योंकि 'वह आत्मा' ऐसे प्रकृत सूक्ष्म सत् को लेकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छांदो० ६।८।७] (हे श्वेतकेतु, वह तू है), ऐसे चेतन, मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करने वाले श्वेतकतु को तू सदात्मक है ऐसी स्थिति का उपदेश करके 'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।, [छां० ६।१४।२] (आचार्यवान् पुरुष जानता है, प्रारब्ध से मुक्त न होने तब तक ही उस आत्म निष्ठ पुरुष को विलम्ब है, मरने के

पीछे वह ब्रह्म हो जाता है ऐसे मोक्ष का उपदेश किया है। जो 'सत्' शब्द का अर्थ अचेतन प्रधान हो तो "वह तू है" इसमें मुमुक्षु, चेतन पुरुष को भी "तू अचेतन है" ऐसा ग्रहण कराने वाला शास्त्र विपरीत वादी, उलटा कहनेवाला यानी चेतन श्वेतकेतु को अचेतन बताने वाला होकर पुरुष का अनर्थ करने वाला होने से अप्रमाण होगा और निर्दोष शास्त्र को अप्रमाण समझना ठीक नहीं है। जो प्रमाण भूत शास्त्र, अज्ञानी मुमुक्षु को अचेतन अनात्म पदार्थ आत्मा है ऐसा उपदेश करे, तो अंध गोपुच्छन्याय से श्रद्धा रख कर वह पुरुष अनात्म पदार्थमें आत्म दृष्टि का परित्याग न करेगा और उससे व्यतिरिक्त आत्मा का ग्रहण नहीं करेगा; और ऐसा करने से पुरुषार्थ करने से रुक कर अनर्थ को प्राप्त हो जायगा। [अंध गोपुच्छन्याय का दृष्टान्त इस प्रकार प्रसिद्ध है:— किसी दुष्टात्मा ने एक भयानक वन में एक अंधा देखा जो अपने घर जाना चाहता था। उसको देखकर दुष्टात्मा ने कहा "हे आयुष्मान्! यहां दुःख में क्यों पड़ा हुआ है ?" उस अंध ने सुखकारक वाणी सुन कर उसे आप्त पुरुष मान कर कहा "मेरा अहो भाग्य है कि आप मुझ दीन और असमर्थ पर, जो अपने घर जाना चाहता है, दया करके बात चीत करते हैं, कृपा करके मुझे मेरे घर का मार्ग बता दीजिये।" उस दुष्ट ने धोका देने के लिये एक सांड को लाकर उसकी पूंछ अंधेको पकड़ादी और कहा "यह बैल तुझे तेरे घर पहुँचा देगा। खबरदार पुंछ मत छोड़ियो। यदि लात भी मारे तो भी मत छोड़ियो।" उस अंधे ने उसका विश्वास करके पूंछ न छोड़ी और महा कष्ट पाया। बिचारा शोक सागर में पड़ा और अपने नगर न पहुँच सका]।

इसलिये स्वर्गादि कामना वाले पुरुष को जैसे अग्निहोत्रादि योग्य साधनों का शास्त्र उपदेश करता है वैसे ही मुमुक्षु को 'स

आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छांदो० ६।१६।६।] (वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो वह तू है) इस प्रकार यथार्थ आत्मा का ही उपदेश करे यह युक्त है। ऐसा हो तो 'गरम फरसा पकड़ने (चौर्य-से) से मुक्ति होती है' इस दृष्टान्त से सत्य में बुद्धि रखने वाला पुरुष चोरी से मुक्त होता है ऐसा श्रुतिका मोक्ष का उपदेश युक्त होगा। नहीं तो सत् आत्म तत्त्व है' इस उपदेश को गौण माने तो 'अहमुक् थमस्मि' [ऐ० आर० १।२।६] (मैं प्राण हूँ) ऐसा समझने के समान यह उपदेश संकल्प मात्र होकर अनित्य फल दायक होगा और वह मोक्ष का उपदेश है ऐसा कहना युक्त न होगा, इस कारण से सूक्ष्म स्वरूप सत् के विषे आत्म शब्द गौण नहीं है।

'मेरा आत्मा भद्रसेन है' इसमें भृत्य के विषे तो आत्मा शब्द का गौणत्व युक्त है; क्योंकि स्वामी और भृत्य का भेद प्रत्यक्ष है। कोई शब्द कहीं कहीं गौण देखने में आता है इसलिये ही सब स्थानों पर श्रुति प्रतिपादित अर्थ में गौण अर्थ की कल्पना करना न्याय नहीं है; क्योंकि ऐसा करने से अविश्वास का प्रसंग आ जायगा। जैसे ज्योति शब्द यज्ञ और अग्नि के अर्थ में साधारण है वैसे आत्मा शब्द चेतन और अचेतन में साधारण है ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ करना अन्याय है। इसलिये आत्म शब्द का चेतन में ही प्रयोग है और मुख्य है और चेतत्व के आरोप से भूतात्मा, इन्द्रियात्मा ऐसे भूतादि शब्दों के विषे उसका प्रयोग होता है। आत्मा शब्द को (चेतन और अचेतन के अर्थ में) साधारण लिया जाय तो भी प्रकरण के उपपद यानी निर्णय करने वाले किसी पद के विना वह दोनों में से कौन से अर्थमें है इसका निश्चय करना अशक्य है, और यहाँ पर अचेतन अर्थ का निर्णय

करने वाला कोई कारण है नहीं, परन्तु ईक्षण वा चिन्तन करने वाला सत् प्रकृत है और चेतन श्वेतकेतु संनिहित (पास) है। अचेतन पदार्थ चेतन श्वेतकतु का आत्मा नहीं हो सकता ऐसा हमने कहा है। इसलिये, यहां पर आत्म शब्द चेतन विषयक है ऐसा निश्चय होता है। ज्योति शब्द भी लौकिक प्रयोग से अग्नि के विषे दृढ़ है परन्तु अर्थवाद से कल्पित अग्नि की समानता से यज्ञ के विषे प्रवृत्त है, इसलिये यह दृष्टान्त युक्त नहीं है। अथवा, पूर्व सूत्र में ही आत्मशब्द के विषे समस्त गौण अर्थ और साधारण अर्थ की शंका का समाधान किया ऐसा व्याख्यान करके 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' यह सूत्र प्रधान कारण को निराकरण करने का स्वतन्त्र ही हेतु है ऐसा व्याख्यान किया जाय। इसलिये अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ७ ॥

प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है इसमें अन्य हेतु कहते हैं :—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

च और हेयत्ववाचनात् निषेध के न कहने से [सत् शब्द से प्रधान का ग्रहण नहीं हो सकता]।

"जो वह आत्मा है, वह तू है" इसमें अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द वाच्य है ऐसा उपदेश किया गया हो तो उस उपदेश को सुन कर अनात्म ज्ञान से वह तन्निष्ठ (अनात्मानिष्ठ) न होय इसलिए मुख्य आत्मा में उपदेश करने की इच्छा वाले आचार्य को उस का (अनात्मा का) हेयत्व (निषेध) कहना चाहिये। जैसे अरुन्धती तारे दिखलाने की इच्छा करने वाला उसके पास से स्थूल, अमुख्य तारे को 'वह अरुन्धती है' ऐसे जताने के पीछे उसका निषेध करके अरुन्धती को ही बता देता

देता है, वैसे यह (अनात्मा प्रधान) आत्मा नहीं है ऐसा आचार्य को कहना चाहिये था परन्तु ऐसे नहीं कहा है। सन्मात्र आत्मा है ऐसा ज्ञान प्राप्त कराने में छान्दोग्य के छठे प्रपाठक की परिसमाप्ति दीखती है। 'और' शब्द लगाने का प्रयोजन सत् शब्द से प्रधान का ग्रहण न करने में प्रतिज्ञा विरोध का और एक हेतु है यह दिखलाने का है। हेयत्व वचन हो तो भी प्रतिज्ञा विरोध प्रसंग आवेगा। सच तो यह है कि कारण के जानने से सब (कार्य) का ज्ञान होता है ऐसी प्रतिज्ञा की है, क्योंकि वाक्य के उपक्रम (आरम्भ) में इस प्रकार श्रुति है:— 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ।' [छान्दो० ६ । १ । २] (हे श्वेतकेतु ! केवल आचार्य के उपदेश से समझने योग्य वस्तु तूने आचार्य से पूछी है कि जिससे न सुनी हुई वस्तु सुनी हो जाय, अतर्कित वस्तु तर्कित हो जाय और अनिश्चित वस्तु निश्चित हो जाय) 'कथंनु भगवः स आदेशो भवति।' [छान्दो० ६ । १ । ३] (हे भगवन् ! वह उपदेश किस प्रकार होता है ?) 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातंस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' छान्दो० [६ । १ । ४] (हे प्रिय दर्शन ! जिस प्रकार एक मिट्टी के पिंड के जानने से मिट्टी के सब विकारों का ज्ञान हो जाता है, नाम रूप विकार वाणी के ही आलंबन से हैं, मिट्टी यह ही सत्य है) 'एवं सोम्य स आदेशो भवति ।' [छान्दो० ६ । १ । ६] (हे प्रिय दर्शन ! इस प्रकार यह उपदेश है)। यदि प्रधान सत् शब्द वाच्य हो, तो इस भोग्य वर्ग के कारण (प्रधान) हेय वा अहेय है ऐसा ज्ञान होने से भोक्ता वर्ग (पुरुष-आत्मा) का ज्ञान नहीं होता क्योंकि भोक्ता वर्ग प्रधान का विकार नहीं है। इसलिये प्रधान् सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ८ ॥

प्रधान जगत् का कारण नहीं है इस का हेतु यह भी है :—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

स्वाप्ययात् [सुषुप्ति काल में जीव के] अपने लय होने से [सत् शब्द से प्रधान का ग्रहण नहीं हो सकता]।

ब्रह्म सत् शब्द वाच्य जो (जगत् का कारण है) इसके सम्बन्ध में यह श्रुति है—'यत्रैत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्यतदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतौ भवति ।' [छान्दो० ६।८।१] (जब सुषुप्ति में पुरुष को 'सोता है' ऐसा कहते हैं तब हे सोम्य! वह उस सत् के साथ एक हो जाता है, इसलिये इसको 'सोता है' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह अपने में लय को प्राप्त होता है) यह श्रुति पुरुष 'सोता है' इस लोक प्रसिद्ध उक्ति का व्याख्यान करती-अर्थ समझाती है। स्व शब्द से यहां आत्मा का ग्रहण किया जाता है जो प्रकृत सत् शब्द वाच्य है। उसमें 'अतीत' होता है। अर्थात् लय होता है। अपि पूर्वक 'इ' धातु का लय अर्थ प्रसिद्ध हैं; क्योंकि 'प्रभवाप्यौ' उत्पत्ति और प्रलय ऐसा प्रयोग देखने में आता है। मन के प्रचार रूप उपाधि विशेष के साथ सम्बन्ध से विषयों को ग्रहण करता हुआ तद्विशेष (स्थूल देह के साथ ऐक्यताकी भ्रान्ति पाया हुआ) जीव जागता है (ऐसा व्यवहार किया जाता है)। उसकी वासना से युक्त हो कर स्वप्न देखता हुआ मन शब्द से वाच्य होता है। जब उपाधि (जगत् और स्वप्न) विराम को प्राप्त हो जाती हैं तब सुषुप्ति की अवस्था में उपाधिजन्य विशेष देखना सुनना आदि के अभाव से स्वात्मा में प्रलीन सा होने से 'आत्मा में लीन होता है' ऐसा कहलाता है। जैसे हृदय शब्द का निर्वचन श्रुति दिखलाती है:—

'स वा ऐष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्याद्दृदयम।' [छान्दो० ८।३।३] (वह आत्मा हृदय में है। उस हृदय का यही निर्वचन है, 'हृदि' हृदय में 'अयम्' यह आत्मा वर्तमान है इसलिये हृदय) अथवा 'अशनाय' और 'उदन्या' शब्द की प्रवृत्ति का मूल जैसे श्रुति दिखलाती है— 'आप एव तदशितं नयन्ते' 'तेज एव तत्पीतं नयते।' [छान्दो० ६।८।३,५] (उस पुरुष के खाये हुए अन्न को पानी द्रवीभूत कर के रसादि भाव में लाता है फिर पीये हुए पानी इत्यादिक का शोषण करके उसको रुधिर रूप से प्राण भाव में लाता है) इस प्रकार 'स्व' में अर्थात् सत् शब्द वाच्य आत्मा में लय को प्राप्त होता है, यह अर्थ स्वपिति शब्द के निर्वचन से श्रुति दिखलाती है और चेतन आत्मा स्वरूप से अचेतन प्रधान को प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु आत्मीय होने के कारण प्रधान 'स्व' शब्द से वाच्य हो तो चेतन अचेतन में लय होता है इस प्रकार विरोध की प्राप्ति होगी। 'प्राज्ञेनाऽत्मना संपरिष्वक्तों न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।' [बृह० ४।३।२१] (प्राज्ञ आत्मा के साथ एक होने पर न तो बाहर की वस्तु को जानता है और न भीतर की वस्तु को)। यह दूसरी श्रुति सुषुप्ति अवस्था में चेतन में लय होना दिखलाती है। इसलिये जिसमें सर्व अचेतन का लय होता है वह चेतन, सत् शब्द वाच्य जगत् कारण है, प्रधान नहीं ॥ ६ ॥

प्रधान जगत् का कारण नहीं है इसका कारण और भी लिखते हैं:—

गति सामान्यात् ॥ १० ॥

गति सामान्यात [ब्रह्म में सर्व वेदान्तों के] तात्पर्य की समानता से [ब्रह्म ही जगत् का कारण है प्रधान नहीं है]।

यदि तार्किक सिद्धान्तके समान वेदान्तमें भी अनेक कारण माने जाते यानी कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान और कहीं दोनों ही जगत् के कारण होते, तो प्रधान कारणवाद के अनुसार भी 'ईक्षति' आदि श्रुतिकी कल्पनाकी जाती; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, सब वेदान्त ग्रन्थोंमें चेतन कारण है यह ज्ञान समान ही है। 'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मन । सर्वे प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यः देवा देवेभ्यो लोकाः ॥' [कौशी० ३।३] (जैसे जलती हुई अग्नि में से चिनगारियां सब दिशाओं में फैलती हैं वैसे ही इस आत्मा में से सर्व प्राण यथा स्थान फैलते हैं, प्राणों में से देव और देवों में से लोक) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।' [तैत्ति० २।१] (उस इस आत्मा में से आकाश उत्पन्न हुआ) 'आत्मत एवेदं सर्वम् ।' [छान्दो० ७।२६।१] (आत्मा में से ये सब उत्पन्न हुए हैं) 'आत्मन एष प्राणोजायते ।' [प्रश्न० ३।३] (आत्मामें से यह प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार सब वेदान्त ग्रन्थ आत्माको कारण बताते हैं। आत्मा शब्द चेतन वाचक है ऐसा हम ने कहा है। नेत्रादि का ज्ञान रूपादि में समान है, वैसे ही चेतन कारण है यह वेदान्त वाक्यों का ज्ञान समान है, यह (चेतन कारणवादके एक) बलिष्ठ और प्रमाण कारण है। इस कारण से ज्ञान समान होने से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है यह सिद्ध हुआ ॥ १० ॥

सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् कारण है इसका कारण यह भी है:—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

च और श्रुतत्वात् श्रुति में कथन होने से [ब्रह्म ही जगत्का कारण है] ।

सर्वज्ञ ईश्वर जगत् का कारण है, ऐसा 'स्व' शब्द से श्रुतिने प्रतिपादन किया है। श्वेताश्वतर शाखाके मंत्रोपनिषद् में सर्वज्ञ ईश्वर के सम्बन्ध में—'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य-कश्चित् जनिता न चाधियः ।' [श्वेत० ६।९] (वह सर्वज्ञ परमेश्वर कारण है, वह जीवों का अधिपति है उसका कोई जनिता अथवा अधिपति नहीं है) यह श्रुति है। इसलिये सर्वज्ञ ब्रह्म जगत का कारण है, अचेतन प्रधान अथवा कोई अन्य जगत् का कारण सिद्ध नहीं होता ॥ ११ ॥

६ आनन्दमयाधिकरण सूत्र १२–१९।

'जन्माद्यस्ययतः' [ब्र० सू० १।२] इस दूसरे सूत्र से आरम्भ करके 'श्रुतत्वाच्च' [ब्र० सू० १।११] इस ग्यारहवें सूत्र तक जो वेदान्त वाक्य कहे हैं, वे यह ही अर्थ प्रतिपादन करते हैं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, यह न्याय पूर्वक प्रतिपादन किया गया। सर्व वेदान्त वाक्योंकी गति समान है ऐसा कह कर सर्व वेदान्त वाक्य चेतन कारण वादी हैं अर्थात् जगत् का कारण चेतन है ऐसा कहने वाले हैं ऐसा व्याख्यान किया है। तो अब कहना चाहिये कि आगे के ग्रंथ रचने का क्या प्रयोजन है ?

ब्रह्म दो प्रकार का होता है १ उपाधि विशिष्ट और २ उपाधि वर्जित। नाम और रूपको उपाधि कहते हैं। नाम और रूप सहित का नाम उपाधि विशिष्ट है और उससे विपरीत का–नाम रूप रहित का नाम उपाधि वर्जित है। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति ।' [बृह० ४।५।१५] (जहां अज्ञान की अवस्था में द्वैत सा होता है, उस अवस्था में एक दूसरे को देखता है) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् ।'

[बृ० ४।५।१५] (जब ज्ञान काल में उस विद्वान् को सब जगत् आत्मामात्र हो गया है, तब उस काल में किससे किसको देखे ? 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् [छान्दो० ७। २४ । १] (जिसमें विद्वान् दूसरा कुछ नहीं देखता, दूसरा कुछ नहीं सुनता, दूसरा कुछ नहीं जानता, वह भूमा अर्थात् ब्रह्म है; जिस में दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे को जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है। 'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभि वदन् यदास्ते [तैत्ति० आ० ३।१२।७] (धीर--परमात्मा ही सर्व रूप का चिन्तन करके, उत्पन्न करके, नाम रख कर, नाम लेकर बुलाता हुआ वर्तता है)। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥' [श्वेता० ६ । १९] (निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य यानी दोष रहित, निरंजन, मोक्ष का उत्कृष्ट सेतु, जली हुई लकड़ियों वाले अग्नि के समान) 'नेति, नेति।' [बृह० २।३।६] (नहीं ऐसा, नहीं ऐसा) 'अस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्।' [बृ० ३।८।८] (स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं), न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' (एक स्थान न्यून है, दूसरा स्थान संपूर्ण है), ऐसे हजारों वाक्य विद्या और अविद्या का विषय भिन्न होने से ब्रह्म दो प्रकार का है ऐसा दर्शाते हैं। अविद्या की अवस्था में उपास्य, उपासक आदि सब व्यवहार ब्रह्म में होते हैं। ब्रह्म की किसी २ उपासना का प्रयोजन अभ्युदय, किसी २ क्रम-मुक्ति और किसी किसी का कर्म-समृद्धि है।

उन उपासनाओंमें गुण विशेष से और उपाधिके भेद से भेद है।

यद्यपि कई गुण विशेष से विशिष्ट एक ही परमात्मा ईश्वर उपास्य होता है, तो भी जिस गुण विशिष्ट की उपासक उपासना करता है उन्हीं गुणों के अनुसार फल भिन्न होता है; क्योंकि 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति ।' (उसकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करता है, वह ही होजाता है) यह और 'यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतःप्रेत्यभवति' [छांदो० ३।१४।१] (पुरुष इस लोकमें जैसे अध्यवसाय निश्चय वाला होता है वैसा ही इस लोकसे परलोकमें जाकर होता है) यह श्रुतु है और 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैतिकौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥' [भग० गी० ८ । ६] (हे कुन्ति सुत, जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्तमें शरीर त्यागता है उस भाव की भावना वाला उस उस भावको ही प्राप्त होता है) यह स्मृति है । यद्यपि एक ही आत्मा स्थावर और जंगम सब भूतों में गूढ़ है, तो भी चित्त रूपी उपाधि विशेष के तारतम्य (भेद) से कूटस्थ नित्य एक रूप ऐसा आत्मा भी ऐश्वर्य शक्ति विशेष से उत्तरोत्तर (एक के पीछे एक) भेद प्रगट करता है; यह बात 'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' [ए० अ०२।३।२।१] (जो उसका अधिक प्रकट स्वरूप जानता है) यह श्रुति प्रतिपादन करती है, और 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश संभवम् ॥' [भग० गी० १०।४१] जो जो विभूति वाला सत्त्ववस्तु श्रीयुक्त या बलवान् है उसको तू मेरे तेजके अंशमें से उत्पन्न हुआ जान) यही बात इस स्मृति में भी है । जो जो विभूति आदि अतिशय हैं वे सब ईश्वर रूप से उपास्य हैं ऐसे विधि वाक्य हैं । इसी प्रकार यहां (सूत्र में) भी आदित्य मंडलमें हिरण्यमय पुरुष सर्व पाप से रहित है, इस लिंग से वह परमात्मा ही है

इस प्रकार सूत्रकार कहेंगे। जैसे 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' [ब्रह्म सूत्र १ । १ । २२] इसमें और दूसरे स्थल में देखोगे। इसी प्रकार सद्योमुक्ति के कारण रूप आत्मज्ञान का भी उपाधि विशेष द्वारा उपदेश किया हुआ होने से और उपाधि सम्वन्ध विशेष की विवक्षा (कहने की इच्छा) न होने से वह पर विषयक (परब्रह्म संबंधी) है अथवा अपर विषयक (अपर-ब्रह्म सम्वन्धी) है ऐसा संदेह होता है। इसलिये वाक्य के तात्पर्य का पर्यालोचन (विचार) करके उसका निर्णय करना योग्य है। जैसे कि यहाँ ही 'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' [ब्रह्म सूत्र १ । १ । १२] इस सूत्र में है। एक ही ब्रह्म जब उपाधि संबंध की अपेक्षा हो तब उपास्य है और उपाधि संबंध रहित हो तब ज्ञेय है ऐसा वेदान्तों में उपदेश किया है, यह दिखाने के लिये अब उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ होता है। वेदान्त वाक्यों से समान बोध होने से अचेतन कारण का जो निराकरण कहा है उसी का, ब्रह्म विषयक दूसरे वाक्यों की व्याख्या करके (सूत्रकार) ब्रह्म से विपरीत कारण के निषेध से, विस्तार करेंगे।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

आनन्दमयः आनन्दमय [परमात्मा ही है]
अभ्यासात् [श्रुति में वैसा] बार बार कथन होने से।

तैत्तिरीयक उपनिषद् में आत्मा को क्रम से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय प्रतिपादन करके 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्तोऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [तै० २।१।५] (ऐसे इस विज्ञानमय से आनन्दमय अन्य अन्तर आत्मा है) इस श्रुति से आत्मा को आनन्दमय बताया है। इसमें यह शंका

होती हैं कि आनन्दमय शब्द से 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (सत्य, ज्ञान, अनंत, ब्रह्म) ऐसा परमात्मा प्रतिपादन किया है, अथवा अन्नमय आदि की समान ब्रह्म से अन्य अर्थ जीव प्रतिपादन किया है।

प्रतिपक्षी :—आनन्दमय से जीव का प्रतिपादन किया है क्योंकि आनन्दमय का उस स्थल पर वर्णन हुआ है जहां पर अन्नमयादि अमुख्य आत्मा का विषय चालू है।

सिद्धान्ती:—नहीं ऐसा नहीं है। आनन्दमय सब के अन्तर में होने से वह मुख्य आत्मा ही है।

प्रतिपक्षी:—नहीं आनन्दमय मुख्य आत्मा नहीं है किन्तु जीव ही है; क्योंकि श्रुति ने आत्मा शरीर वाला प्रतिपादन किया है और शरीर के अवयव (अंग) प्रिय बताये हैं। यदि आनन्दमय मुख्य आत्मा हो तो उसको और अंगों में प्रिय आदि का स्पर्श (प्रतीत) न हो परन्तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' [तै० २। ५] (उसका प्रिय ही शिर है) इत्यादि से और अंग भी प्रिय सुने जाते हैं और "तस्यैष एव शारीर आत्माय: पूर्वस्य"] तैत्ति० २। ६] (उस पूर्व का यानी विज्ञानमय आत्मा का जो यह आनन्दमय है वह शारीर आत्मा है), इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को शरीर वाला बताती हैं; इसलिये, ऐसा अर्थ होता है कि उस पूर्वका यानी विज्ञानमय आत्मा का यही शारीर (शरीर वाला) आत्मा है। शरीर वाला होते हुए भी उसका प्रिय और अप्रिय के साथ के सस्पर्श का निवारण नहीं हो सक्ता इसलिये आनन्दमय संसारी (जीव) ही आत्मा है।

इस पक्षका खंडन करने के लिये कहते हैं 'आनंदमयोऽभ्यासात् ' (आनन्दमय परब्रह्म है, श्रुति में ऐसा बार बार कथन

होने से)। परमात्मा को ही आनन्दमय कहना युक्त है। वास्तविक परमात्मा के विषे ही आनन्दमय शब्द कई बार लगाया गया है। आनन्दमय की प्रशंसा करके 'रसो वै सः' तैत्ति० २।७] (वही रस है) इस प्रकार उसका रसत्व कह कर 'रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' [तैत्ति० २।७] (रस को ही प्राप्त करके वह आनन्द वाला होता है) 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। तदेश आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति' [तैत्ति० २।७] (जो आकाश में रहा हुआ यह आनन्द न हो तो कौन चेष्टा करे, या कौन जीये। यह ही परमात्मा आनन्द प्राप्त कराता है,) 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' [तैत्ति० २।८] (ऐसा यह आनन्द का विचार है,) 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' [तैत्ति० २।८] (इस आनन्दमय आत्मा को वह पाता है), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' [तैत्ति० २।६] (ब्रह्म को आनन्द स्वरूप जानने वाला किसी से नहीं डरता), और 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्' [तैत्ति० ३।६] (आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना), ऐसा ये श्रुतियां कहती हैं और दूसरी श्रुति में भी 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृह० ३।६।२८] (विज्ञान और आनन्दमय ब्रह्म है), इस प्रकार ब्रह्म के लिए ही आनन्दमय शब्द देखने में आता है। इन प्रमाणों से ब्रह्म के लिये ही आनन्द शब्द का बार बार कथन होने से आनन्दमय आत्मा ही ब्रह्म है ऐसा अनुमान होता है। अन्नमयादि अमुख्य आत्मा की परम्परा में पड़े हुए होने से आनन्दमय आत्मा भी अमुख्य है, ऐसा जो कहा है वह दोष नहीं है; क्योंकि आनन्दमय आत्मा सब के भीतर है। शास्त्र की इच्छा मुख्य आत्मा का उपदेश करने की है। लोक बुद्धि के अनुसार अत्यन्त मूर्खों

को जो आत्मा के समान प्रसिद्ध है, ऐसे अनात्मा रूप इस शरीर का कथन करके फिर मूस में डाल कर गलाये हुए ताम्रादि की प्रतिमा के समान, उससे भीतर, फिर उससे भीतर ऐसे पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर अनात्मा को आत्मा के समान ग्रहण कराया है. समझाया है। शीघ्र समझ में आने के लिये सब (अमुख्य आत्मा) के भीतर जो मुख्य आत्मा का उपदेश किया है, सो विशेष युक्त ही है। जैसे अरुन्धती जो और तारों से अत्यन्त सूक्ष्म है, उसको दिखाने के लिये दिखलाने वाला पहले अरुन्धी के समीप के बड़े २ अमुख्य तारों को बता कर अन्त में अरुन्धती को दिखा देता है; इसी प्रकार यहां पर भी शरीर, प्राण, मन और बुद्धि जिनको साधारण मनुष्य आत्मा समझते हैं, उनको आत्मा वता कर अन्त में सबके भीतर जो मुख्य आत्मा उसको आनन्दमय वताया है। प्रिय आदि की शिरत्व आदि कल्पना मुख्य आत्मा के लिए अयुक्त है, ऐसा जो तूने कहा वह युक्त नहीं है; क्योंकि, यह कल्पना अगली पिछली उपाधि से हुई है स्वाभाविक नहीं है, इसलिये दोष नहीं है। आनन्दमय का शरीरत्व भी अन्नमयादि शरीर परम्परा से शरीरत्व है। संसारी (जीव) के शरीर के समान उसका साक्षात् शरीरत्व नहीं है। इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२॥

विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

विकार शब्दात् विकार शब्द से [आनन्दमय परमात्मा] न नहीं इति ऐसा चेत् [कहो] तो प्राचुर्यात् [वह आनन्दमय [शब्द बहुवाचक] होने से न [वैसा] नहीं है।

शंका:—मयट् (मय) प्रत्यय का अर्थ विकार है (वैसे) मृण्मय—मिट्टी का विकार) इसलिये आनन्दमय परमात्मा

नहीं हो सकता क्योंकि आनन्दमय शब्द से संसारिक आनन्द के सिवाय दूसरा आनन्द समझ में नहीं आता । इसलिये अन्नमय आदि शब्दों के समान आनन्दमय शब्द का अर्थ भी आनन्द का विकार ही होता है ।

समाधानः—ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि मयट् प्रत्यय का अर्थ प्राचुर्य भी होता है 'तत्प्रकृत वचने मयट्' पाणि० सूत्र ५।४।२१] ('उसका प्राचुर्य' इस अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है) इस प्रकार मयट् प्रत्यय का प्राचुर्यता के अर्थ में भी उपयोग होता है । जैसे 'अन्नमयो यज्ञः' [तैत्ति० २।८] (अन्नमय यज्ञ) अर्थात् अन्नप्रचुर (बहुत अन्न वाला) यज्ञ कहलाता है, वैसे ही आनन्द प्रचुर ब्रह्म आनन्दमय कहलाता है । श्रुति ने मनुष्य से ले कर गंधर्व, पितर, देवादिक में एक से सौ गुणा दूसरे में आनन्द है ऐसे एक के पीछे एक को अधिक आनन्द है ऐसा कह कर अन्त में ब्रह्मानन्द निरतिशय (सब से बढ़ कर) है इस प्रकार ब्रह्म आनन्द प्रचुर है ऐसा समझाया है; इसलिये मयट् शब्द प्राचुर्य के अर्थ में है विकार के अर्थ में नहीं है ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

च और तद्धेतुव्यपदेशात् उस (आनन्द) के हेतु के कथन से] आनन्दमय परमात्मा है] ।

मयट् प्रत्यय का प्राचुर्यके अर्थमें उपयोग है क्योंकि श्रुति भगवती ब्रह्म को इस श्रुति से आनन्द का हेतु बताती है— 'एष ह्येव वाऽऽनन्दयाति' [तैत्ति० २।७] (निश्चय यह ही आनन्द देता है) वास्तविक जो दूसरे को आनन्द देता है वह

प्रचुर आनन्द से युक्त होता है यह प्रसिद्ध है। जैसे, लोक में जो औरों को धनी बनाता है वह विशेष धन वाला है ऐसा समझा जाता है, वैसे ही सबको आनन्द देने वाला ब्रह्म विशेष आनन्द देने वाला है यह समझना युक्त है। इसलिये प्राचुर्य अर्थ में मयट् की संभावना होने से आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५॥

च और मान्त्रवर्णिकम् मन्त्रों से कहे हुए [ब्रह्म] को एव ही गीयते [इस श्रुति में] कथन किया गया है [इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है]।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तैत्ति० २।१] (ब्रह्म वेत्ता परमात्मा को प्राप्त होता है), इस श्रुति का उपक्रम करके 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है) इस मन्त्र में सत्य ज्ञान और अनन्त विशेषणों से जिस प्रकृत ब्रह्मका वर्णन किया है, जिसमेंसे आकाशादिक क्रम २ से स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसने भूतों को उत्पन्न करके उनमें प्रवेश किया, जो गुणों में रहने वाला सर्वके अन्तर है, और जिसके जानने के लिए 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा।' 'अन्योऽन्तर आत्मानन्द मयः।' [तै० २।५] (दूसरा अन्तर आत्मा है, दूसरा अन्तरात्मा है) ऐसा वर्णन किया गया है, वही पूर्व मन्त्र में वर्णन किया हुआ ब्रह्म (अन्य अन्तर आत्मा आनन्दमय है) इस मंत्र में कहा है। मन्त्र और ब्राह्मण का एक अर्थ होना युक्त है क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध नहीं है। नहीं तो प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया (प्रस्तुत बात को छोड़ कर नयी बात प्रारम्भ करना) यह दोष प्राप्त होगा

और जैसे अन्नमय आदि से अन्य आत्मा बताया है वैसे आनन्दमय से अन्य आत्मा का नाम नहीं लिया है और 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' [तै० ३ । ६] (ऐसी यह भृगु को वरुण से प्राप्त हुई विद्या) इस श्रुति में जिस विद्या का वर्णन किया है वह ब्रह्मविद्या इस आनन्दमय से ही सम्बन्ध वाली है, इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

अनुपपत्तेः उपपत्ति न होने से इतरः [परमात्मा से] अन्य [यानी जीव] न [आनन्दमय] नहीं है ।

और इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है, अन्य नहीं है। अन्य का अर्थ है ईश्वर से अन्य संसारी जीव । आनन्दमय शब्द से जीव नहीं कहा जाता क्योंकि (जीव में) आगे दी हुई बातों की उपपत्ति होती । 'सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । सतपोऽतप्यत । सतपस्तप्स्वा इदं सर्वमसृजत यदिदंकिंच' [तैत्ति० २।६] (उसने कामना की कि बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न करूँ। उसने तप किया, उसने तप करके यह जो कुछ है, सब उत्पन्न किया) इस श्रुति में स्पष्ट कहा है कि शरीरादि की उत्पत्ति से पहले कामना, उत्पन्न होने वाले विकारों का स्रष्टा से अभेद और सब विकार वाली सृष्टि, ये परमात्मा के सिवाय अन्य किसी में उपपन्न (सिद्ध) नहीं होते, इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है जीव नहीं है ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

च और भेदव्यपदेशात् भेद के कथन से [आनन्दमय जीव नहीं है]।

'रसो वै सः रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' [तै० २।७] (निश्चय वह रस है। निश्चय इस रस को ही पाकर आनन्द युक्त होता है) यह श्रुति जीव और आनन्दमय का भेद बताती है। प्राप्त करने वाला प्राप्त करने योग्य वस्तु से पृथक् होता है यह बात हर एक जानता है।

शंका :—प्राप्त करने वाला प्राप्त होने योग्य वस्तु से पृथक् होता है यह ठीक है। परन्तु श्रुति स्मृति तो कहती है कि 'आत्मा का अन्वेषण (खोज) करना चाहिये, आत्म लाभ से बढ़ कर और कोई लाभ नहीं है।'

समाधानः—यह कहना ठीक है. श्रुति स्मृति ऐसा ही कहती हैं। आत्मा का आत्मभाव न जाते हुए भी तत्त्व के अज्ञान से देहादिक अनात्म पदार्थों में आत्मा की भ्रांति लोक में देखने में आती है, इसलिये आत्मा अन्विष्ट (खोजा हुआ) नहीं है, अन्वेष्टव्य (खोजने योग्य) है; लब्ध (प्राप्त किया हुआ) नहीं है, लब्धव्य (प्राप्त करने योग्य) है; श्रुत (सुना हुआ) नहीं है, श्रोतव्य (सुनने योग्य) है मत (विचारा हुआ) नहीं है, मन्तव्य (विचारने योग्य) है; विज्ञात (जाना हुआ) नहीं है, विज्ञातव्य (जानने योग्य) है, इत्यादि कथन देहादि में आत्म भाव रखने वाले (अज्ञानी) जीवों के लिये (मुख्य आत्मा और गौण आत्मा का वास्तविक स्वरूप न जानने वालों के लिए) बताना युक्त ही है। (ऐसा न करने से आत्मा और अनात्मा के स्वरूप निर्णय करने में सामान्य मनुष्य समर्थ नहीं होंगे)। परमार्थ से तो सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय द्रष्टा अथवा श्रोता कोई अन्य है नहीं; जैसा कि,—'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' [बृह० ३।७।२३] (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इस श्रुति से सिद्ध है। अविद्या

कल्पित, शारीर, कर्ता भोक्ता और विज्ञानात्म संज्ञक से परमेश्वर तो अन्य ही है। जैसे ढाल तलवार धारण करने वाला ढाल तलवार से अन्य है, जैसे सूत्र द्वारा आकाश में चढ़ने वाले मायावी से पृथिवी पर खड़ा हुआ मायावी भिन्न है और जैसे उपाधि से घिरे हुए घटाकाश से उपाधि से न घिरा हुआ महाकाश भिन्न है, इसीप्रकार अविद्या कल्पित, शारीर, कर्ता, भोक्ता और विज्ञानात्म संज्ञक जीवसे परमेश्वर अन्य ही है। इस प्रकार विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद बताने के लिये १६ और १७ सूत्र कहे हैं॥ १७॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

च और [आनन्दमय के] कामात् काम (इच्छा पूर्वक सृष्टि के कर्तापने) से अनुमानापेक्षा [प्रधान के] अनुमान की अपेक्षा न नहीं है।

आनन्दमय के प्रकरण में 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' (उसने कामना की कि बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न करूँ) इस प्रकार कामना का वर्णन है। जड़ प्रधान में इच्छा होना असम्भव है, इसलिये आनुमानिक, सांख्य परिकल्पित, अचेतन प्रधान आनन्दमय अथवा जगत् का कारण है ऐसी अपेक्षा (आशा) करना युक्त नहीं है। 'ईक्षतेर्नाशिब्दम्' इस पाँचवे सूत्र में प्रधान की कामना का खंडन कर चुके हैं। यहां पर प्रसंग आने से श्रुति वाक्यों की एकवाक्यता विस्तार से दिखलाने के लिये फिर खंडन किया है॥ १८॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

च और अस्मिन् इसमें (आनन्दमय में) अस्य उसका

(अवोध वाले जीव का) तद्योगं तद्रूप प्राप्ति का (ब्रह्म भाव की प्राप्ति का) शास्ति [श्रुति] उपदेश करती है।

आनन्दमय शब्दका अर्थ प्रधान या जीव नहीं हो सक्ता क्योंकि श्रुति ने आनन्दमय में चित्त लगाने वाले मुमुक्षु का उससे योग (अभेद) वतलाया है। तद्योग का अर्थ तद् रूप योग, तद् भाव प्राप्ति या मुक्ति है। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतिस्सन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति [तैत्ति० २ ७] (जब यह यानी साधक वा मुमुक्षु अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाधार ऐसे ब्रह्म में भय रहित प्रतिष्ठा--आत्मभाव को प्राप्त होता है, तब वह अभय प्राप्त करता है। जब यह इस ब्रह्म को थोड़ा भी भेद मानता है तव उसको भय होता है)—यह श्रुति तद्योग बताती है। इसका तात्पर्य यह है कि जव तक मुमुक्षु आनन्दमय परमात्मा और अपने में थोड़ा सा भी अन्तर—भेद समझता है तव तक जन्म मरण रूप संसार भय से निवृत्त नहीं होता। और जव आनन्दमय परमात्मा को और अपने को अभिन्न मानता है तव जन्म मरण रूप संसार से मुक्त होता है। इस प्रकार आनन्दमय शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना ही घट सकता है, प्रधान का अथवा जीव का ग्रहण किसी प्रकार नहीं घट सकता। इस लिये आनन्दमय परमात्मा ही है यह सिद्ध हुआ। यहाँ पर ऐसा कह सकते हैं—

'सवा एष पुरुषोऽन्न रस मयः' [तैत्ति० २।१] (ऐसा यह पुरुष अन्न रसमय है), 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' : [तैत्ति० २।२] (ऐसे इस अन्न रसमय

से अन्य अन्तर आत्मा प्राणमय है), तस्मादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' [तैत्ति० २।३] (उससे अन्य अन्तर आत्मा मनोमय है), तस्मादन्योंऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' | तैत्ति० २।४] (उससे अन्य अन्तर आत्मा विज्ञानमय है)- इन सब श्रुतियों में तो मयट् प्रत्यय का अर्थ विकार ही चला आया है फिर अकस्मात् मय का अर्थ प्राचुर्य करके आनन्दमय का अर्थ ब्रह्म किस रीति से लगा सकते हैं ? जो अर्थ प्रथम किया है वह ही अर्थ पीछे भी करना चाहिये, नहीं तो 'आधे तीतर आधे बटेर' यह ही न्याय हो जायगा। जो यह कहो कि मन्त्र में ब्रह्म का प्रसंग है इसलिये ऐसा अर्थ करते हैं तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का प्रसंग तो अन्नमयादि सब ही में है। तुमने कहा कि 'अन्नमयादि ब्रह्म नहीं है यह कहना युक्त ही है कि एक के भीतर दूसरा, दूसरे के भीतर तीसरा, इस प्रकार एक के भीतर अन्य आत्मा परमस्परा रूप से बताया है, परन्तु आनन्दमय के भीतर और कोई आत्मा नहीं बताया है, इसलिये आनन्दमय ब्रह्म ही है। यदि ऐसा न मानें तो प्रकृत की हानि होगी और अपकृत की प्रक्रिया का प्रसंग आवेगा—इसलिये आनन्दमय परमात्मा ही है।' परन्तु अन्नमयादि की समान आनन्दमय के भीतर अन्य आत्मा श्रुति ने नहीं बताया है, तो भी आनन्दमय परमात्मा नहीं है; क्योंकि आनन्दमय के प्रकरण में श्रुति कहती है—'तस्य-प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तर पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' [तैत्ति० २।५] प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तरः पक्ष है, आनन्द आत्मा है, ब्रह्म तुच्छ प्रतिष्ठा है)। 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है), इस श्रुति के अनुसार जो ब्रह्म मन्त्र में सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा है उसी ब्रह्म को ऊपर

की श्रुति में पुच्छ तथा प्रतिष्ठा कहा है. और उसको जताने की इच्छा से ही अन्नमयादि से आनन्दमय तक पाँच कोश माने हैं। तब प्रकृत की हानि और अपकृत की प्रक्रिया का प्रसंग कैसे आवेगा ? यदि कहो कि 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' [तै० २।१] (यह पुच्छ और प्रतिष्ठा है) इस श्रुति में अन्नमय आदि के अवयवों का कथन है, वैसे ही आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म को पुच्छ तथा प्रतिष्ठा कहा है तब यहाँ पर ब्रह्म ही प्रधान है यह कैसे जाना जाय ? ब्रह्म प्रकृत है, इसलिये यदि कहो कि आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म जाना जाता हो, तो भी ब्रह्म का प्रकृत-पना नहीं जाता क्योंकि आनन्दमय ब्रह्म है, तो वही ब्रह्म आनन्द-मय आत्मा अवयवी और वही ब्रह्म पुच्छ तथा प्रतिष्ठ अवयव है, यह कहना भी अयुक्त है। दो में से एक स्थान पर ही ब्रह्म का कथन है ऐसा लें 'तो ब्रह्म पुच्छ तथा प्रतिष्ठा है' इस वाक्य में ही ब्रह्म निर्देश लेना चाहिये क्योंकि यहाँ पर ब्रह्म का योग है। आनन्दमय के वाक्य में ब्रह्म निर्देश लेना युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं है। ब्रह्म पुच्छ तथा प्रतिष्ठा है ऐसा कह कर कहा है 'तदप्येष श्लोको भवति—असन्नेव सभवति असद् ब्रह्मे ति वेदचेत। अस्ति ब्रह्मे ति चद्वे दसन्तमेनंततोविदुः' [तैत्ति० २।६] (इस विषे यह श्लोक है, ब्रह्म अविद्यमान है ऐसा जो जानता है वह अविद्यमान के समान ही हो जाता है, ब्रह्म विद्यमान है ऐसा जो जानता है उसको ब्रह्मवित् विद्यमान ब्रह्मस्वरूप जानते हैं), इस श्लोक में आनन्दमय के कहे बिना ही ब्रह्म के भाव और अभाव के ज्ञान से ही गुण और दोष बताये हैं इसलिये 'ब्रह्म पुच्छ, प्रतिष्ठा है' इसमें ब्रह्म प्रधान है ऐसा अनुमान होता है। आनन्दमय आत्मा के भाव और अभाव की शंका करनी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रिय, मोद आदि

बिशेषता युक्त आनन्दमय सर्व लोक में प्रसिद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्म ही का यहां पर प्रधान रूप से कथन है तो वह आनन्दमय का पुच्छ तथा प्रतिष्ठा है ऐसा क्यों कहा है तो यह दोष नहीं है। पुच्छ का अर्थ है पुच्छ के सदृश और प्रतिष्ठा का अर्थ है वसित स्थान। लौकिक आनन्द का एक मात्र स्थान रूप ब्रह्मानन्द है, ऐसा इसका अर्थ है, अवयव है ऐसा नहीं। क्योंकि, दूसरी श्रुति में ऐसा कहा है कि, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' [बृह० ४।३।३१] (इसी आनन्द के अंश पर अन्य भूतों का जीवन आधार है)। यदि आनन्दमय ब्रह्म है ऐसा मानें तो प्रियादि अवयवों करके सविशेष सगुण ब्रह्म स्वीकार करना पड़ेगा; किन्तु वाक्य शेष में निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म की श्रुति है। इस श्रुति में उसको वाणी और मन से अगोचर बताया है। जैसे 'यतो वाचोनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन' [तैत्ति० २।९] (जिसको प्राप्त किये बिना मन सहित वाणी निवृत्त होजाती है, उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म का जानने वाला किसी से भय नहीं पाता)। वैसे ही, आनन्द प्रचुर कहने से दुःख के होने का भी अनुमान होता है। क्योंकि लोक में प्राचुर्य को उसके प्रतियोगी अल्पत्व की अपेक्षा है और ऐसा हो तो 'यत्रनान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [छां दो० ७।२४।१] (जहां किसी दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, किसी दूसरे को नहीं जानता वह भूमा-ब्रह्म है) भूमा ब्रह्म के सिवाय अन्य वस्तु के अभाव को दिखलाने वाली इस श्रुति का वाध होगा, और हर एक शरीर में प्रियादि भिन्न होने से आनन्दमय भी भिन्न होगा। परन्तु ब्रह्म प्रति शरीर में भिन्न नहीं है; क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) इस

वाक्य में ब्रह्म अनन्त है ऐसा कहा है। 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्व भूतांतरात्मा' [श्वेता ६।११] एक देव (सर्व भूतों में गूढ़, सर्वव्यापक और सर्व भूतों का अंतरात्मा है) यह दूसरी श्रुति भी यही कहती है। आनन्दमय का (ब्रह्म के अर्थ में) वार वार प्रयोग श्रुति में कहीं नहीं है परन्तु उस शब्द के अर्थ मात्र का अभ्यास है जैसे कि 'रसो वै सः रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कःप्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' [तैत्ति० २।७] (वह रस है, रस को प्राप्त करके ही आनन्दी होता है, जो आकाश में रहने वाला आनन्द न हो तो कौन चेष्टा करे और कौन जीये), 'सैषाऽऽनंदस्यमीमांसा भवति' [तै० २।८] (ऐसी यह आनन्द की विचारणा है), आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' [तैत्ति.२।९] (ब्रह्म को आनन्द स्वरूप जानने वाला किसी से नहीं डरता) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् [तैत्ति० ३।६] (आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना)। यदि आनन्दमय शब्द ब्रह्म विषयक है ऐसा निश्चित होता तो उत्तर के प्रयोगों में भी आनन्दमय का अभ्यास माना जाता, परंतु आनंदमय ब्रह्म नहीं है यह वात हम "उस का प्रिय ही शिर है" इत्यादि वाक्यों से कह चुके हैं। इसलिये 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म' [बृह० ३।९।२८] विज्ञान स्वरूप, आनंद स्वरूप, ब्रह्म है) इस दूसरी श्रुति में आनंद शब्द का ब्रह्म के विषे प्रयोग दीखता है, इसी प्रकार 'यदेष आकाश आनंदो न स्यात्' (जो आकाश में रहने वाला यह आनंद न हो) इत्यादि में (आनंद शब्द का) ब्रह्म विषयक प्रयोग है, इसलिये आनंदमय के अर्थ से इसका अभ्यास नहीं है ऐसा समझा जाता है। 'एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रामति' [तैत्ति० २।८] (इस आनंदमय आत्मा को वह पाता है) इसमें मयट् प्रत्यय वाले

आनन्दमय शब्द का अभ्यास है, परंतु वह ब्रह्म विषयक नहीं है, क्योंकि वह विकारात्मक अन्नमयादि त्याज्य अनात्म वस्तुओं की परम्परा में पड़ा हुआ है। यदि कहो कि आनन्दमय त्याग करने योग्य अन्नमयादि के समान अब्रह्म हो तो विद्वान् के लिये ब्रह्म प्राप्ति का फल नहीं कह सकते थे; तो यह दोष नहीं है। आनंदमय की प्राप्ति के कथन से ही पुच्छ और प्रतिष्ठा स्वरूप ब्रह्म प्राप्ति का फल कथन किया है और 'तदप्येष श्लोको भवति' 'यतो वाचो निवर्त्तंते (उसके विषे भी यह श्लोक है। जिससे वाणी निवृत्त होती है) इत्यादि से उसका विस्तार किया है। आनंदमय की श्रुति के पास 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' (उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ उत्पन्न करूँ) इस श्रुति का ग्रहण किया परंतु यह श्रुति 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है) इस श्रुति के बहुत ही पास होने से ब्रह्म के साथ सम्बंध रखती है, इसलिये आनंदमय ब्रह्म है ऐसा बोध नहीं कराती। और 'रसो वै सः' (वह रस है) इत्यादि उत्तर ग्रंथ को उसकी अपेक्षा है इसलिये वह आनंदमय से सम्बंध नहीं रखता। यदि कहो कि 'सोऽकामयत' (उसने कामना की) इस ब्रह्म के विषे पुल्लिग निर्देश युक्त नहीं है तो यह दोष भी नहीं है क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१] (ऐसे इस आत्मा में से आकाश उत्पन्न हुआ) इसमें पुल्लिग आत्म शब्द करके ब्रह्म प्रकृत है। (भृगु से वरुण की कही हुई—'आनंदो ब्रह्मे तिव्यजानात्' (आनंद ब्रह्म है ऐसा जाना), इस विद्या में मय प्रत्यय का श्रवण नहीं है और 'प्रिय ही शिर है' इत्यादि का भी श्रवण नहीं है, इसलिये आनंद शब्द का अर्थ ब्रह्म युक्त है, क्योंकि किंचित भी विशेष के आश्रय किये बिना शिरत्व आदि धर्म स्वयं ब्रह्म ::

युक्त नहीं हैं। यहाँ किसी सविशेष (सगुण) ब्रह्म का प्रतिपादन करना इष्ट नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म वाणी और मन के विषय से पर है' ऐसा श्रुति में कहा है। इसलिये, जैसे अन्नमयादि में मयट् प्रत्यय विकार अर्थ वाला है वैसे ही आनन्दमय में जानना चाहिये प्राचुर्य अर्थ वाला नहीं है।

(ऊपर लिखे हुए भाव को लेकर) सूत्रों का ऐसा व्याख्यान करना चाहिये 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है) इस वाक्य में ब्रह्म की आनन्दमय के अवयव रूप से समान विवक्षा है अथवा प्रधान रूप से विवक्षा है, इसका विचार करना चाहिये। पुच्छ शब्द को लेकर अवयव रूप से विविक्षा है ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं- 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' [ब्र० सूत्र १।१।१२] 'आनंदमय आत्मा' (आनन्दमय आत्मा है) इस श्रुति में 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छ तथा प्रतिष्ठा है), ऐसा जो कहा है उसमें प्रकरण में मुख्य ऐसा ब्रह्म ही उपदिष्ट है क्योंकि उसमें ब्रह्म ही का वार वार प्रयोग किया गया है। 'असन्नेव सभवति' (वह अविद्यमान ही होजाता है) इस निगमन (अर्थ निर्णायक) श्लोक में केवल ब्रह्म का ही अभ्यास किया है। 'विकार शब्दान्नेति चेन्नप्राचुर्यात्' [ब्र० सू० १।१।१३] इसमें विकार शब्द से अवयव शब्द अभिप्रेत है। यहां पर पुच्छ इस अवयव वाचक शब्द से ब्रह्म प्रधान नहीं है यह जो कहा है उसका खंडन करना चाहिये। इस विषे कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है। अवयव शब्द की प्राचुर्य से भी उपपत्ति होती है। प्राचुर्य का अर्थ है अनेक अवयव वाचक शब्द जिसमें हों ऐसे वर्णन की प्राप्ति अर्थात् अनेक अवयव वाचक शब्द युक्त वर्णन में किसी शब्द का आना। अन्नमयादि के शिरोभाग से लेकर

पुच्छ तक अवयव कहने के पश्चात् आनन्दमय के शिरोभाग आदि अवयव कह कर अनेक अवयव युक्त वर्णन प्राप्त होने ही से ब्रह्म पुच्छ तथा प्रतिष्ठा है ऐसा कहा है, अवयव विवक्षा से नहीं कहा; और इसी कारण से 'अभ्यासात' (अभ्यास से) इस प्रकार ब्रह्म का स्वप्रधानपना समर्थन किया है। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' [ब्रह्म सूत्र १।१।१४] इस सूत्र में आनन्दमय सहित सब विकार समूह का ब्रह्म ही कारण है ऐसा 'इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच' [तैत्ति० २।६] (उसने सब उत्पन्न किया, जो यह कुछ है वह) ऐसा इस श्रुति ने उपदेश किया है; और कारण होने से ब्रह्म स्वविकार आनन्दमय का मुख्य वृत्ति से यानी मुख्यार्थ में अवयव हो यह युक्त नहीं है। दूसरे सूत्र भी यथा संभव पुच्छ वाक्य में निर्दिष्ट ब्रह्म के ही उपपादक हैं ऐसा समझना चाहिए ॥ १९ ॥

७ अन्तरधिकरण । सू० २०–२१

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

अन्तः [आदित्य और चक्षु के] मध्य में [परमात्मा का उपदेश है] तद्धर्मोपदेशात् उसके धर्म के उपदेश से।

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्य केश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' [छांदो० १।६।६] (अब आदित्य के भीतर ज्योतिर्मय यह जो पुरुष दीखता है, इसकी ज्योतिर्मय मूछे हैं, ज्योतिर्मय केश हैं, नखाग्र पर्यंत सब ही ज्योतिमय है), 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' [छान्दो० १ । ६ । ७] (बन्दर के अधोभाग रूप कमल की सी उसकी आँखें हैं, उसका उद्

ऐसा नाम है, ऐसा यह देव सब पापों से ऊपर गया है इसलिये उसका उद्-ऊपर ऐसा नाम है जो इन गुणों से सम्पन्न उद् नाम के देव को यथोक्त प्रकार से जानता है वह सब पापों से ऊपर जाता है–मुक्त हो जाता है) इस प्रकार अधिदैवत है और 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते' [छान्दो० १ । ७ । ५] (अब जो इन आँखों के बीच में पुरुष दीखता है) इत्यादि, अध्यात्म है। इसमें संशय होता है कि अतिशय विद्या और कर्म के प्रभाव से जिसने श्रेष्ठता प्राप्त की है ऐसे किसी संसारी को सूर्य मण्डल में अथवा नेत्रों में उपास्य के समान श्रुति प्रतिपादन करती है अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर कों ? इन दोनों में से कौन सा ठीक है ?

प्रतिपक्षी :—संसारी ही ठीक है क्योंकि श्रुति में रूपवान् ऐसा कहा है। आदित्य में जो पुरुष है उसकी मूछें ज्योतिमय है–इत्यादि रूप कहा है और आंखों में जो पुरुष है उसका भी श्रुति में वह ही रूप कहा है:–'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' [छान्दो० १ । ७ । ५] (ऐसे इस अक्षि पुरुष का वह ही रूप है जो इस आदित्य पुरुष का है)। इससे सिद्ध होता है कि संसारी जीव ही उपास्य प्रतिपादन किया है परमेश्वर का रूप बताना युक्त नहीं है। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यतम्' [कौशी० १ । ३ । १५] (शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित और अव्यय है) इस श्रुति में परमात्मा को रूप आदि से रहित बताया है और 'य एषोऽन्तरादित्ये य एषोन्तरक्षिणि' (जो इस आदित्य मंडल में है, जो इन आँखों में है) इस श्रुति में (आदित्य पुरुष और अक्षि पुरुष को) आधार कहा है। जो आधार रहित अपनी महिमा ही से प्रतिष्ठित हो ऐसे सर्वव्यापी परमेश्वर का आधार

बताना किसी प्रकार युक्त नहीं है। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि, [छान्दो० ७।२४।१] (हे भगवन् वह भूमा—ब्रह्म किसके विषे प्रतिष्ठित है ऐसा नारद ने पूछा), उस नारद से सनत्कुमार कहते हैं (अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है) और 'आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः' (आकाश की समान सर्वगत और नित्य है) इन दोनों श्रुतियों में परमेश्वर को अपनी महिमा में प्रतिष्ठित और आधार रहित बताया है। और (इस आदित्य पुरुष और अक्षि पुरुष के) ऐश्वर्य की मर्यादा श्रुति में कही है इसलिये यह पुरुष [संसारी है। 'स एष ये चामुष्मात् परांचो लोकास्तेषां ;चेष्टे देवकामानांच [छान्दो० १।६।८] ऐसा यह उत् नाम वाला देव; जो इस आदित्य से ऊर्ध्व लोक है, उस पर और देवों की कामनाओं पर ऐश्वर्य चलाता है) इस प्रकार आदित्य पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है और 'स एष ये चैतस्मा-दर्वाञ्चो लोकस्तेषां चेष्टे मनुष्य कामानां च' [छान्दो० १।७।६] (ऐसा यह उत नाम का देव जो लोक इससे नीचे हैं उनके ऊपर और मनुष्यों की कामनाओं पर ऐश्वर्य चलाता है) इस प्रकार अक्षि पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है, और परमेश्वर का मर्यादा वाला ऐश्वर्य युक्त नहीं है क्योंकि 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषां लोकानाँमसंभेदाय' [बृह० ४।४।२२] (यह सर्व ईश्वर है; यह भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है, लोकों की मर्यादा असंभिन्न यानी एकत्र न हो जाय इसलिये व्यवस्था धारण करने वाला यह सेतु रूप है)। यह श्रुति परमेश्वर से विशेष कोई नहीं है ऐसा कहती है, इसी कारण से आदित्य और आँखों के भीतर का पुरुष परमेश्वर नहीं है यह सिद्ध हुआ।

समाधानः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) 'य एषोऽन्तरादित्ये' (जो इस आदित्य के भीतर है) और 'य एषोऽन्तरक्षिणि' (-जो इन आंखों के भीतर) इन श्रुतियों में है जो पुरुष कहा है वह परमेश्वर है, संसारी नहीं है; उसके धर्म के उपदेश से। विचार करके देखें तो परमेश्वर के धर्म ही यहां उपदेश किये गये हैं; जैसे—'तस्योदितिनाम' (उसका उद् ऐसा नाम है) ऐसा प्रतिपादन करके इस आदित्य पुरुष के नाम का 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' (वह इन सर्व पापों से ऊपर गया है-मुक्त है) ऐसा श्रुति निर्वचन करती है और इस निर्वचन किये हुए नाम को अक्षि पुरुष के लिये 'यन्नाम तन्नाम' [छांदो० १।७।५] (जो आदित्य पुरुष का नाम है वह अक्षि पुरुष का नाम है) ऐसा अतिदेश करतो है। अब 'य आत्माऽपहत पाप्मा [छांदो ८।७।१] (जो आत्मा पाप रहित है), इत्यादि श्रुति सर्व पाप से मुक्त परमात्मा को ही कहती है। इसी प्रकार 'सैवऋक् तत् साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म' [छांदो० १।७।५] (वही ही-अक्षि पुरुष ही-ऋक्, वही ही साम, वह ही उक्थ, वह ही यजु और वह ही ब्रह्म है), यह श्रुति अक्षि पुरुष के विषय ऋक्, साम आदि आतमा हैं इस प्रकार निर्धारण करती है। यह कहना परमेश्वर के लिये ही युक्त है, क्योंकि वह सर्व का कारण होने से सर्व का आत्मा है यह युक्त है। 'ऋक् पृथ्वी है और साम अग्नि है' इस प्रकार उपदेश करके और 'वाक् ऋक् है और प्राण साम है' ऐसा उपदेश करके श्रुति कहती है—'तस्य ऋक् च साम चगेष्णौ [छां० १।६।८] (ऋक् और साम उसके पाद पर्व यानी पगके जोड़ हैं) इस प्रकार अधिदैवत है; वैसे ही 'यावमुष्यगेष्णौ तौ गेष्णौ' [छांदो० १।७।५] (आदित्य पुरुष का जो पाद पर्व है वह अक्षि पुरुषका पाद पर्व है) इस प्रकार

अध्यात्म है और 'ऋक् और साम: पाद पर्व है' यह सर्वात्मक के विषे ही युक्त है। 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं त्वेव ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः।' [छांदो० १।७।६] (इसलिये जो ये गाने वाले वीणा में गाते हैं, वे इस ईश्वर को ही गाते हैं इसलिये वे धन से युक्त होते हैं), इस प्रकार लौकिक गायन में भी यह ही गाने योग्य है ऐसा श्रुति दिखलाती है और यह बात तब घट सकती है जब परमेश्वर का अर्थ लिया जाय। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेववा। तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंऽशसंभवम्' [भग० गी० १०।४१] (जो जो विभूति युक्त, श्रीयुक्त और बल युक्त सत्त्व हैं उन्हें मेरे तेज के अंश में से उत्पन्न हुए जान) ऐसा भगवद्गीता में कहा है इससे अनुमान होता है कि लोकों का तथा भोगों का निरंकुश स्वामित्व भी श्रुति में कहे हुए परमेश्वर को ही है।

ज्योतिर्मय मूछे हैं, ऐसा जो रूप श्रुति में कहा है, वह परमेश्वर के लिये युक्त नहीं है, ऐसा जो तुम कहते हो उसका यह उत्तर है कि साधक के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से परमेश्वर का भी मायामय रूप हो सक्ता है; क्योंकि 'माया ह्येषा मयासृष्टा यन्मांपश्यसि नारद। सर्व भूत गुणैर्युक्तं मैवंमांद्रष्टुमर्हसि' (हे नारद, तू जो मुझको ढूंढता है वह यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है, मुझको सर्व भूत गुण से युक्त ऐसा देखना तुझको योग्य नहीं है) यह स्मृति है। जहां उपाधि मात्र दूर हो ऐसे परमेश्वर के रूप का उपदेश होता है वहां 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कौशी० १।३।१५] (शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित और व्यय रहित है) इत्यादि शास्त्र है। परमेश्वर सबका कारण होने से नाना विकार धर्म से विशिष्ट परमेश्वर का भी, उपासना के लिये 'सर्व कर्मा सर्व कामाः सर्व

गन्धः सर्व रसः' [छांदो० ३।१४।२] (सर्व कर्म वाला, सर्व कामना वाला, सर्व गन्ध युक्त और सर्व रस युक्त है) इत्यादि से निर्देश होता है वैसे ही ज्योतिर्मय मूछों वाला आदि भी निर्देश हुआ है।

और श्रुति में आधार कहा है, इसलिये आदित्य पुरुष अथवा अक्षि पुरुष परमेश्वर नहीं है ऐसा जो कहा है वह भी युक्त नहीं है। अपनी महिमा के विषे प्रतिष्ठित ऐसे परमेश्वर के अमुक आधार का भी उपासनाके लिये उपदेश हो सकता है क्योंकि आकाश के समान सर्वगत होने से ब्रह्म का सर्वान्तरत्व युक्त ही है। ऐश्वर्य और मर्यादा वताने वाली श्रुति भी अध्यात्म और अधिदैवत विभाग की अपेक्षा रखती है और उपासना के अर्थ ही हैं। इसलिये आदित्य और आंखों के भीतर परमेश्वर का ही उपदेश है ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

च और **भेदव्यपदेशात्** [अन्य श्रुति में सूर्य और परमात्मा के] भेद के कथन से **अन्यः** [सूर्य से परमात्मा] भिन्न है।

आदित्यादि शरीर का अभिमान रखने वाले जीवों से अन्य अन्तर्यामी ईश्वर है क्योंकि 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोयमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यःशरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' [बृह० ३।७।९] (जो आदित्य में रहता है और आदित्य के आभ्यन्तर है, जिस को आदित्य नहीं जानता; जिसका आदित्य शरीर है, जो आदित्य को भीतर से नियम में रखता है; ऐसा यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है), इस अन्य श्रुति में जीव का और ईश्वर का भेद कहा है। इस श्रुति में आदित्य से अभ्यन्तर, जिसको आदित्य नहीं

जानता ऐसे जानने वाले आदित्य विज्ञानात्मा से अन्य अन्तर्यामी है इस प्रकार स्पष्ट भेद कहा है। वह ही अन्तर्यामी यहां आदित्य में भी पुरुष होना योग्य है, क्योंकि श्रुतियां समान अर्थ प्रतिपादन करने वाली हैं, इसलिये यहां परमेश्वर का ही उपदेश किया गया है यह सिद्ध है ॥ २१ ॥

८ आकाशाधिकरण।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

आकाशः आकाश [परमात्मा है] तल्लिङ्गात् उसके (ब्रह्म के) चिन्हों [के कथन] से।

'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशोह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' [छान्दो० १।९।१] (इस लोक का क्या आधार है? ऐसे शलावत् का पुत्र शिलक ब्राह्मण जीवल के पुत्र प्रवाहण राजा से पूछता है। राजा कहता है, आकाश आधार है यथार्थ में ये सर्व भूत आकाश में से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही अस्त होते हैं क्योंकि आकाश इनसे विशेष बड़ा है, और आकाश परम स्थान-प्रतिष्ठा है) यह श्रुति वाक्य है। इसमें संशय होता है कि आकाश शब्द परब्रह्म का अभिधान करता है अथवा भूत आकाश का, क्योंकि दोनों अर्थों में उसका प्रयोग देखने में आता है। भूत विशेष के अर्थ में तो लोक और वेद में आकाश शब्द सुप्रसिद्ध है और कहीं कहीं ब्रह्म के विषे भी इसका प्रयोग देखने में आता है। जहां वाक्य शेष के बल से अथवा असाधारण गुण के श्रवण करने से ब्रह्म का निर्धारण (निश्चय) होता है वहां ब्रह्म के अर्थ में उसका प्रयोग होता है; जैसे 'यदेष आकाश

आनन्दो न स्यात्' [तैत्ति० २।७] (जो यह आकाश आनन्द रूप न हो) और 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' [छान्दो० ८।१४] (आकाश ही नाम और रूप की सृष्टि करने वाला है वह नाम और रूप जिसके भीतर है, अथवा जो नाम और रूप के भीतर होनेसे अस्पष्ट है वह ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों में है। इसलिये संशय होता है कि इसमें भूत आकाश युक्त है अथवा परब्रह्म युक्त है।

प्रतिपक्षी:—भूत आकाश ही युक्त है क्योंकि उसका बहुत प्रसिद्ध प्रयोग होने से वही जल्दी समझ में आता है। और आकाश शब्द दोनों अर्थों में साधारण है ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा होने से अनेक अर्थता का प्रसंग आवेगा; इसलिये ब्रह्म के विषे आकाश शब्द गौण होना योग्य है। यथार्थ में विभुत्व आदि अनेक धर्म होने से ब्रह्म आकाश जैसा है। और जब मुख्य अर्थ लेना संभव हो तब गौण अर्थ ग्रहण करना योग्य नहीं हैं, इसलिए यहाँ मुख्य आकाश का ग्रहण करना ही संभव है। यदि कहो कि भूत आकाश के ग्रहण करने से तो 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (यथार्थ में ये सर्व भूत आकाश में से ही उत्पन्न होते हैं) यह और ऐसे दूसरे वाक्य युक्त नहीं होंगे, तो यह दोष नहीं है; क्योंकि भूत आकाश भी वायु आदि का क्रम करके कारण है यह युक्त ही है। 'तस्माद्वा एतस्मात्मन आकाश संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः [तैत्ति० २।१] (ऐसे इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ) इस श्रुति से ऐसा ही ज्ञान होता है। दूसरे भूतों से आकाश का विशेष श्रेष्ठत्व और परमस्थान होना भी युक्त ही है, इसलिये आकाश शब्द से भूत आकाश का ग्रहण है।

सिद्धान्ती:—आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना ही युक्त है क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (ये सर्व भूत यथार्थ में आकाश में से ही उत्पन्न होते हैं) इस श्रुति में परब्रह्म का लिंग-चिन्ह है। परब्रह्म से ही निश्चय भूतों की उत्पत्ति होती है ऐसी उपनिषदों में मर्यादा है। भूत आकाश भी वायु आदि का क्रम करके कारण है यह जो कहा वह ठीक है; परन्तु यदि मूल कारण ब्रह्म को ग्रहण न करें तो 'आकाशादेव' (आकाश से ही) ऐसा निश्चय और 'सर्वाणि' (सर्व) ऐसे 'भूतानि' (भूतों का) यह विशेषण अनुकूल न होगा अर्थात् सर्व भूतों का कारण आकाश समझा जायगा। जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (आकाश में अस्त होते हैं) इससे सर्व भूतों का आकाश में लय होता है यह कहना भी युक्त नहीं है और 'आकाशो ह्येवैभ्योज्यायानाकाशः परायणम्' (आकाश ही इनसे श्रेष्ठ है और आकाश परम स्थान प्रतिष्ठा है) यह श्रेष्ठता और परम स्थान भी भूत आकाश को बताना युक्त नहीं है 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्त रिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः [छान्दो॰ ३।१४।३] (पृथ्वी से श्रेष्ठ, अन्तरिक्ष से श्रेष्ठ, स्वर्ग से श्रेष्ठ, इन लोकों से भी श्रेष्ठ), यह श्रुति अकेले परमात्मा में ही अपेक्षारहित श्रेष्ठता दिखलाती है और परमात्मा परम कारण होने से परम स्थान भी उसके विषे ही युक्त है। और विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' [बृह॰ ३।९।२८] (विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, धन देने वाले यजमान का यह परम स्थान है) यह श्रुति है। इसी प्रकार सान्त होने का दोष होने से शालावत्यके पक्ष की निन्दा करके अनन्त के कहने की इच्छा से जैवलि ने आकाश का ग्रहण किया है और उस आकाश की उद्‌गीथ के साथ एकता करके 'स एष परोवरीयानुद्-

गीथः स एषोऽनन्तः; [छान्दो० १।६।२] (ऐसा यह उद्गीथ पर से भी पर है, वह अनन्त है) ऐसा उपसंहार किया है। यह अनन्तता ब्रह्म का लिंग है।

और यह जो कहा है कि प्रसिद्धि के बल से भूत आकाश की प्रथम प्रतीति होती है, इसका समाधान यह है; कि प्रथम प्रतीति होती है यह ठीक है तो भी वाक्य शेष में रहने वाले ब्रह्म के गुणों को देखकर उसका ग्रहण नहीं होता है। 'आकाशो वैनाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (आकाश ही नाम और रूप का प्रकाशक है), इत्यादि श्रुतियों में अनेक स्थानों पर आकाश शब्द का ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार आकाश के पर्याय वाचक शब्द का भी ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग है, जैसा कि नीचे की श्रुतियों से विदित है:—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः' [ऋ० सं० १। १६४। ३९] (आकाश प्रकृष्ट, कूटस्थ ब्रह्म के विषे वेद है, जिसमें सर्व देव अधिष्ठित हैं), सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमें व्योमन्प्रतिष्ठता।' [तैत्ति० ३। ६] ऐसी यह भृगु की वरुण को दी हुई विद्या परब्रह्म में रही हुई है) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' [छान्दो० ४। १०। ५] (ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) और 'खं पुराणम्' [ब्रह्म० ५। १] (चिरन्तन आकाश) इन सब श्रुतियों में आकाश का अर्थ ब्रह्म ही दिखलाया है।

वाक्य के आरम्भ में आये हुए आकाश शब्द का भी ब्रह्म में ही प्रयोग है ऐसा वाक्य शेष के बल से समझना युक्त है। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' (अग्नि अनुवाक का अध्ययन करता है) इसमें वाक्य के आरम्भ में आये हुए अग्नि शब्द का भी मनुष्य के अर्थ में प्रयोग है ऐसा देखने में आता है। इसलिये आकाश शब्द ब्रह्म वाचक है ऐसा सिद्ध है ॥ २२ ॥

९ प्राणाधिकरण।

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

अतः—इससे (पूर्वोक्त हेतु से) एव ही प्राणः प्राण [परमात्मा है]।

उद्गीथ प्रकरण में 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' [छांदो० १।१०।९] (हे प्रस्तोता, जो देवता प्रस्ताव में अनुगत है) ऐसे आरम्भ करके 'कतमासा देवता' [छांदो १।११।४] (वह देवता कौन है ?) इस प्रकार और 'प्राण इति होवाच सर्वाणि हवा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायता' [छांदो० १।११।५] (उसने कहा, प्राण यह प्रस्ताव देवता है, क्योंकि सर्व भूत प्राण में ही लय होते है, प्राण में से ही उत्पन्न होते हैं, वे ही ये देवता प्रस्ताव में साम गान के अंश विशेष में अनुगत हैं) ऐसी श्रुति है। इसमें संशय होता है कि प्राण शब्द से परमात्मा का कथन है अथवा प्राण वायु का कथन है। क्योंकि प्राण बन्धनं हि सोम्यमनः [छांदो० ६।८।२] (हे प्रिय, मन जिसकी उपाधि है ऐसा जीव प्राण ब्रह्म के साथ सुषुप्ति में एक हो जाता है) और 'प्राणस्य प्राणम्' [बृह० ४।४।१८] (प्राण का प्राण यानी प्रेरक) इत्यादि में प्राण शब्द का ब्रह्म के अर्थ में उपयोग दीखता है और वायु विकार के अर्थ में तो वेद और लोक में प्रसिद्ध ही है। इसलिये यहाँ कौन से अर्थ में लेना चाहिए यह शंका होती है।

पूर्वपक्षीः—वायु के विकार पंच प्रकार के प्राण का ग्रहण युक्त है, क्योंकि, इस अर्थ में प्राण शब्द विशेष प्रसिद्ध है ऐसा

हम कहते हैं। यदि सिद्धान्ती कहे कि नहीं, पूर्व के समान यहां भी ब्रह्म के लिंग से ब्रह्म का ही ग्रहण युक्त है, क्योंकि वाक्य शेष में भूतों का लय और उत्पत्ति जो परमेश्वर का कर्म है उसकी प्रतीति होती है, तो ऐसा नहीं है। क्योंकि मुख्य प्राण में भी भूतों का लय और उत्पत्ति देखने में आती है। 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्र प्राणं मनः स सदा प्रबुध्यते प्राणादेबाधि पुनर्जायन्ते' [श० प० ब्रा० १०।३।३। ६] (जब पुरुष सोता है तब वाणी प्राण में लय हो जाती है, चक्षु प्राण में, श्रोत्र प्राण में और मन प्राण में लय होजाता है, वह जब जागता है तब प्राण में से ही ये उत्पन्न होते हैं) यह श्रुति ऐसा ही कहती है। निद्रा के समय प्राण का व्यापार लोप नहीं होता और इन्द्रियों का व्यापार लोप होजाता है और प्रबोध के समय प्रगट होता है यह प्रत्यक्ष है। और इन्द्रियां भूतों का सार रूप हैं इसलिये भूतों का लय और उत्पत्ति कहने वाले वाक्य शेष मुख्य प्राण के विषे भी विरुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार प्रस्ताव देवता प्राण है ऐसा कह कर आदित्य और अन्न उद्गीथ देवता और प्रतिहार देवता हैं ऐसा कहा है और वे दोनों (आदित्य और अन्न) ब्रह्म नहीं हैं। इसलिये उनके सादृश्य से प्राण भी ब्रह्म नहीं है।

सिद्धान्तीः—ऐसा नहीं है क्योंकि सूत्रकार कहते हैं, 'अत एव प्राणः' (इसलिये ही प्राण [ब्रह्म] है) उसके (ब्रह्म के) लिंग से, ऐसा पूर्व सूत्र में निर्देश किया है। इसलिये उसके लिंग से प्राण शब्द भी परब्रह्म के अर्थ में लगाया जा सकता है। प्राण का भी याथार्थ में ब्रह्म लिंग के साथ सम्बन्ध श्रुति में कहा है। जैसे कि 'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' [छां० १।११।५] (निश्चय ये सर्व भूत

प्राण में ही लय होते हैं' प्राण में से उद्-भूत होते हैं) इसमें बताया है कि सर्व भूतों की उत्पत्ति और लय का निमित्त प्राण है इसलिये प्राण ब्रह्म है ऐसा अनुमान होता है।

पूर्वपक्षी:—यदि मुख्य प्राण का अर्थ लें तो लय और उत्पत्ति का देखना विरुद्ध नहीं है क्योंकि सोने के समय ऐसा देखने में आता है।

सिद्धान्ती:—सोते जागते समय केवल इन्द्रियों का ही लय और उत्पत्ति प्राण के आश्रित देखने में आती है, सर्व भूतों का लय और उत्पत्ति देखने में नहीं आती। यहां तो इन्द्रियों और शरीर सहित जीव से आविष्ट हुए भूतों का लय और उत्पत्ति प्राण के आश्रय में दीखती है, क्योंकि 'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि' [छान्दो० १ । ११ । ५] (ये सर्व भूत) ऐसी श्रुति है। यदि ऐसा समझें कि यह श्रुति पंच महा भूतों के अर्थ में है, तो भी यहाँ पर ब्रह्म ही का लक्षण कहा है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। सोने और जागने में विषयों के साथ इन्द्रियों का प्राण में लय और प्राण में से उत्पत्ति श्रुति में कही है। जैसे 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' [कौ० ३ । ३] जब सोता हुआ कोई मनुष्य स्वप्न नहीं देखता और इस प्राण के साथ एक हो जाता है तब इसमें सर्व नामों के साथ वाणी लीन हो जाती है) इसमें भी ब्रह्म के लिंग से प्राण शब्द ब्रह्म वाचक ही है।

आदित्य की सन्निधि से प्राण ब्रह्म वाचक नहीं है यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि वाक्य शेष के बल से प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म है ऐसा प्रतीत होता है इसलिये संनिधि निःसार है।

इसी प्रकार प्राण शब्द का अर्थ पाँच प्रकार के प्राण विशेष प्रसिद्ध है इस आक्षेप का निराकरण भी आकाश शब्द के लिये किया है वैसा ही करना चाहिये। इसलिये प्रस्ताव देवता प्राण ब्रह्म है यह सिद्ध है।

यहां पर कितने ही टीकाकार 'प्राणस्य प्राणम्' [बृह० ४।४।१८ (प्राण का प्राण-प्रेरक) और 'प्राण बन्धनं हि सोम्य मनः' [छान्दो० ६।८।२] (हे प्रिय, मन जिसकी उपाधि है ऐसा जीव-प्राण ब्रह्म के साथ सुषुप्ति में एक हो जाता है) इन दो संदिग्ध श्रुतियों का उदाहरण देते हैं यह योग्य नहीं है। क्योंकि शब्द भेद से और प्रकरण से संशय युक्त नहीं होता है। जैसे 'पितुः पिता' (बाप का बाप) इस प्रयोग में छठी विभक्ति में निर्देश किया हुआ पि अलग है और प्रथमा में निर्देश किये हुए बाप का बाप अलग है ऐसा समझा जाता है; तैसे 'प्राणस्य प्राणम्' (प्राण का प्राण-प्रेरक) इसमें शब्द भेद से प्रसिद्ध प्राण से भिन्न 'प्राण का प्राण' है ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि षष्ठी से निर्देश किये हुए पदार्थ का उसी पदार्थ से भेद निर्देश करना युक्त नहीं होता। जिसके प्रकरण में जिसका निर्देश होता है उस प्रकरण में उसीका अन्य नाम से भी निर्देश किया जाता है ऐसा समझा जाता है। जैसे ज्योतिष्टोम के प्रकरण में 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषायजेत' (प्रति वसन्त में ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करना चाहिये) इसमें ज्योतिष शब्द का ज्योतिष्टोम के अर्थ में प्रयोग हुआ है; वैसे ही परब्रह्म के प्रकरण में 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' [छान्दो० ६।८।२] (हे सोम्य, मन जिसकी उपाधि है ऐसा जीव प्राण ब्रह्म के साथ सुषुप्ति में एक हो जाता है) इस श्रुति का प्राण शब्द केवल वायु के विकार को किस प्रकार बता सकता है ? नहीं बता

सकता। इसलिये संशय का विषय न होने से ये उदाहरण युक्त नहीं हैं। प्रस्ताव देवता में तो प्राण के विषे संशय, पूर्वपक्ष और निर्णय की उपपत्ति दिखलाई है ॥ २३ ॥

१० ज्योतिरधिकरण। सू० २४। २७

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

ज्योतिः ज्योति [परमात्मा है] **चरणाभिधानात्** पाद के कथन से।

'अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदियमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' [छान्दो० ३। १३। ७] (अब जो ज्योति स्वर्ग से ऊपर, समग्र प्राणिवर्ग से ऊपर, सर्व पृथिवी आदि लोक से ऊपर तथा जिससे और कोई उत्तम नहीं है, ऐसे उत्तम लोकों में प्रकाशता है वह यह ज्योति निश्चय इस पुरुष के अन्तर में है) यह श्रुति है। इस में संशय होता है कि यहाँ ज्योति शब्द से आदित्य आदि ज्योति का कथन है अथवा परमात्मा का कथन है। दूसरे अर्थ में प्रयोग किये शब्द भी ब्रह्म के लक्षण होने के कारण ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग किये गये हैं ऐसा कहा है। परन्तु इस में तो ब्रह्म के लक्षण ही हैं अथवा नहीं हैं, इस का विचार करना है।

प्रतिपक्षीः—ज्योति शब्द से यहां प्रसिद्धि के कारण आदित्य आदि ज्योति का ही ग्रहण होता है। तमस् (अंधकार) और ज्योषिम् (ज्योति) ये दो शब्द परस्पर विरोधी अर्थ में लगाये जाते हैं यह प्रसिद्ध है। नेत्र के व्यापार को रोकने वाला रात्रि आदि का अंधेरा है और उसी व्यापार का सहायक सूर्य आदि

की ज्योति है। इसी प्रकार 'दीप्यते' (प्रकाशता है) यह श्रुति आदित्य आदि में लगाई जाती है। ब्रह्म रूपादिसे हीन है उसका मुख्य अर्थ इस श्रुतिमें लगाना योग्य नहीं है, क्योंकि स्वर्गलोक उस (ज्योति) की मर्यादा है ऐसा श्रुति कहती है। इसलिये ज्योति का अर्थ आदित्य की ज्योति करना ठीक है, क्योंकि चराचर का बीज, सर्व का आत्मा, ऐसा जो ब्रह्म है उसकी मर्यादा स्वर्ग लोक बताना युक्त नहीं है। ज्योतिरूप जो परिच्छिन्न कार्य हो उसकी मर्यादा स्वर्ग हो सकती है। स्वर्ग से पर ज्योति है ऐसा ब्राह्मण ग्रंथ कहता है। यदि कहो कि कार्यरूप ज्योति (सूर्य आदि) सर्वत्र विद्यमान है इसलिये स्वर्गलोक आदि उसकी मर्यादा है ऐसा कहना युक्त नहीं, तो जो प्रथम उत्पन्न हुआ और त्रिगुणित (अन्न और जल के साथ मिला हुआ) नहीं हुआ है ऐसे तेज को ज्योति समझो। यदि कहो कि यह ठीक नहीं क्योंकि त्रिगुणित न किये हुए तेज से कुछ भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता, तो वह उपास्य है यही उसका उपयोग है। यदि कहो कि दूसरे प्रयोजन से प्रयुक्त आदित्य आदि ही उपास्य हैं ऐसा देखनेमें आता है, वैसेही, 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' [छां० ६। ३। ३] (उनमें से प्रत्येक को त्रिगुणित करूं) यह श्रुति (किसी एक को त्रिगुणित करूं इस प्रकार) भेद नहीं दर्शाती। तथा त्रिगुणित न किये हुए तेज की स्वर्गलोक मर्यादा है ऐसा भी प्रसिद्ध नहीं है, तो त्रिगुणित किया हुआ तेज ही ज्योति शब्द का अर्थ है ऐसा मानो। जो तुमने कहा कि अग्नि आदि ज्योति स्वर्ग से नीचे भी है तो उसका उत्तर यह है कि यह दोष नहीं है। सर्वत्र गम्यमान ज्योति का भी 'परो दिवः' (स्वर्गलोक से परे) इस प्रकार विशेष उपासना के

लिये उसके एक विशिष्ट प्रदेश का ग्रहण विरुद्ध नहीं है। परन्तु ब्रह्म जो प्रदेश रहित है उसके प्रदेश विशेष की कल्पना युक्त नहीं है। 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेषु' [छान्दो० ३ । १३ । ७] (सर्व भू आदि लोक से ऊपर जिससे कोई उत्तम नहीं है ऐसे उत्कृष्ट लोक में) यह वहु आधार वाचक श्रुति कार्य ज्योतिके विषय में विशेष युक्त है। 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पूरुषे ज्योति' [छान्दो० ३ । १३ । ७] (इस पुरुष में जो अंदर की ज्योति है यह वह ही है) इसमें वह उदरस्थ ज्योतिके विषेपर ज्योति आरोप की हुई जान पड़ती है और आरोप के लिये साद्दश्य होता है; जैसे 'तस्य भूरिति शिर एकंशिर एकमेतदक्षरम्' [बृह० ५ । ५ । ३] (उसका यानी पुरुषका भू शिर है; क्योंकि शिर एक है और वह अक्षर भी एक है)। उदरस्थ ज्योति ब्रह्म नहीं है यह प्रसिद्ध है क्योंकि 'तस्यैषा दृष्टि' 'तस्यैषा श्रुतिः' [छान्दो० ३ । १३ । ७] (यह उसकी दृष्टि है, यह उसकी श्रुति है) यह श्रुति उसमें उष्णता और एक प्रकार का घोष होता है यह वताती है। 'तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' [छान्दो० ३ । १३ । ७] (वह यह दृष्ट है और श्रुत है ऐसे उपासना करना चाहिये) इस श्रुति से और 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' [छान्दो० ३ । १३ । ७] (जो ऐसा जानता है वह दर्शनोय और विख्यात होता है) इस प्रकार अल्प फल बताने वाली श्रुति से ज्योति ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म की उपासना का श्रेष्ठ फल होना चाहिये।

प्राण और आकाश के समान ज्योति के लिये भी कोई दूसरा ब्रह्म का लक्षण इस वाक्य में नहीं बताया हैं। पूर्व वाक्य में भी वह निर्दिष्ट नहीं है क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्व भूतम्' [छान्दो० ३।१२।१] (ये सर्व भूत गायत्री ही हैं) इस प्रकार

उसमें छन्द को निर्दिष्ट किया है। और पूर्व वाक्य में किसी प्रकार ब्रह्म निर्दिष्ट है ऐसा माने तो भी यहां उसका प्रत्यभिज्ञान नहीं है क्योंकि उसमें 'त्रिपा-दस्यामृतंदिवि' (उसके तीन पाद द्यु लोक में अमृत हैं) इस श्रुति में वह द्यु लोक का आधार है ऐसा कहा है और यहाँ तो 'परोदिवो ज्योतिः' (द्यु लोक से पर ज्योति) इसमें द्यु लोक मर्यादा है ऐसा सुना जाता है। इसलिये साधारण ज्योति का यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

सिद्धान्तोः—यहां चरण के अभिधान से ज्योति को ब्रह्म समझना चाहिये, क्योंकि पूर्व वाक्य में 'तावानस्यमहिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [छान्दो० ३।१२।६] (इतनी उसकी महिमा है, इससे पर पुरुष है, इसका एक पाद सर्व भूत है और द्यु लोक में तीन पाद अमृत हैं) इस मंत्र में चार पद कहे हैं और चार पद वाले ब्रह्म के तीन पाद अमृत द्यु लोक संबन्धी बताये हैं वे ही द्यु लोक सम्बन्धी यहाँ हैं ऐसा समझा जाता है। इसका परित्याग करके प्राकृत ज्योति की कल्पना करने वाले को प्रकृत का त्याग और अपकृत की प्राप्ति का प्रसंग आवेगा! और ज्योतिर्वाक्य में ही ब्रह्म की अनुवृत्ति है ऐसा नहीं है, परन्तु शाण्डिल्य विद्या में भी ब्रह्म की अनुवृत्ति है. इसलिये यहां ज्योति को ब्रह्म समझना चाहिये। ज्योतिर्दीप्यते' [छान्दो० ३।१३।७] (ज्योति प्रकाशती है) यह शब्द कार्य रूप ज्योति के विषे प्रसिद्ध है, ऐसा जो कहा है, सो दोष नहीं है। प्रकरण से ब्रह्म का ज्ञान होने पर ये दो शब्द कुछ विशेष नहीं करते। दीप्यमान जो कार्य ज्योति उससे उपलक्षित ब्रह्म के विषे भी प्रयोग संभव है और 'येन सूर्यस्त पति तेज्ञसेद्धः' [तै० ब्रा० ३।१२।९।७] (जिस तेज से दीप्त सूर्य तपता है) ऐसा मंत्र है। ज्योति शब्द नेत्र व्यापार के अनुग्राहक

तेज के अर्थ में भी नहीं है; क्योंकि दूसरे अर्थ में भी प्रयोग देखने में आता है, जैसे कि, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते [बृह० ४।३।५] (यह वाणी रूप ज्योति द्वारा ही है) और ,मनो ज्योतिर्जुष-ताम्' [तै०ब्रा० १।३।३।३] (मन रूप ज्योति का सेवन करो)। इसलिये जो जो जिस जिसका प्रकाशक है उस उसके विषे ज्योति शब्द का अभिधान होता है, ऐसा होने से चैतन्य रूप ब्रह्म जो समस्त जगत् के प्रकाश का हेतु है उसके विषे ज्योति शब्दयुक्त है और इन दो श्रुतियो से भी वही युक्त है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' [कौ० २।५।१५] (उसके प्रकाशने से पीछे सर्व प्रकाशता है, उसके प्रकाश से ये सर्व प्रकाशते हैं) और 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृह० ४।४।१६] उसको देव ज्योतियों के ज्योति, आयु और अमृत के समान उपासते हैं)।

सर्वगत ब्रह्म की स्वर्ग मर्यादा युक्त नहीं है, ऐसा जो कहा है उसका उत्तर यह है कि सर्वगत ब्रह्म के विषे भी उपासना के निमित्त प्रदेश विशेष का ग्रहण विरुद्ध नहीं है। यदि कहो कि प्रदेश रहित ब्रह्म की प्रदेश विशेष कल्पना युक्त नहीं है, तो यह दोष नहीं है; क्योंकि प्रदेश रहित ब्रह्म की भी अमुक उपाधि के सम्बन्ध से प्रदेश विशेष कल्पना युक्त है और आदित्य के विषे, नेत्र के विषे, हृदय के विषे, ऐसे अमुक २ प्रदेश में ब्रह्म की उपासना श्रुति में बताई है। इसलिये 'विश्वतः पृष्ठेषु (सबसे ऊपर) इस प्रकार उसके बहुत आधार बताये हैं सो युक्त है।

और ऐसा जो कहा है कि उष्णता और घोष से अनुमान किये हुए कुक्षिस्थ कार्य ज्योति के विषे आरोपित स्वर्गलोक से भी पर ज्योति कार्य ज्योति ही है; यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि नामादि, प्रतीकों के समान परब्रह्म का कुक्षिस्थ ज्योति रूप

प्रतीक भी युक्त है। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' (वह दृष्ट है और श्रुत है, ऐसी उपासना करना चाहिये) यह दृष्टपना और श्रुतपना प्रतीक द्वारा होगा।

अल्प फल बताने से ब्रह्म नहीं है ऐसा जो कहा है वह युक्त नहीं, क्योंकि इतने फल के लिये ब्रह्म का आश्रय लेना चाहिये और इतने के लिये न लेना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। वास्तविक तो जहाँ जिसमें से सर्व विशेष का सम्बन्ध जाता रहा है, ऐसे परब्रह्म को आत्म स्वरूप उपदेश किया है, वही एक मोक्ष रूप फल है ऐसा समझा जाता है और जहाँ गुण विशेष के सम्बन्ध वाले अथवा प्रतीक विशेष के सम्बन्ध वाले ब्रह्मका उपदेश किया है वहाँ संसार सम्बन्धी अनेक फल देखने में आते हैं। जैसे कि 'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु एवं वेद बृह० ४।४।२४] (वह यह आत्मा सब अन्न का खाने वाला, धन का देने वाला है, जो ऐसा समझता है वह धन को पाता है) इत्यादि श्रुति में है।

यद्यपि ज्योति सम्बन्धी वाक्य में ब्रह्म लिंग कहा नहीं है तो भी पूर्व वाक्य में जो दीखता है उसे ग्रहण करना चाहिये। इसलिये सूत्रकार ने कहा है :—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ज्योति ब्रह्म है, चरण के अभिधान से)।

दूसरे वाक्य में आये हुए ब्रह्म की संनिधि से ज्योति श्रुति स्वविषय से किस रीति से दूर हो सकती है, ऐसा जो कहो तो यह दोष नहीं है। 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' (जो द्यु लोक से पर ज्योति है), इसमें सबसे पहले आये हुए 'यत्' (जो) सर्व नाम शब्द द्वारा द्यु सम्बन्ध से पूर्व वाक्य में कहे हुए ब्रह्म का प्रत्यभिज्ञान और अपनी सामर्थ्य से ब्रह्म का परामर्श होता है। इसलिए ज्योति शब्द भी तात्पर्य से ब्रह्म विषयक है यह युक्त है। इसलिये ज्योति को यहां ब्रह्म समझना चाहिये ॥ २४ ॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पण निगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

छन्दोभिधानात् छन्द के कथन से न नहीं इति ऐसा चेत् [जो कहो] तो न [वैसा] नहीं हैं तथा उसके द्वारा चेत्तोर्पणनिगदात् चित्त के [ब्रह्म में] समाधान के कथन से तथाहि वैसा ही दर्शनम् श्रुति वाक्य [है]।

(पूर्व सूत्र के पूर्वपक्ष में) जो कहा है कि पूर्व वाक्य में भी ब्रह्म का सूचन नहीं है; क्योंकि, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च' [छांदो० ३।१२।१] (यह सब प्राणी समूह और यह जो कुछ है वह सब गायत्री ही है), इसमें गायत्री नाम के छन्द का सूचन है ब्रह्म का सूचन नहीं है इसका खण्डन करना चाहिये।

जब कि उसी श्रुति में 'तावानस्य महिमा' (इतनी उसकी महिमा है), इस ऋचा में चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन किया है फिर छन्द के सूचन से ब्रह्म का सूचन नहीं है यह कंसे कह सकते हैं ?

पूर्वपक्षी:—यह प्रमाण ठीक नहीं है क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्वम्' (यह सर्व गायत्री ही है) इस प्रकार गायत्री का उपक्रम करके, गायत्री के ही भूत, पृथ्वी, शरीर; हृदय, वाणी और प्राण ये भेद करके वही चार पाद वाली और छः प्रकार की गायत्री है ऐसा कहा है; और यही 'एतावानस्य महिमा' (इतनी इसकी महिमा है) इस ऋचा से कहा गया है। इस प्रकार जिसके स्वरूप का व्याख्यान किया है ऐसी गायत्री में कहा हुआ मंत्र चतुष्पाद ब्रह्म का एक दम किस प्रकार सूचन

करे ? उसी में 'यद्वै तद् ब्रह्म' [छान्दो० ३।१२।७] (वह यानी ज़िस का वर्णन किया हुआ है, वह ब्रह्म है) इसमें जो ब्रह्म शब्द है वह भी छन्द का प्रकरण होने से छन्द का ही वाचक है, क्योंकि 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' [छान्दो० ३।११।३] (जो इस ब्रह्मोपनिषद् को-वेद रहस्य को इस प्रकार जानता है) इसमें ब्रह्मोपनिषद् का वेद का उपनिषत् ऐसा व्याख्यान किया हैं इसलिये छन्द के सूचन से ब्रह्म प्रकृत नहीं है।

सिद्धान्तीः—यह तेरा कहना ठीक नहीं है, 'तथाचेतोऽर्पण निगदात् (चित्त के अर्पण के कथन से) अर्थात् गायत्री नाम छन्द द्वारा उसमें रहने वाले ब्रह्म में चित्त का आरोपण— समाधान है इसलिये ब्राह्मण यंत्र में कहा है कि गायत्री वा इदं सर्वम्' (यह सर्व गायत्री ही है)। वास्तविक अक्षर स्वरूप जो गायत्री है वह सर्वात्मक नहीं हो सकती। इसलिये गायत्री नाम के विकार में रहने वाला जगत् का कारण जो ब्रह्म है वह ही सर्व है जैसे 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' [छान्दो० ३।१४।१] (यह सर्व निश्चय ब्रह्म है) इस श्रुति में कहा है।

कार्य कारण से अभिन्न है ऐसा 'तदनन्यत्वमारम्भण- शब्दादिभ्यः' [ब्रह्म सूत्र० २।१।१४] (कार्य कारण की अनन्यता है, आरम्भण शब्दादि से) इसमें कहेंगे। इसी प्रकार दूसरे स्थलपर भी 'एतं ह्येव बहृ्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छान्दोगाः' [ऐत० आ० ३।२।३।१२] (इस परमात्मा को ही ऋग्वेद वाले महान् उक्थ नामक स्तोत्र से उपासते हैं, इसी को यजुर्वेद वाले अग्नि के विषे उपासते हैं, इसी को सामवेद वाले महाव्रत क्रतु में उपासते हैं) इसमें विकार द्वारा ब्रह्म की उपासना देखने में आती है।

इसलिये, छन्दके सूचनमें भी पूर्व वाक्य में ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। ज्योति वाक्य में भी दूसरी प्रकारको उपासनाका विधान करनेके लिये उसीका परामर्श किया है।

दूसरे कहते हैं कि गायत्री शब्द से संख्या की समानता के कारण साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादन होता है; जैसे गायत्री में छः अक्षर वाले चार पाद होने से चतुष्पाद है वैसे ही ब्रह्म भी चतुष्पाद है। इसी प्रकार अन्य स्थान पर भी छन्द के सूचन करने वाले शब्द की संख्या की समानता से उनका दूसरे अर्थ में प्रयोग देखने में आता है; जैसे 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' [छान्दो० ४।३।८] (ऐसे ये पांच और दूसरे पांच, दश होकर उनका कृत कहलाता है) ऐसा उपक्रम करके 'सैषा विराडन्नादी' [छान्दो० ४।३।८] (वह यह अन्न भक्षक विराट् है) इस पक्ष में ब्रह्म का ही सूचन किया है इसलिये छन्द का सूचन नहीं है। पूर्व वाक्य में तो सर्व प्रकार से ब्रह्म ही प्रकृत है ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

च और भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः भूतादि रूप अवयवों के कथन का [ब्रह्म में ही] संभव होने से एवम् इस प्रकार (गायत्री शब्द से) [गायत्री अवच्छिन्न ब्रह्म ही कहा गया है]।

सिद्धान्तीः—पूर्व वाक्य में ब्रह्म को इस कारण से भी प्रकृत मानना चाहिये कि श्रुति गायत्री के भूतादि पाद बताती है। भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय का कथन करके श्रुति कहती हैं, 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' (वह यह चार पाद वाली छः प्रकार की गायत्री है)। यदि ब्रह्म का आश्रय न करें यानी ब्रह्म के चार पाद न मानें तो केवल छन्द के भूतादि पाद युक्त

नहीं हो सक्ते और 'तावानस्य महिमा' (उसकी इतनी महिमा है) इससे भी संबंध नहीं घट सकता। इस ऋचा से ब्रह्म का ही सूचन होता है क्योंकि पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [छान्दो० ३ । १२ । ५] (सर्व भूत इसका एक पाद है और आकाश में अमृत तीन पाद हैं) इस श्रुति से सर्वात्मता युक्त है। पुरुष सूक्त में भी यह ऋचा ब्रह्म विषयक ही कही गई है। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [भग० गी० १० । ४२] (इस संपूर्ण जगत् को एक अंश से व्याप्त कर के मैं स्थित हूँ) यह स्मृति भी ब्रह्म का ऐसा ही स्वरूप दर्शाती है। 'यद्वै तद्ब्रह्म' [छान्दो० ३ । १२ । ७] (जो कुछ है, वह ब्रह्म है) यह कथन भी मुख्य अर्थ में ही युक्त होता है। 'पंच ब्रह्म पुरुषाः' [छान्दो० ३ । १३ । ६] (पाँच ब्रह्म पुरुष), इस श्रुति में हृदय के छिद्रों में ब्रह्म पुरुष हैं ऐसा कहा है वह भी पूर्व वाक्य का ब्रह्म के साथ संबंध न हो तो युक्त नहीं होता। इसलिए पूर्व वाक्य में ब्रह्म प्रकृत है और उसी ब्रह्म का ज्योतिर्वाक्यमें द्यु सम्बन्ध से परामर्श किया गया है ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

उपदेश भेदात् उपदेश के भेद से [ब्रह्म का ज्ञान] न नहीं होता इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [वह संभव] नहीं [है] उभयस्मिन् दोनों में अपि भी अविरोधात् विरोध न होने से।

पहिले (पूर्वपक्ष में) कहा था कि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इसमें सप्तमी से आकाश आधार बताया है और 'अथ यदतः परो दिव' (अब जो इस द्युलोक से पर है) इसमें पंचमी से मर्यादा

बताई है इसलिये उपदेश के भेद से उस (ब्रह्म) का यहाँ ज्ञान नहीं हो सकता, उसका खण्डन करना चाहिये।

यह दोष नहीं है क्योंकि उन दोषों में विरोध नहीं है। दोनों से--सप्तमी और पंचमी से उपदेश में ज्ञान के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। जैसे लोक में वृक्ष के अग्र भाग में बंधे श्येन पक्षी के लिये 'वृक्ष के अग्र भाग में श्येन है' वृक्ष के अग्र भाग से परे श्येन है' ऐसा दोनों रीति का कथन देखने में आता है; इसी प्रकार आकाश में रहने वाला ब्रह्म 'आकाश से पर है' ऐसा उपदेश किया गया है। दूसरी प्रकार जैसे लोक में वृक्ष के अग्र भाग में न बन्धे हुए श्येन पक्षी को 'वृक्ष के अग्र भाग में श्येन पक्षी' और 'वृक्ष के अग्र भाग से परे श्येन पक्षी' ऐसे दोनों प्रकार कहने में आता है, ऐसे ही 'आकाश से पर' ऐसा भी ब्रह्म 'आकाश में है' ऐसा उपदेश किया गया है। इसलिये पूर्व निर्दिष्ट ब्रह्म का ही यहाँ ज्ञान है। इस कारण ज्योति शब्द के प्रकरण में परब्रह्म ही है, यह योग्य है॥ २७॥

११ प्रतर्दनाधिकरण। सू० २८-३१

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥

प्राणः प्राण [परमात्मा है] तथा ऐसे ही अनुगमात् समन्वय से।

कौषीतकि ब्राह्मण—उपनिषद में इन्द्र और प्रतर्दन की आख्यायिका-प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' (दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रम के हेतु से इन्द्र के धाम को गया) ऐसा आरम्भ करके कही है। इस विषय में 'सहोवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं

मामायुरमृतमित्युपास्व' (उसने कहा। मैं प्राण हूँ तू मेरी आयु और अमृत के समान उपासना कर) यह श्रुति है। इसी प्रकार आगे भी 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' [कौ० ३।१।२।३] (पीछे, वास्तविक, प्राण ही प्रज्ञात्मा रूप म इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है) यह श्रुति और 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (वाणी के जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जाने) इत्यादि और अन्त में 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः [कौ० ३।८] वह यह प्राण हो प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) यह श्रुति है।

इसमें संशय होता है कि यहां प्राण शव्द से वायु मात्र का, देवतात्मा का, जीव का अथवा परब्रह्म का ग्रहण है ? यदि कहो कि 'अत एवं प्राणः' [सूत्र २३] (इसीलिये प्राण है) इस सूत्र में प्राण शब्द ब्रह्म विषयक है ऐसा कहा है और यहां भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' (आनन्द अजर और अमृत है) इत्यादि ब्रह्म लिंग है तो यहां संशय किस प्रकार संभव है, तो हम कहते हैं कि अनेक लिंग के देखने से संशय होना संभव है। यहां केवल ब्रह्म लिंग उपलब्ध है ऐसा नहीं है; यहां पर और भी लिंग हैं। 'मावेव विजानीहि' [कौ० ३ । १] (मुझे ही जान) यह इन्द्र का वचन देवतात्मा का लिंग है इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है) यह प्राण का लिंग है; 'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्' (वाणी के जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जाने) इत्यादि जीव का लिंग हैं; इसलिये संशय युक्त हैं।

प्रसिद्धि से प्राण अर्थात् वायु ऐसा अर्थ करना ठीक है 'यह जो कहा उसका समाधान यह है, कि जिस प्रकरण में प्राण

शब्द है वह प्रकरण ब्रह्म वाचक है; क्योंकि पूर्वापर सम्बन्ध का विचार करने से वाक्यों के पदार्थों का समन्वय ब्रह्म के प्रतिपादन में होता है ऐसा प्रतीत् होता है। प्रथम तो उपक्रम में 'वरं वृणीष्व' (वर मांगो) ऐसा इन्द्र ने प्रतर्दन से कहा है और प्रतर्दन ने परम पुरुषार्थ रूप वर माँगा है—'त्वमेव मे वृणीष्व य त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे, (तू मुझे वही वरदान दे जो वरदान तू मनुष्यों के लिये सब से अधिक हित कारक मानता है) तब सब से अधिक हितकारक बताया हुआ प्राण परमात्मा क्यों न हो ? अवश्य होना चाहिये, क्योंकि परमात्मा के ज्ञान से अधिक हितकारक और किसी का ज्ञान नहीं हैं जैसा इस श्रुति से सिद्ध हैं -'तमेव विदित्वाति मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [श्वे० ३।८] (उसको जानकर ही मृत्यु को उल्लंघन करता हैं उस तक पहुँचने का दूसरा मार्ग नहीं है) इसी प्रकार दूसरी श्रुति से भी यह ही सिद्ध हैं 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन भ्रूण हत्यया' [को० ३ । १] (वह जो मुझको जानता है उसका लोक किसी कर्म से, चोरी से, अथवा गर्भ हत्या से हिंसा को प्राप्त नहीं होता) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म का ग्रहण ही घटता हैं। (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' [मु० २ । २ । ८] (उस पर और अपर (ब्रह्म) के ज्ञान होने पर उसके कर्म क्षय हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतियों में कर्म का क्षय ब्रह्म विज्ञान से ही प्रसिद्ध है ।

प्रज्ञात्मत्व भी ब्रह्म पक्ष में ही घटता है, अचेतन वायु में प्रज्ञात्मत्व संभव नहीं है। इसी प्रकार उपसंहार में भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' ऐसा आनन्द आदि ब्रह्म के सिवाय और किसी में होना संभव नहीं है। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्

भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यउन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तंयमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते' और 'एष लोकाधिपतिरेषलोकेशः' [कौ० ३।८] (वह शुभ कर्म से वड़ा नहीं होता और अशुभ कर्म से छोटा नहीं होता, क्योंकि यह ही उससे शुभ कर्म कराता है जिसको यह लोक से ऊंचा ले जाना चाहता है, और यह ही उससे अशुभ कर्म कराता है जिसको लोकों से नीचे स्थान को ले जाना चाहता है) और (यह लोकाधिपति है, यह लोकेश है) यह श्रुति है। ये सब श्रुतियां परब्रह्म का आश्रय करके ठीक ठीक समझ में आ सकती हैं, मुख्य प्राण का आश्रय करके समझ में नहीं आतीं। इसलिये प्राण का अर्थ ब्रह्म ही है ॥२८॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म
सम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

वक्तुः वक्ता का आत्मोपदेशात् शरीर के उपदेश से [प्राण शब्द का वाच्य ब्रह्म नहीं है। इन्द्र का शरीर है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [यह संभव] नहीं है। हि क्योंकि अस्मिन् इसमें (इस अध्याय में) अध्यात्म सम्बन्ध भूमा प्रत्यगात्मा के सम्बन्ध का बाहुल्य [है]।

पूर्वपक्षी:— प्राण को ब्रह्म कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकरण में प्राण शब्द है वह परब्रह्म का वाचक नहीं है, क्योंकि वक्ता अपने शरीर का उपदेश करता है। वक्ता ने अपने इन्द्र नाम के देह धारी देवता विशेष को 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) ऐसा उपक्रम करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' (मैं प्राण प्रज्ञात्मा हूँ) ऐसा अहंकार रखते हुए प्रतर्दन से जिस प्राणको

वक्ता ने आत्मा बताया है वह प्राण ब्रह्म किस प्रकार हो ? ब्रह्म वक्ता हो ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अवागमनाः' [बृह० ३।८।८] (वाणी रहित, मन रहित) यह श्रुति है। देह के सम्बन्ध रखने पर ब्रह्म में ऐसा होना सम्भव नहीं है 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम् (तीन मस्तक वाले त्वष्टा के पुत्र को मैंने मारा, वेदान्त से विमुख यतियों को मैंने वन के कुत्तों को दिया) इत्यादि वचनों से इन्द्र ने अपनी स्तुति की है। इन्द्र प्राण है, इन्द्र के बलवान् होने से यह बात युक्त ही है। 'प्राणो वै बलम्' (प्राण ही बल है) ऐसा समझा जाता है और इन्द्र बल का प्रसिद्ध देवता है। बल की जो प्रकृति है वह इन्द्र का ही कर्म है ऐसा कहते हैं। देवताओं का आत्मा भी प्रज्ञात्मा है ऐसा संभव है, क्योंकि उनका ज्ञान अप्रतिहत यानी अखंड है। देवता अप्रतिहत—अखड ज्ञान वाले हैं ऐसा कहते हैं। इस प्रकार देवतात्मा का उपदेश सिद्ध हुआ। हितत-मता आदि वचन उसको ही लागू होते है इसलिये यह वक्ता इन्द्र का अपने लिये कथन होने से प्राण ब्रह्म नहीं है।

समाधानः—'इस अध्याय में अध्यात्म संबंध अधिक है' अध्यात्म अर्थात् प्रत्यगात्मा के संबंध का बाहुल्य आधिक्य इस अध्याय में देखने में आता है। 'यावद्धयस्मिन् शरीरे प्राणो-वसति तावदायुः' (जब तक इस शरीर में प्राण बसता है तब तक आयु है) यह श्रुति प्रज्ञात्म, प्रत्यग्भूत प्राण ही आयु देने और उपसंहार करने में स्वतंत्र है, बाह्य देवता विशेष नहीं है ऐसा दिखलाती है। इसी प्रकार 'अस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेय-सम्।' [कौ० ३ । २] (यदि प्राण हों तो शरीर में इन्द्रियों की स्थिति है) यह श्रुति इन्द्रियों का आश्रय प्रत्यगात्मा प्राण को ही दिखलाती है। इसी प्रकार 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं

परिगृह्योत्थापयति' [कौ० ३ । ३] (प्राण ही प्रत्यगात्मा इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है) और 'न वाचं विजिज्ञा-सीत वक्तारं विद्यात्' वाणी को जानने की इच्छा न करे वक्ता को जाने) ऐसा उपक्रम करके 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभा-वरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्राः स्वर्पिता प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (इसलिये जैसे रथ के आराओं में नेमि लगी हुई है और नाभि के विषे आरे लगे हैं, इसी प्रकार ये भूतमात्रायें प्रज्ञामात्राओं के विषे लगी हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में लगी हैं । ऐसा यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) इस प्रकार विषय और इन्द्रियों के व्यवहार रूप आराओं के नाभिभूत प्रत्यगात्मा का ही उपसंहार किया है । 'स म आत्मेति विद्यात्' (वह मेरा आत्मा है, ऐसा जानना चाहिये) ऐसा उपसंहार प्रत्यगात्मा को ग्रहण करें तभी युक्त है, वाह्य देवताका ग्रहण करें तो युक्त नहीं है । 'अयमात्मा व्रह्म सर्वानुभूः' [बृह० २।५।१६] (यह आत्मा व्रह्म है, सबको प्रत्यक्ष है) ऐसी दूसरी श्रुति है; इसलिये यहां अध्यात्म का अधिक सम्वन्ध होने से यह व्रह्म का ही उपदेश है, देवता का उपदेश नहीं है ॥ २६ ॥

तव वक्ता ने अपना निर्देश किस प्रकार किया है, यह कहते हैं :—

शास्त्र दृष्टया तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

वामदेववत् वामदेव की समान **शास्त्रदृष्ट्या** शास्त्र दृष्टि से **तु** [इन्द्र ने] भी **उपदेशः** उपदेश किया है ।

इन्द्रनाम के देवता ने ऋषि प्रणीत शास्त्रों द्वारा अपने आत्माको परमात्मा रूपसे 'मैं ही व्रह्म हूँ' इस प्रकार यथाशास्त्र

जानकर, उसीके अनुसार उसने 'मामेव विजानीहि' (मुझ को ही ज्ञान) ऐसा उपदेश किया है। जैसे 'तद्धै तत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (उस ब्रह्म को–इस आत्मा को ही–मैं ब्रह्म हूँ ऐसा देख कर ऋषि वामदेव ने मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ ऐसा ज्ञान प्राप्त किया) ऐसे ही इन्द्र ने उपदेश किया है, क्योंकि 'तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' [बृह० १।४।१०] (उन देवों में, जिसको आत्मज्ञान हुआ वह प्रतिबुद्ध आत्मा ब्रह्म हुआ) ऐसी श्रुति है और 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) ऐसा कह कर इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र का वध आदि देह के धर्मों से अपनी स्तुति की है, ऐसा जो कहा है उसका समाधान इस प्रकार करना चाहिये–त्वष्टा के पुत्रके वध आदि का यह उपन्यास 'मैं ऐसे पराक्रम वाला हूँ इसलिये मेरा ज्ञान प्राप्त कर', विज्ञेय इन्द्र की स्तुति के लिये नहीं है किंतु विज्ञान की स्तुति के लिये है। क्योंकि, त्वाष्ट्र वध आदि साहस का उपन्यास करके विज्ञान की स्तुति का 'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मा वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' (ऐसे मेरा बाल भी बांका नहीं होता, जो मुझे जानता है उसका मोक्ष किसी कर्म से भी नष्ट नहीं होता) इत्यादि उत्तर वाक्यों से अनुसंधान किया है। तात्पर्य यह है कि ऐसा जो क्रूर कर्म करने वाला मैं हूँ, ब्रह्म स्वरूप होने पर मेरा बाल भी बांका नहीं होता और जो अन्य कोई मुझको जानता है उसका मोक्ष किसी कर्म से भी नष्ट नहीं होता। विज्ञेय तो 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' (मैं प्राण हूँ प्रज्ञात्मा हूँ) इस प्रकार वक्ष्यमाण ब्रह्म ही है। इसलिये ये वाक्य ब्रह्म विषयक हैं॥ ३० ॥

जीव मुख्य प्राण लिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादा-श्रितत्वादिह तद्योगात् ।। ३१ ।।

जीवमुख्य प्राणलिङ्गात् [श्रुति में] जीव के और मुख्य प्राण के लिग से न (वहां ब्रह्म की उपासना) नहीं [है] इति ऐसा चेत् [जो कहो] तो न [यह संभव] नहीं [है] उपासात्रैविध्यात् उपासना की त्रिविधता होने से आश्रितत्वात् [जीव और मुख्य प्राण के] आश्रित होने से इह [वैसा ही] यहां तद्योगात् उसके योग से (ब्रह्म के लिंग के योग से) इस श्रुति में ब्रह्म का ही कथन है।

पूर्वपक्षी:—यद्यपि अध्यात्म सम्वन्ध अधिक देखने में आने से वाह्य देवता का उपदेश नहीं है तो भी प्राण वाक्य ब्रह्म विषयक नहीं हो सकता क्योंकि जीव और मुख्य प्राण के लिंग पृथक् २ है। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (वाणी को जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जाने) इत्यादि वाक्यों में जीव का लिंग स्पष्ट मिलता है। क्योंकि यहाँ वाणी आदि इन्द्रियों से व्यापार करने वाला कर्मेन्द्रियों का अध्यक्ष जीव जानने योग्य है ऐसा कहा है। इसी प्रकार 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (पीछे निश्चय प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है) इस श्रुति में मुख्य प्राण का ही लिंग है। शरीर धारण करना मुख्य प्राण का ही धर्म है, क्योंकि प्राण संवाद में वाक् आदि प्राणों (इन्द्रियों) का प्रस्ताव करके 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' [प्र० २।३]

(उनसे श्रेष्ठ प्राण बोला, मोह न करो, मैं ही पांच प्रकार से अपने को विभक्त करके इस अस्थिर शरीर को टिका कर धारण करूँगा) ऐसी श्रुति है। जो 'इमं शरीरं परिगृह्य' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं उनके लिए 'इमम्' अर्थात् इस जीव को अथवा इन्द्रिय समूह को ग्रहण करके शरीर को उठाता है ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। चेतनहोने के कारण जीव में प्रज्ञात्मता भी युक्त है। मुख्य प्राण भी, प्रज्ञा के साधन जो अन्य प्राण-इन्द्रियाँ हैं उनका आश्रय है इसलिये उसमें भी प्रज्ञात्मा युक्त ही है। प्राण का अर्थ जीव और मुख्य प्राण लें, तो प्राण और प्रज्ञात्मा साथ रहते हैं. इसलिये उनका अभेद और स्वरूप से भेद ऐसे दोनों प्रकार से बताना युक्त है; जैसे 'योवै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' [कौ० ३।४] (जो प्राण है वह प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वह प्राण है वस्तुतः ये दोनों शरीर में साथ २ बसते हैं साथ ही निकल जाते हैं। प्राण का अर्थ ब्रह्म लें तो कौन किसमें से भिन्न हो ? इसलिये यहाँ जीव और मुख्य प्राण, इन दोनों में से एक अथवा दोनों समझने चाहिये, ब्रह्म नहीं समझना चाहिये।

सिद्धान्तीः—ऐसा जो कहोगे तो हम कहते हैं:—नहीं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानें तो तीन प्रकार की उपासना प्राप्त होती है ऐसा मानने से जीव की उपासना, मुख्य प्राण की उपासना और ब्रह्म की उपासना इन तीनों उपासनाओं का प्रसंग आवेगा, और एक ही वाक्य में तीनों स्वीकार करना युक्त नहीं है। वस्तुतः उपक्रम और उपसंहार से एक वाक्यता समझी जाती है। 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) ऐसा उपक्रम करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृत मित्युपास्स्व' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, उस मेरी आयु और अमृत के समान उपा-

सना कर) ऐसा कह कर अन्त में 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा-नन्दोऽजरोऽमृतः' (ऐसा यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) ऐसा उपक्रम और उपसंहार एक रूप दीखता है। इसलिये यहां एक ही विषय प्रतिपादित है ऐसा जानना युक्त है। ब्रह्म के लिंगों को अन्य में वदल नहीं सकते क्योंकि दश भूत-मात्रा (पंच महाभूत और शब्दादि पाँच विषय) और प्रज्ञा मात्राओं (शब्दादि विषय ज्ञान और ज्ञान इन्द्रियों) को ब्रह्म के सिवाय अन्यत्र लगाना युक्त नहीं है, क्योंकि ये (ब्रह्म के) आश्रित हैं और इसमें दूसरे स्थल पर भी ब्रह्म के लिंग कहे होने से प्राण शब्द ब्रह्म के अर्थ में लगाया गया है और यहाँ पर भी 'सबसे विशेष हितकारक' ऐसा उपदेश होने से ब्रह्म का ही उपदेश है ऐसा समझा जाता हैं। 'इदंशरीरंपरिगृह्योत्थापयति' (इस शरीर का ग्रहण करके उठाता है) ऐसा जो मुख्य प्राण का लिंग दर्शाया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि, प्राण का व्यापार भी परमात्मा के अधीन होने से परमात्मा में उसका उपचार कर सकते हैं। क्योंकि "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कंचन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' [काठ० २।५।५] (कोई जीव प्राण अथवा अपान से नहीं जाती परन्तु ये दोनों जिसमें आश्रित हैं। उस दूसरे से जीते हैं) ऐसी श्रुति हैं। 'न बाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (वाणी को जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जाने) इत्यादि जो जीव के लिंग दिखलाये हैं वे ब्रह्म पक्ष का निवारण नहीं करते। वस्तुतः जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है; क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि श्रुतियां जीव ब्रह्म की एकता दिखलाती हैं। ब्रह्म ही बुद्धि आदि उपाधियों के किये हुए भेद का आश्रय करके जो जीव है वही

कर्ता भोक्ता है ऐसा कहलाता है। उन उपाधियों के किये हुए भेद का परित्याग करके ब्रह्मस्वरूप दिखलाने के लिये 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (वाणी को जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जाने) इत्यादि से प्रत्यगात्मा के अभिमुख कराने का उपदेश विरुद्ध नहीं होता।

'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेवब्रह्मत्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते' ॥ [के० १। ४] जो वाणी से कहा नहीं जाता, जिससे वाणी बोलती है, उसको ही तू ब्रह्म जान; उसको नहीं, जिसकी लोक उपासना करते हैं) इत्यादि दूसरी श्रुतियां, वचन आदि क्रिया के व्यापार वाला आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा दर्शाती हैं।

'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतःसहोत्क्रामतः' (वस्तुतः ये दोनों इस शरीर में साथ बसते हैं और साथ ही निकल जाते हैं) इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्मा का भेद दर्शन ब्रह्मवाद में युक्त नहीं है, ऐसा जो कहा है वह दोष नहीं है, क्योंकि, प्रज्ञात्मा के उपाधिभूत ज्ञान और क्रिया शक्ति इन दोनों के आश्रय बुद्धि और प्राण को भिन्न २ कहना युक्त है। दोनों उपाधियों से भिन्न प्रत्यगात्मा स्वरूप से अभिन्न है इसलिये प्राण ही प्रत्यगात्मा है ऐसा एकीकरण करना विरुद्ध नहीं है।

अथवा, नोपासात्रैविध्यदाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इतने सूत्र भाग का यह दूसरा अर्थ भी है-ब्रह्म वाक्य में भी जीव और मुख्य प्राण के लिंग का विरोध नहीं है। क्योंकि ब्रह्म की उपासना तीन प्रकार की कही है-प्राण धर्म द्वारा, प्रज्ञा धर्म द्वारा और स्वधर्म द्वारा। उनमें 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' आयु के समान, अमृत के समान मेरी उपासना कर, आयु

प्राण है), 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है) और 'तस्मादेतदुक्थमुपासीत' (इसलिये उसकी उक्थ रूप से उपासना करे) यह प्राण धर्म है। 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकी भवन्ति तद् व्याख्यास्यामः' (अब जिस प्रकारसे इस प्रज्ञा के विषे सर्व भूत एक होते हैं' उसका व्याख्यान करूंगा) ऐसा उपक्रम करके 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत् तस्यै नाम परस्तात् प्रति विहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' (वाणी ने ही इस प्रज्ञा के एक अंग-देहार्ध को पूर्ण किया। उसकी [चक्षु आदि से] जानी हुई भूत मात्रा दूसरे आधे के विषे कारण होती है। बुद्धि द्वारा चिदात्मा वाणी पर समारोहण करके सब नामों को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रज्ञा का धर्म है। 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राःस्युः। यद्धि प्रज्ञामात्रा न स्युर्नभूतमात्राःस्युः। न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिध्येत्। नो एतन्नाना। तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूत मात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' (ऐसी ये दशों भूत मात्रा प्रज्ञा पर निर्भर हैं और दश प्रज्ञामात्रा भूतों पर निर्भर हैं। जो भूतमात्रा न हो तो प्रज्ञामात्रा न हो और जो प्रज्ञा-मात्रा न हो तो भूत भूतमात्रा न हो। क्योंकि, दोनों में से एक से कोई रूप सिद्ध नहीं होता। ये नाना नहीं हैं। जैसे रथ के आराओं में नेमि लगी होती है और नाभि में आरे लगे होते हैं, ऐसे ही भूत्रमात्रा प्रज्ञामात्रा में लगी हुई हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में रही हुई हैं, वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है), इत्यादि ब्रह्म धर्म है। इसलिये एक ब्रह्म की

उपासना इन दोनों उपाधियों के धर्मों से और स्वधर्म से ऐसे तीन प्रकार की है ऐसा कहा है। दूसरे स्थल पर भी 'मनोमयः प्राण शरीरः' [छा० ३।१४।२] प्राण जिस का शरीर है ऐसा मनोमय) इत्यादि श्रुतियों में उपाधि धर्म से ब्रह्म की उपासना का आश्रय किया है। यहां भी वही युक्त है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से वाक्यों की एकार्थता समझी जाती है और प्राण, प्रज्ञा और ब्रह्म के लिंग यहां पर दिये हुए हैं। इसलिये इसमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

इति श्री ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य भाषानुवाद
के प्रथम अध्याय का प्रथम पद
समाप्त हुआ।



प्रथम अध्याय दूसरा पाद ।

प्रथम पाद में 'जन्माद्यस्ययतः' [अ० · सू० २] इस सूत्र से ऐसा कहा है कि आकाशादि समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है। इससे जो ब्रह्म समस्त जगत्का कारण है उसके व्यापित्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्व शक्तित्व, तथा सर्वात्मत्व इस प्रकार के धर्म कहे ही गये हैं। अन्य अर्थ में प्रसिद्ध ऐसे कितने ही शब्द ब्रह्म विषयक कहे हैं ऐसा मानने के लिये हेतु का प्रतिपादन करके और कितने ही वाक्य जो स्पष्ट रूप से ब्रह्म के सूचक हैं परन्तु संदेह वाले है ऐसे सब ब्रह्म के ही सूचक हैं ऐसा पूर्व में निर्णय किया है। परन्तु दूसरे कितने ही वाक्य स्पष्ट रूप से ब्रह्म सूचक नहीं हैं किंतु संदेह वाले हैं, ऐसे वाक्य ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करते है, इसका निर्णय करने के लिये दूसरे और तीसरे पाद का प्रारम्भ किया जाता है।

१ सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण । सू० १–८

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

सर्वत्र सर्व [वेदान्त वाक्यों] में **प्रसिद्धोपदेशात्** प्रसिद्ध [ब्रह्म] के उपदेश से [इस श्रुति में भी ब्रह्म का ही निश्चय होता है]।

'सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मि लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति सक्रतुं कुर्वीत' 'मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः।' [छां० ३।१४।१,२] (वस्तुतः सर्व ब्रह्म है, क्योंकि सब उसमें से उत्पन्न होते हैं, उसमें

लय होते हैं और उसमें चेष्टा करते हैं। इसलिये, शान्त होकर उस ब्रह्म को [वक्ष्यमान गुणों से] उपासना करनी चाहिये। अब पुरुष संकल्पवान् है। पुरुष जैसे २ संकल्प वाला होता है, इस लोकसे मरण पीछे वैसे ही संकल्पों को प्राप्त होता है, इसलिये पुरुष को ब्रह्म का ही चिंतवन करना चाहिये। यह ब्रह्म मनोमय, प्राण शरीर तथा चैतन्य स्वरूप है, यह श्रुति है; इसमें संशय होता है कि यहाँपर मनोमयत्व आदि धर्म वाले जीवात्मा को उपास्य कहा है अथवा परब्रह्म को उपास्य बताया है।

प्रतिपक्षीः—शरीर और इन्द्रियों का अधिपति जो जीवात्मा है उसका मन आदि से सम्वन्ध प्रसिद्ध है, परब्रह्म के साथ उनका सम्वन्ध नहीं है, जैसा इस श्रुति से सिद्ध है—'अप्राणोह्यमनाः-शुभ्रः' [मु० २।१।२] (प्राण से रहित मन से रहित और शुभ्र) इसलिये जीवात्मा ही उपास्य है। यदि कहो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब वास्तविक ब्रह्म है) इस में ब्रह्म शब्द द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन है फिर जीवात्मा किस प्रकार उपास्य हो सकता है, तो यह दोष नहीं है; यह वाक्य ब्रह्म की उपासना की विधि नहीं बताता। तब किस की विधि बताता है? यह वाक्य शम विधि को बताता है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (वास्तविक, यह सर्व ब्रह्म है, क्योंकि उसमें से-उत्पन्न हुआ है, उसमें लय होता है और उसमें चेष्टा करता है; इसलिये शान्त होकर उस ब्रह्म की [वक्ष्यमाण गुणों से] उपासना करनी चाहिये) ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है—यह सर्वं विकार समूह ब्रह्म ही है, क्योंकि उसमें से सब उत्पन्न होता है, उसमें लय होता है और उसमें चेष्टा करता है। और सर्व एक आत्मा है रागादि उसमें संभव नहीं है, इसलिये शान्त होकर उसकी उपासना करनी चाहिये। शम वाला होकर ब्रह्म

की उपासना करे, यह वाक्य ब्रह्म की उपासना के लिये है ऐसा नियम नहीं कर सक्ते, क्योंकि उपासना का तो 'स क्रतुं कुर्वीत' (उसका क्रतु-चिन्तवन करे) ऐसा विधान किया गया है। क्रतु का अर्थ संकल्प अथवा ध्यान है। 'मनोमयः प्राणशरीरः' यह जीव-लिंग की श्रुति है, इसलिये हम कहते हैं कि यह उपासना जीव के विषे है। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सर्व कर्म वाला, सर्व कामना वाला) इत्यादि क्रम से जो श्रुति प्रतिपादित है वह जीव के लिये है। एव मे आत्माऽन्पर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वायवाद्वा' (यह मेरा आत्मा हृदय के अन्दर व्रीहि से अथवा जव से भी छोटा है), जिस का स्थान हृदय है, ऐसी स्थिति और छोटापन उस जीव का ही संभव है; जो वाल के अग्र भाग के समान है वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म होना संभव नहीं है। 'ज्यायान् पृथिव्याः' (पृथ्वी से वड़ा) इत्यादि भी परिच्छिन्न में संभव नहीं हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि छोटापन और वड़ापन एक ही में लगाना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से विरोध आवेगा। छोटापन जो प्रथम श्रुति प्रतिपादित है उसका लगाना युक्त है और बड़ापन तो ब्रह्म भाव की अपेक्षा से (जीव ब्रह्म होता है इस अपेक्षा से) होगा। इस प्रकार जीव विषय का निश्चय होने से अंत में जो ब्रह्म है उसका ही कथन है। अर्थात् 'एतद्ब्रह्म' (यह ब्रह्म है) इसमें ब्रह्म का कथन है तो भी वह जीव का परामर्श करने वाला होने से वह जीव सम्बन्धी ही है, इसलिये मनोमय आदि धर्मों द्वारा जीव की उपासना करने योग्य है।

सिद्धान्तीः—मनोमय आदि धर्मों द्वारा जीव उपास्य नहीं है, परब्रह्म ही उपास्य है, क्योंकि सर्व वेदान्त ग्रन्थों में जगत् का कारण ब्रह्म शब्द से प्रसिद्ध है। और यहां वाक्य के उपक्रम

में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (वास्तव में, यह सर्व ब्रह्म ही है) ऐसा जो श्रुति ने प्रतिपादन किया है उसका ही 'वह मनोमयादि धर्मों से विशिष्ट है' ऐसा उपदेश है, जो युक्त ही है और ऐसा होने से प्रकृत की हानि (मूल वस्तु को छोड़ देना) और अप्रकृत की प्रक्रिया (अन्य वस्तु का कथन) न होगी। यदि कहो कि वाक्य के उपक्रम में शम विधि की विवक्षा द्वारा ब्रह्म का निर्देश है, ब्रह्म की विवक्षा से नहीं है तो यद्यपि वाक्य के उपक्रम में शम विधि की विवक्षा से ब्रह्म का निर्देश है, तो भी मनोमयत्व आदि के उपदेश में वही ब्रह्म समीपवर्ती है, जीव समीपवर्ती नहीं और न जीव वाचक किसी शब्द द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार (जीव और ब्रह्म के ग्रहण में) विषमता है ॥ १ ॥

विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

च और विवक्षितगुणोपपत्तेः [उपादेयता के कारण] कहने के लिये इच्छा किये हुए गुणों की [ब्रह्म में] संगति होने से [परब्रह्म का ही उपास्य रूप से कथन है]।

जिसके कथन करने की इच्छा की जाय उसे विवक्षित कहते हैं। यद्यपि वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं है इसलिये उस (वेद) के वक्ता—बनाने वाले के अभाव से इच्छा का अर्थ लेना सम्भव नहीं है, तो भी ग्रहण रूप फल से (यानी वेद के उपदेश के ग्रहण की इच्छा अभिप्रेत होती है इसलिये यहाँ पर इच्छा का) ऐसा अर्थ गौण रूप से लिया जाता है। लोक में 'स्वीकार करने योग्य' ऐसे शब्द से कहा हुआ होता है वह विवक्षित और दूसरा अविवक्षित कहलाता है। इसी प्रकार वेद में भी जो स्वीकार करने योग्य कहा गया है वह विवक्षित

है, और उससे अन्य अविवक्षित है। किसका स्वीकार करना चाहिये और किसका न करना चाहिए—यह वेद वाक्यों का तात्पर्य उसमें है अथवा नहीं इससे समझा जाता है। इसलिये यहां जो विवक्षित गुण उपासना में स्वीकार करने योग्य बतलाये गये हैं; वे परब्रह्म के विषे युक्त हैं। उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने में अकुंठित शक्ति वाला होने के कारण परमात्मा के विषे ही सत्यसंकल्प संभव है। 'य आत्मापहतपाप्मा' [छान्दो० ८। ७। १] (जो आत्मा पाप रहित है) यह श्रुति सत्यकाम और सत्यसंकल्प ऐसे गुण परमात्मा के ही बताती है। 'आकाशात्मा' इत्यादि श्रुतियों का 'आकाशकी समान आत्मा है जिसका' ऐसा अर्थ है, क्योंकि सर्वव्यापकता आदि गुणों से आकाश के साथ ब्रह्म की समानता सम्भव है। 'ज्यायान् पृथिव्याः' (पृथ्वी से बड़ा) इत्यादि श्रुतियों से भी यह ही अर्थ दर्शाया है। और जहां 'आकाश हैं आत्मा जिसका' ऐसा व्याख्यान किया गया है, वहां भी सर्व जगत् का कारण, सर्व का आत्मा जो ब्रह्म वह आकाश का आत्मा है ऐसा सम्भव है। इसीलिये इसका 'सर्व कर्मा' (सर्व कर्म वाला) इत्यादि कहा है। इस प्रकार यहां उपास्यके लिए कहे हुए गुणों का ब्रह्म में होना युक्त है। 'मनोमयः प्राणशरीरः' (जो मनोमय है, जिसका प्राण शरीर है) यह जीवका लक्षण है, ब्रह्म का यह लक्षण युक्त नहीं है, ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा है, परन्तु वह भी ब्रह्म के विषे ही युक्त है। क्योंकि, सर्व का आत्मा होने से जीव सम्बन्धी मनोमयत्व आदि धर्म ब्रह्म सम्बन्धी ही होते हैं। इसी प्रकार 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥' [श्वेता० ४। ३] (तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है और

कुमारी है, बूढ़ा पुरुष जो लकड़ी से चलता है वह तू है, तू ही उत्पन्न होकर सर्व तो मुख सत्ता चलाता है) ऐसा श्रुति कहती है। और 'सर्वतः पाणि पादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।' [गी० १३।१३] (सर्व दिशाओं में उसके हाथ और पैर हैं, सर्व दिशाओं में उसके नेत्र, शिर और मुख हैं, सर्व दिशाओं में उसके कान हैं, सर्व का आवरण करके वह ठहरा हुआ है) यह स्मृति भी ब्रह्म के विषे ऐसा ही कहती है। अप्राणो ह्यमनाःशुभ्रः' (प्राण से रहित, मन से रहित, पवित्र) यह श्रुति शुद्ध ब्रह्म विषे है; और 'मनोमयः शरीरः' (जो मनोमय है, जिसका प्राण शरीर है) यह श्रुति सगुण ब्रह्म विषे है इतना भेद है। इसलिए विवक्षित गुण को उपपत्ति से यहां परब्रह्म ही उपास्य उपदेश किया गया है, ऐसा अनुमान होता है॥ २॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

तु निश्चय अनुपपत्तेः [सत्य संकल्पत्व आदि गुणों को जीव में [असिद्धि होने से शारीरः जीव न [उपास्य] नहीं है।

पूर्व सूत्र में ऐसा कहा था कि विवक्षित गुण ब्रह्म के विषे युक्त हैं और इस सूत्र में ऐसा कहते हैं कि वे ही विवक्षित गुण जीव के विषे युक्त नहीं हैं। तु शब्द निश्चय वाचक है। उपरोक्त श्रुति स्मृति के प्रमाण से ब्रह्म ही मनोमयत्व आदि गुणों वाला है, शारीर-जीव नहीं, क्योंकि सत्य संकल्प, आकाशात्मा, वाणी से रहित, निष्काम, पृथ्वी से वड़ा, इस प्रकार के गुण शरीर-जीव के विषे वस्तुतः युक्त नहीं होते। शारीर का अर्थ 'शरीर में रहने वाला' ऐसा है। यद्यपि ईश्वर भी शरीर में रहता है यह बात ठीक ही है, तो भी, ईश्वर शरीर में ही रहता हो ऐसा

नहीं है। क्योंकि 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' (पृथ्वी से बड़ा, अंतरिक्ष से बड़ा); 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (आकाश के समान सर्व व्यापक और नित्य) इस प्रकार श्रुति में ब्रह्म का व्यापकत्व प्रतिपादन किया है। जीव तो शरीर में ही रहता है क्योंकि भोग का स्थान जो शरीर है उससे अलग जीव कहीं नहीं रहता ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

च और कर्मकर्तृव्यपदेशात् कर्म और कर्ता के कथन से [जीव मनोमयत्व आदि धर्मों वाला नहीं है]।

मनोमयत्व आदि गुणों वाला जीवात्मा नहीं है; क्योंकि 'एतमितः प्रत्याभिसंभवितास्मि' [छान्दो० ३ । १४ । ४] (इस शरीर से मर कर इस आत्मा को प्राप्त करूँगा) इस प्रकार कर्म और कर्ता का कथन है। 'एतम्' इसको, ऐसे प्रकृत मनोमयत्व आदि गुण वाले उपास्य आत्मा को, प्राप्य–कर्म कहा है। 'अभिसंभवितास्मि' (प्राप्त करूँगा) ऐसा जीवात्मा उपासक है, उसको प्रापक—कर्ता कहा है। 'अभिसंभवितास्मि' का अर्थ 'प्राप्त करूंगा' ऐसा है। जहां अन्य मार्ग संभव हो वहां एक को ही कर्म और कर्ता कहना युक्त नहीं है। इसी प्रकार, उपास्य भाव और उपासक भाव का अधिष्ठान भी भिन्न है। इसलिये मनोमयत्व आदि गुण वाला आत्मा शारीर–जीव नहीं है॥ ४॥

शब्द विशेषात् ॥ ५ ॥

शब्द विशेषात् [दोनों] शब्द के विशेष से (विभक्ति के भेद से) [मनोमयत्व आदि गुणों वाला ब्रह्म है।]

मनोमयत्व आदि गुण वाला जीवसे अन्य है क्योंकि, 'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वै वमय-

मन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' [शत० ब्रा० १०।६।३।२] (जैसे व्रीहि या यव या श्यामक या श्यामकतण्डुल ऐसा यह हिरण्यमयपुरुष अन्तरात्मा के विषे है) इस दूसरी श्रुति में समान प्रकरण में शब्द का भेद है। अन्तरात्मन् यह शब्द जो सप्तमी में है वह शरीर को बताता है, इससे मनोमयत्व आदि गुण वाले आत्मा को बताने वाला पुरुष शब्द जो प्रथमा में है, भिन्न है, इस प्रकार उन दोनों का भेद समझ में आता है। इसलिये मनोमयत्व आदि गुणों वाला ब्रह्म ही है, जीव नहीं है ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

च और स्मृतेः स्मृति से भी [मनोमयत्व आदि गुणों वाला जीव नहीं है ब्रह्म ही है]।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' [गी० १८।६१] (हे अर्जुन, यंत्र पर चढ़े हुए सर्व प्राणियों को माया से भ्रमाता हुआ ईश्वर सर्व भूतों के हृदय स्थान में रहता है) इत्यादि स्मृति भी जीव और परमात्मा का भेद दिखलाती है।

शंका—शरीर नाम वाला परमात्मा के सिवाय अन्य कौन है जिसका 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' [ब्र० सू० १।२।३] इत्यादि से कथन किया गया है? श्रुति तो परमात्मा से अन्य आत्मा बताती ही नहीं, जैसा 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता' [बृह० ३।७।२३] (इससे अन्य द्रष्टा नहीं, इससे अन्य श्रोता नहीं) इस श्रुति से विदित है। इसी प्रकार 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत' [गीता० १३।२] (हे अर्जुन, सर्व शरीरों में मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान) यह स्मृति भी ऐसा ही कहती है यानी परमात्मासे अन्य आत्माका निषेध करती है।

समाधान :—यह सत्य ही है । देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि इन उपाधियों से परिच्छिन्न किये हुए परमात्मा को ही अज्ञानी गौण रूप से शारीर कहते हैं । जैसे, घट, कमंडल आदि उपाधि वश अपरिच्छिन्न आकाश भी परिच्छन्न सा दीखता है, वैसे ही अविवेकियों को अपरिच्छिन्न परमात्मा उपाधि भेद से परिच्छिन्न शारीर दीखता है । इस औपाधिक भेद की अपेक्षा से विवेक होने से पहले कर्म कर्तृत्व आदि भेद व्यवहार विरुद्ध नहीं हैं । जब 'तत्त्वमसि' (वह तू है) आदि महाकाव्यों द्वारा बोध हो जाता है और आत्मा का एकत्व समझ में आ जाता है तब तो बन्ध, मोक्ष आदि सर्व व्यवहारों की परिसमाप्ति ही हो जाती है ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न
निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्भकौकस्त्वात् [हृदय रूप] अल्प स्थान होने से च और तद्व्यपदेशात् उसके (सूक्ष्मता के) कथन से [यहां जीव का उपदेश है, परमात्मा का उपदेश] न नहीं है इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [यह संभव] नहीं है [क्योंकि] निचाय्यत्वात् [परमात्मा ही] देखने योग्य होने से एवं ऐसा [उपदेश है] च और व्योम वत आकाश की समान [यह संभव है] ।

'एष म आत्मान्तर्हृदये (यह मेरा आत्मा अन्तर हृदय में है) ऐसे परिच्छिन्न-संकुचित स्थान के कारण और अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' (व्रीहि अथवा यव से विशेष अणु) ऐसे अणु वाचक शब्द से शारीर ही का यहां उपदेश किया है, सर्वव्यापक

परमात्मा का उपदेश नहीं है ऐसा जो कहा है उसका खंडन करना चाहिये।

यहाँ कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है। जिसका देश परिच्छिन्न है, उसे सर्वगत है ऐसा कहना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है। परन्तु जो सर्वगत है वह तो सर्व देश में विद्यमान है, इसलिये ऐसा कथन करना कि उसका देश परिच्छिन्न है, किसी अपेक्षा बिना नहीं हो सकता। जैसे समस्त पृथिवी के अधिपति को अयोध्या का अधिपति कह सकते हैं इसी प्रकार सर्वगत ईश्वर को अल्प स्थान वाला और विशेष अणु किसी अपेक्षा से कहा जाता है। सर्वगत ईश्वर को वह अणु और परिच्छिन्न है ऐसा किस अपेक्षा से कहा है? वह ध्यान करने योग्य है इसलिये ऐसा हम कहते हैं। इस प्रकार विशेष अणुत्व आदि गुणों से युक्त ईश्वर हृदय कमल में ध्यान करने योग्य है ऐसा उपदेश किया गया है जैसे शालग्राम के लिये वह हरि है, ऐसा शास्त्र में उपदेश है, इस बात को बुद्धि ग्रहण कर सकती है। ईश्वर सर्वगत है तो भी जहां २ उपासना किया जाता है वहां २ प्रसन्न होता है।

आकाश की समान भी इसका विचार करना चाहिये। जैसे आकाश सर्वगत है तो भी सुई की नोक आदि की अपेक्षा से अल्प स्थान वाला और विशेष अणु कहा जाता है; इसी प्रकार ब्रह्म का भी कथन है। इसलिये ध्यान कराने के हेतु योग्यता की अपेक्षा से ब्रह्म अल्प स्थान वाला और विशेष अणु है, परमार्थ से ऐसा नहीं है। इसमें जो ऐसी आशंका की जाय कि ब्रह्म का स्थान हृदय होने से, और हृदय स्थान भिन्न २ शरीरों में भिन्न-भिन्न होने से, भिन्न २ स्थान वाले शुक आदि के अनेक अवयव,

अनित्यता इत्यादि दोष देखने में आते हैं इसलिये ब्रह्म भी वैसा ही हो जायगा, इस आशंका का भी ऊपर कहे अनुसार समाधान किया जा सक्ता है ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

सम्भोगप्राप्तिः [जीव की समान ईश्वर के भी] सम्भोग (सुख दुःखादि के भोग) की प्राप्ति [होगी] इति ऐसा चेत् [कहो] तो वैशेष्यात् भेद होने से न नहीं [सम्भव हो सकता] ।

प्रतिपक्षी:— आकाश के समान सर्व व्यापक ब्रह्म का सर्व प्राणियों के हृदय के साथ सम्बन्ध है । जीव और परब्रह्म दोनों चैतन्य रूप हैं और दोनों में भेद भी नहीं है । इसलिये, शारीर (जीव) के समान ब्रह्म में भी सुख दुःखादि भोग का प्रसंग आवेगा अर्थात् ब्रह्म भी भोक्ता समझा जायगा । दोनों के एकत्व से भी ऐसा ही प्रसंग आवेगा । जीव और ब्रह्म का एक होना इस श्रुति से सिद्ध है 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' [बृह० ३।७।२३] (इससे अन्य विज्ञाता नहीं है) । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा से अन्य और कोई संसारी आत्मा नहीं है । इसलिये परमात्मा को ही संसारी भोगों की प्राप्ति होगी ।

सिद्धान्ती:—यह दोष नहीं है, क्योंकि शारीर (जीव) और परमात्मा में भेद है । शारीर कर्ता, भोक्ता, धर्म और अधर्म का साधन और सुख दुःखादि मानने वाला है, और इसके विरुद्ध ब्रह्म पाप पुण्यादि गुणों से रहित है । इसलिये, दोनों में भेद होने के कारण शारीर (जीव) का ही भोग है, परमात्मा

का नहीं है। जो ऐसा कोई माने कि वस्तु की शक्ति के आश्रय किये बिना संनिधान मात्र से ही वस्तु का कार्य के साथ संबंध हो जाता है तो ऐसा मानने से आकाशादि के दाह का प्रसंग आवेगा। सर्व व्यापक अनेक आत्मा हैं, इस मत वाले के लिये भी यह शंका और समाधान समान है।

ब्रह्म के एकत्व से अन्य आत्मा का अभाव है इसलिये शरीर (जीव) के भोग से ब्रह्म के भोग का प्रसंग आवेगा, यह जो कहा उस का उत्तर यह है, कि प्रथम तो यह बताइये कि तुमने अन्य आत्मा के अभाव का किस प्रकार निश्चय किया है? 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (इस से अन्य विज्ञाता नहीं है) इत्यादि श्रुतियों से निश्चय किया है, ऐसा जो तुम कहोगे तो ऐसा नहीं है। क्योंकि, शास्त्रका अर्थ शास्त्र के अनुसार समझना चाहिये, अर्ध जरतीय न्यायसे कुछ शास्त्रानुसार और कुछ विपरीत ऐसे नहीं। शास्त्र तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे पाप पुण्य गुण रहित ब्रह्म को शरीर (जीव) का आत्मा बताकर शरीर (जीव) के उपभोक्तापने का निषेध करता है। फिर, उसके उपभोग से ब्रह्म के उपभोग का प्रसंग किस प्रकार आवेगा? जहां शरीर का ब्रह्म के साथ एकत्व नहीं कहा है, वहां शरीर का उपभोग मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुआ है, उसका परमार्थ रूप ब्रह्म से संस्पर्श नहीं है। अज्ञानी आकाशको तल और मलिनता वाला बताते हैं परंतु उनके कहने से आकाश तल मालिनता संयुक्त नहीं हो जाता। इसलिये सूत्रकार कहते हैं:—'नवैशेष्यात्'। एकत्व होने पर भी शरीर के उपभोग से ब्रह्म के उपभोग का प्रसंग नहीं आता क्योंकि शरीर और ब्रह्म में भेद है। वस्तुतः मिथ्या ज्ञान और सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान)

में भेद है। उपभोग मिथ्या ज्ञान से कल्पित है और एकत्व सम्यग्ज्ञान से दीखता है। मिथ्या ज्ञान कल्पित उपभोगका सम्यग्ज्ञान से देखी हुई वस्तु से संस्पर्श नहीं होता। इसलिये ईश्वर में लेश भी उपभोग कल्पना संभव नहीं है ॥ ८ ॥

२ अत्राधिकरण। सू० ९।१०

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

चराचरग्रहणात् स्थावर जंगम के ग्रहण होने से अत्ता भक्षण (संहार) करने वाला [परमात्मा] है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥' [कठ० १।२।२५] (ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जिसका भात (भोजन) हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन यानी लगावन हैं, वह कहां है, उसको इस प्रकार कौन जानता है) इस प्रकार कठवल्ली में कहा है। इसमें ओदन और उपसेचन से बताये हुए किसी भक्षण करने वाले की प्रतीति होती है। इसमें संशय होता है कि भक्षण करने वाला कौन है, अग्नि है या जीव है अथवा परमात्मा है, क्योंकि यहां विशेष का कथन नहीं है। इस ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा तीनों का ही धर्म भक्षण करना है ऐसा देखने में आता है। इसलिये यहाँ पर भक्षण करना किस का धर्म समझा जाय, यह निश्चय नहीं होता।

प्रतिपक्षी:—यहां पर अग्नि भक्षण करने वाला समझना चाहिये, क्योंकि 'अग्निरन्नादः [बृह० १।४।६] (अग्नि अन्न का भक्षक है) यह श्रुति ऐसा ही कहती है और यह बात प्रसिद्ध भी है। अथवा, जीव को भक्षण करने वाला जानना चाहिये, क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' [मुण्ड० ३।१।१] (इन

दोनों में से एक स्वाद युक्त फल खाता है) इस श्रुति से जीव खाने वाला सिद्ध होता है, और परमात्मा तो किसी प्रकार भक्षण करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [मुण्ड० ३।१।१] (दूसरा खाये बिना देखता रहता है) इस श्रुति से सिद्ध है कि परमात्मा भक्षण करने वाला नहीं है। इसलिये अग्नि अथवा जीव ही भक्षक हो सकते हैं। परमात्मा नहीं हो सकता।

समाधानः—चर और अचर के ग्रहण से यहाँ परमात्मा ही भक्षक होना युक्त है क्योंकि चर और अचर की यानी स्थावर जंगम की मृत्यु जिसमें उपसेचन है ऐसा भोजन यहाँ प्रतीत होता है, और ऐसे भक्ष्य का भक्षण करना परमात्मा के सिवाय और किसी के लिये सम्भव नहीं हैं। परमात्मा सर्व संहार करने वाला है इसलिये सर्व का भक्षण करता है ऐसा कहना युक्त है।

शंकाः—यहाँ पर चर अचर का ग्रहण है ही नहीं तो चर अचर का ग्रहण करके उसको हेतु रूप से क्यों प्रतिपादन किया है ?

समाधानः—यह दोष नहीं है, क्योंकि मृत्यु उपेसचन है इसलिये सर्व प्राणी समूह के संहार की प्रतीति होती है और ब्राह्मण और क्षत्रिय का जो मृत्यु कहा हैं उससे इन दोनों की प्रधानता-मुख्यता लेकर जो प्रदर्शन किया है यह युक्त है।

और जो यह शंका की है कि परमात्मा का भक्षक होना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [मुण्ड० ३।१।१] (दूसरा खाये बिना केवल देखता ही है) ऐसा श्रुति में देखने में आता है। यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि यह श्रुति कर्म फल के उपभोग का प्रतिषेध करती है अर्थात् परमात्मा को

कर्म फल का उपभोग नहीं होता ऐसा कहती है, क्योंकि वह (परमात्मा) समीप में है। यह श्रुति विकार के संहार का प्रतिषेध नहीं करती क्योंकि सर्व उपनिषदों में सृष्टि, उत्पत्ति और संहार का कारण ब्रह्म ही प्रसिद्ध है। इसलिये परमात्मा ही इस श्रुति में भक्षक है, यह योग्य है ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

च और प्रकरणात् प्रकरण से [परमात्मा ही भक्षक है]।

यह प्रकरण परमात्मा का ही हैः---'न जायते म्रियते वाविपश्चित्' [कठ० १।२।१८] (आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं और मेधावी है) इत्यादि, इस कारण से भी परमात्मा ही भक्षक है यह योग्य है, क्योंकि प्रकृत का ग्रहण करना युक्त है। 'क इत्था वेद यत्र सः' (वह कहां है, यह कौन जानता है) इस प्रकार दुर्विज्ञानत्व भी परमात्मा का लिंग है ॥ १० ॥

(३) गुहाप्र विष्टाधिकरण। सू० ११-१२

गुहांप्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

गुहां गुहा में प्रविष्टौ प्रवेश किये हुए आत्मानौ दो आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) हि ही [हैं] तद्दर्शनात् क्योंकि [श्रुति में] वैसा देखा जाता है।

'ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥' [काठ० १।३।१] (अवश्य होने वाले कर्म फल को भोगने वाले, सुकृत के कार्य देह के विषे श्रेष्ठ हृदय में आकाश रूप जो गुहा है उसमें प्रवेश किये हुए, छाया और धूप के समान परस्पर

विरुद्ध, ऐसे दोनों को ब्रह्मवेत्ता पंचाग्नि रखने वाले गृहस्थ और जिन्होंने नाचिकेत अग्नि का तीन वार चयन किया है वे जानते हैं) इस प्रकार कठवल्ली में कहा है। इसमें संशय होता है कि यहां बुद्धि और जीव कहे गये हैं अथवा जीव और परमात्मा कहे गये है। जो बुद्धि और जीव कहे गये हों तो शरीर और इन्द्रियों का समूह, जिसमें बुद्धि प्रधान है, उससे विलक्षण जीव कहा गया होगा, ऐसा प्रतिपादन करना यहां युक्त है। क्योंकि 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके। एतद्विद्यामनुशि-ष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ [काठ० १।१।२०] (कितने मनुष्य मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा है, और कितने ही मानते हैं कि नहीं है, इस संशय के कारण मैं यह विद्या जानना चाहता हूँ, आप मुझे उपदेश करें, वरों में यह तीसरा वर है) यह प्रश्न पूछा है। जो जीव और परमात्मा प्रतिपादन किये हों तो जीव से विलक्षण परमात्मा प्रतिपादन किया हुआ होता है, यह प्रतिपादन करना भी यहां युक्त है। क्योंकि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' [काठ० १।२।१४] (धर्म से जो भिन्न है, तथा अधर्म से भिन्न है, इस कार्य और कारण से जो भिन्न है भूतकाल, भविष्य काल, तथा वर्तमान काल से जो भिन्न है, ऐसी वस्तु जो तू जानता हो तो मुझसे कह) ऐसा प्रश्न पूछा है।

प्रतिपक्षीः बुद्धि और जीव अथवा जीव और परमात्मा इन दोनों में से एक भी पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म फल का उपभोग 'सुकृतस्य लोके' (सुकृत के लोक में) कहा है और कर्म फल का उपभोग चेतन जीव को ही हो सकता है, अचेतन बुद्धि को नहीं हो सकता। और 'पिबन्तौ' (दोनों पान करते हैं)

इस प्रकार द्विवचन से श्रुति दो का पान दिखलाती है, इसलिये बुद्धि और जीव का पक्ष तो सम्भव ही नहीं। इसी कारण से जीव और परमात्मा का पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि चेतन होने पर भी परमात्मा को कर्म फल का उपभोग सम्भव नहीं है, कारण कि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा खाये विना देखा करता है) ऐसी श्रुति है।

सिद्धान्ती;—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'छत्रिणोगच्छन्ति' (छाते वाले जाते है) इस प्रकार यदि एक छाते वाला हो तो भी 'वहुत से छाते वाले', ऐसा उपचार (गौण कथन) देखने में आता हैं। इसी प्रकार यदि एक पान करता हो तो दो पान करते हैं ऐसा कहा जाता है—अथवा जीव पान करता है और ईश्वर पान कराता है, और पान कराता है तो भी पान करता है, ऐसा कहा जाता है क्योंकि रंधाने वाले में रांधने वाले के धर्म की प्रसिद्धि देखने में आती है। इसलिये बुद्धि और जीव का ग्रहण भी सम्भव है। कारण में कर्तृत्व का उपचार होता है; क्योंकि 'एधांसि पचन्ति' (लकड़ियां रांधती हैं) ऐसा प्रयोग देखने में आता है। अध्यात्म प्रकरण में कर्म फल का उपभोग करने वाले दूसरे कोई हैं, ऐसा कथन सम्भव नहीं है; इसलिये बुद्धि और जीव का ग्रहण करना चाहिये अथवा जीव और परमात्मा ग्रहण करने चाहिए, यह संशय होता है।

प्रतिपक्षी:—तब बुद्धि और जीव ही ग्रहण करने चाहिये, क्योंकि गुहा में प्रवेश किया हुआ ऐसा विशेषण है। गुहा या तो शरीर अथवा हृदय होसक्ता है। इन दोनों पक्षों में बुद्धि और जीव गुहा में प्रवेश किये हुए कहना ही युक्त है। परमात्मा के विषे ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि सर्व व्यापक परमात्मा

के लिये विशिष्ट देश कल्पना योग्य नहीं है। और 'सुकृतस्य लोके' (सुकृत के लोक में) यह श्रुति–वे कर्मफल का उल्लंघन नहीं करते, ऐसा दर्शाती है। परमात्मा तो सुकृत अथवा दुष्कृत के पास नहीं फटकता, क्योंकि 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (कर्म से बढ़ता नहीं और छोटा नहीं होता) ऐसी श्रुति है। 'छाया तपौ' (छाया और धूप) यह भी चेतन अचेतनका कथन हो तो युक्त होसक्ता है। क्योंकि छाया और धूप की समान अचेतन और चेतन विलक्षण हैं। इसलिये यहां बुद्धि और जीव का ग्रहण करना चाहिये।

सिद्धान्ती:—यहां विज्ञानात्मा और परमात्मा का कथन समझना चाहिये, क्योंकि वे दोनों आत्मा ही हैं, चेतन और समान स्वभाव वाले हैं। जहां संख्या सुनाई जाती है वहां समान स्वभाव वालों की ही लोक में प्रतीति होती है। 'अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य:' (इस बैल का दूसरा ढूंढ़ना चाहिये) ऐसा कहा जाता है तो दूसरा बैल ही ढूंढ़ा जाता है, घोड़ा अथवा मनुष्य नहीं ढूंढ़ा जाता। इसलिये यहां कर्मफल के उपभोग रूप लिंग से विज्ञानात्मा का निश्चय हुआ। इसलिये दूसरे की खोज करने से समान स्वभाव वाले चेतन परमात्मा ही की प्रतीति होती है।

दूसरे यह जो कहा है कि 'गुहामें प्रवेश किया हुआ', ऐसा वचन देखने में आता है इसलिये परमात्मा की प्रतीति न होनी चाहिये, इसका उत्तर यह है कि गुहा में प्रवेश किया हुआ देखने में आता है इसीसे परमात्मा की प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि श्रुति और स्मृति में अनेक वार परमात्मा का ही गुहामें रहना देखने में आता हैं:—'गुहाहितं गह्वरेष्ट पुराणम्' [काठ०

१।२।१२] (गुहा में रहा हुआ कठिन स्थान में रहने वाला और पुराण), 'यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन् [तैत्ति० २।१] (श्रेष्ठ आकाश रूपी हृदय गुहा में रहे हुए को जो जानता है) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' (गुहा में प्रवेश किये हुए आत्मा को खोज), इत्यादि श्रुति और स्मृति में सर्व व्यापक परमात्मा की प्राप्ति के लिये देश विशेष में उसका उपदेश विरुद्ध नहीं होता ऐसा भी कहा ही है।

सुकृत के कार्य रूप देह के विषे रहना तो छत्री वालों के समान एक के लिये हो तो भी दोनों के लिये विरुद्ध नहीं हैं।

छाया और धूप की समान कहना यह भी युक्त है क्योंकि संसारित्व और असंसारित्व ये दोनों छाया और धूपकी समान परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि संसारित्व अविद्या जन्य है और असंसारित्व पारमार्थिक है। इसलिये 'गुहा में प्रवेश किये हुए' विज्ञानात्मा और परमात्मा हैं ऐसा ग्रहण किया जाता है ॥११॥

और किस कारण से विज्ञानात्मा और परमात्मा का ग्रहण होता है ?

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

च और विशेषणात् विशेषण से [भी जीव और परमात्मा का निश्चय होता है]।

श्रुति में दिया हुआ विशेषण भी विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा को ही लागू होते हैं। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' [काठ० १ । ३ । ३] (आत्मा को रथ जान और शरीर को रथी जान) रथ रथी आदि रूपक से अन्त में आये हुए इन वाक्यों से विज्ञानात्मा को रथी माना है। रथी की

उपमा इसलिये दी है कि विज्ञानात्मा संसार और मोक्ष दोनों में जाने वाला है और 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' [काठ० १ । ३ । ६] (वह जीव संसार मार्ग के पार को प्राप्त होता है, वह (पार) व्यापक परमात्मा का परम पद है) इसमें 'परम पद' ये दो पद परमात्मा के विशेषण हैं । इसी प्रकार 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥' [काठ० । १ । २ । १२] दुःख पूर्वक दर्शन किया जा सकता हो ऐसा, गूढ माया में प्रवेश किया हुआ, गुहा—बुद्धि में रहा हुआ, अनेक अनर्थों से व्याप्त देह में रहने वाला, पुराण. ऐसे आत्मा का, विषयों की तरफ से चित्त हटा २ कर उसमें लगाते हुए, मनन करके धीर पुरुष हर्ष और शोक का त्याग करता है) इसमें भी मनन करने वाला और मनन करने का विषय, ये विशेषण जीव और परमात्मा दोनों के ही हैं ।

यह प्रकरण भी परमात्मा का है । 'ब्रह्मविदोवदन्ति' (ब्रह्म जानने वाले कहते है) ऐसे विशिष्ट वक्ता का ग्रहण परमात्मा का स्वीकार करने ही से युक्त होता है, इसलिये यहां जीव और परमात्मा ही कहना चाहिये ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' [मुण्ड० ३ । १ । १] (दो सुन्दर पक्षी, सर्वदा युक्त, सखा) इत्यादि में भी यही न्याय है । यहां पर अध्यात्म प्रकरण होने से साधारण पक्षी नहीं कहे हैं, इसलिये 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति (उन दोनों में से एक स्वाद युक्त फल खाता है) इसमें भक्षण करने वाला बताने से विज्ञानात्मा (जीव) समझा जाता है और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा खाये बिना केवल देखता रहता है ।) इसमें न

खाने वाला और केवल देखने वाला कहने से परमात्मा समझा जाता है क्योंकि परमात्मा भोक्ता नहीं है, केवल चैतन्य है।

पीछे के मंत्र में द्रष्टा और द्रष्टव्य भाव से ये ही दोनों विशेषण लगाये है—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः' [मुण्ड० ३।१।२] (समान अर्थात् एक ही वृक्ष में—शरीर में निमग्न हुआ जीव दीन भाव से मोह को प्राप्त होकर शोक करता है। जब अनेकों से योग मार्गों द्वारा सेवन किये हुए दूसरे ईश को—परमात्मा को और उसकी महिमा को जानता है तब शोक रहित होता है)।

शंका:—'द्वा सुपर्णा' यह ऋचा इस अधिकरण के सिद्धान्त को प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि पैंगिरहस्य ब्राह्मण में इसका दूसरी प्रकार से व्याख्यान किया हैं। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति (उनमें से एक स्वादयुक्त फल खाता है यह सत्त्व है और दूसरा खाये बिना देखा करता है वह क्षेत्रज्ञ हैं; इस प्रकार ये सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं)। सत्त्व शब्द जीव वाचक और क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मा वाचक है, ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि सत्त्व और क्षेत्रज्ञ शब्द अन्तःकरण और शारीर (जीव) वाचक है, यह प्रसिद्ध है। उसी (पैंगिरहस्य ब्राह्मण) में इस प्रकार व्याख्यान किया है—'तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्व क्षेत्रज्ञौ' इति (जिस करके स्वप्न देखता है वह सत्त्व है और यह शारीर जो उपद्रष्टा है, वह क्षेत्रज्ञ है, इस प्रकार यह सत्त्व और क्षेत्रज्ञ दोनों हैं)।

समाधानः—यह जो तुमने कहा कि यह ऋचा इस अधिकरण का सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करती यह ठीक नहीं है। क्योंकि, यदि यह ऋचा इस अधिकरण का सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करती तो पूर्व पक्ष भी प्रतिपादन नहीं करती। यहां पर 'शारीर-क्षेत्रज्ञ' अर्थात् कर्तृत्व, आदि संसार धर्म से युक्त' ऐसी विवक्षा नहीं है।

तब किसकी विवक्षा है ?

जो सर्व संसार धर्मों से परे ब्रह्मस्वभाव केवल चैतन्य स्वरूप है उसकी विवक्षा है। क्योंकि 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' (दूसरा खाये बिना देखा करता है अर्थात् दूसरा क्षेत्रज्ञ खाये बिना देखा करता है) ऐसा वचन है और 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'क्षेत्रज्ञमपि मांविद्धि' [गी० १३। २] (क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान) ये श्रुति और स्मृति, और इनके सिवाय अन्य श्रुति स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं। इसलिये इस मंत्र के व्याख्यान से 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवं विदि किंचन रज आध्वंसते' (ऐसे ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं, इस प्रकार जानने वाले को कहीं भी अविद्या संस्पर्श नहीं करती) इस प्रकार से ब्रह्म विद्या का जो उपसंहार उसमें देखने में आता है वह युक्त होता है।

शंकाः—परन्तु इस पक्ष में 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाँद्वत्तीति सत्त्वम्' (उन दोनों में से एक स्वाद युक्त फल खाता है, वह सत्त्व है) इस प्रकार अचेतन सत्त्व को भोक्ता बताना किस प्रकार युक्त हो सक्ता है ?

समाधानः—यहाँ पर अचेतन सत्त्व को भोक्ता बताने के लिये श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई, है तव क्या बताने के लिये प्रवृत्त हुई है ? कहते हैं—

यह श्रुति चेतन क्षेत्रज्ञ, अभोक्ता और ब्रह्म स्वरूप है ऐसा कहने को प्रवृत्त हुई है। वह सुखादि विकार वाले सत्त्व में भोक्तृत्व का अध्यारोप करती है। वास्तव में यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व सत्त्व और क्षेत्रज्ञ के परस्पर स्वभाव के अविवेक से कल्पित हैं वास्तव में भोक्तृत्व और कर्तृत्व दोनों में ही सम्भव नहीं हैं; क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ विकार रहित है। इन दोनों में सत्त्व का स्वभाव तो अविद्या से उत्पन्न हुआ है इसलिये उसका तो भोक्ता होना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि 'यत्र वा अन्यदिवस्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्' [बृह० ४।५।१५] (जहां द्वित्व हो वहां एक दूसरे को देखे) इत्यादि से श्रुति स्वप्न में देखे हुए हाथी आदि के व्यवहार के समान अविद्या में ही कर्तृव्य आदि का व्यवहार दिखलाती है और यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत तत्केनकं पश्येत्' [बृह० ४।५।१५] (परन्तु जहां सर्व इसका आत्मा ही हो वहां किसको किससे देखे) इत्यादि से विवेकी के कर्तृत्व आदि व्यवहार का अभाव दिखलाती है ॥ १२ ॥

(४) अन्तराधिकरण । सू० १३–१५

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अंतरः [नेत्रों के] अन्तर [परमात्मा है, अमृतत्वादि गुणों की] उपपत्तेः संगति से ।

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिंचति वर्त्मनी एव गच्छति' [छान्दो० ४। १५। १] (आंखों में यह जो पुरुष दीखता है वह आत्मा है ऐसा उसने कहा, यह अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म है, ऐसी इस (आंख) में घी अथवा पानी डालते हैं तो वह किनारे ही निकल जाता है) इत्यादि श्रुति है। इसमें संशय होता है कि आंख में रहने वाला कौन है ? प्रतिबिम्बात्मा है, या विज्ञानात्मा है, अथवा इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवता है या ईश्वर है।

प्रतिपक्षी:—पुरुष का प्रतिरूप छायात्मा आंखों में रहने वाला है। क्योंकि वह दृश्यमान है, प्रसिद्ध है और 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (आंख में यह जो पुरुष दीखता है) इस प्रकार उसका उपदेश है। अथवा विज्ञानात्मा कहना ठीक है, क्योंकि वह आँख में रह कर आंखों से रूप को देखता है। इस पक्ष में आत्म शब्द भी अनुकूल है। अथवा आंख पर अनुग्रह करने वाले—आंख के अधिष्ठाता देवता आदित्य पुरुष की प्रतीति होती है, क्योंकि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' [बृह० ५।५।२] (किरणों द्वारा यह इसमें प्रतिष्ठित है) ऐसी श्रुति है और देवतात्मा में अमृतत्व आदि का होना भी सम्भव है। यहां ईश्वर की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि अमुक एक स्थान का कथन है।

सिद्धान्ती:—यह बात नहीं है, आंख में रहने वाला पुरुष यहां परमेश्वर को ही कहा है। सो कैसे ? उपपत्ति से यानी जो जो गुण समूह यहां उपदेश किये गये हैं वे परमेश्वर के विषे युक्त हैं इसलिये—

प्रथम तो मुख्य वृत्ति से आत्मत्व परमेश्वर के विषे ही युक्त है, क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है और वही तू है)

ऐसी श्रुति है। श्रुति में अमृतत्व और अभयत्व उस (आँख में रहने वाले पुरुष) के विषे वारम्वार कथन किया है। इसी प्रकार आँख का स्थान भी परमेश्वर के अनुरूप है। जैसे परमेश्वर सर्व दोषों से अलिप्त है, क्योंकि श्रुति में पापरहितता आदि धर्म परमेश्वर के वताये हैं, इसी प्रकार आँख का स्थान सर्वलेप रहित उपदेश किया गया है। क्योंकि 'तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (जो इसमें घी अथवा पानी सींचते हैं तो वह किनारे ही निकल जाता है) ऐसी श्रुति है।

सकल कामना प्राप्त कराने का हेतु इत्यादि धर्म का उपदेश भी उसी (परमेश्वर) में घटता है। 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयति।' [छान्दो० ४।१।५२] (इसको संयद्वाम ऐसा कहते हैं, क्योंकि सर्व वाम यानी कर्म फल इसके जानने वाले को 'संयत' यानी प्राप्त होते हैं), 'एंषउ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति' [छान्दो० ४।१५।३] (यह ही वास्तविक वामनी है, क्योंकि यह सर्व फल प्राप्त कराता है) और 'एष उएवभामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' [छान्दो० ४।१५।४] (यह ही वास्तविक भामनी है, क्योंकि यह सर्व लोकों में प्रकाशता है) इत्यादि इस (परमेश्वर) के विषे ही घटते हैं, इसलिये ये सव विशेषण युक्त प्रतीत होने से आँख के भीतर रहने वाला पुरुष परमेश्वर है ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

च और स्थानादिव्यपदेशात् [ध्यान के लिये] स्थानादि के कथन से [परमात्मा का स्थान नेत्र भी हो सकता है।]

शंका:—आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म का अल्प स्थान नेत्र किस प्रकार युक्त है?

समाधानः—यह दोष नहीं है। जो ब्रह्म का एक यह ही स्थान बताया होता तो यह असम्भव होता परन्तु पृथ्वी आदि अन्य स्थान भी ब्रह्म के वताये हैं, जैसे कि 'य पृथव्यांतिष्ठन् [बृह० ३।७।३] (जो पृथ्वी में रहकर) इत्यादि श्रुतियों से विदित है। इसी प्रकार 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (जो आँख में रह कर) इत्यादि से आँख भी स्थान बताया है। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इस सूत्र में 'आदि' कहने से सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म के केवल स्थान ही का अनुचित कथन देखने में नहीं आता किन्तु जिस ब्रह्म के नाम और रूप नहीं हैं उसके नाम और रूप का भी अनुचित उपदेश देखने में आता है—'तस्योदितिनाम' 'हिरण्यश्मश्रुः' [छान्दो० १।६।७।६] (उसका उद् ऐसा नाम है, सुवर्ण जैसी मूँछों वाला) इत्यादि। ब्रह्म निर्गुण है तो भी उपासना के लिये स्थल स्थल पर नाम और रूप में रहने वाले गुणों द्वारा सगुण हो ऐसा उपदेश किया गया है यह भी कहा हो है। यद्यपि सर्वव्यापक है तो भी उसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्म का विशिष्ट स्थान शालग्राम में विष्णु के समान विरुद्ध नहीं है, ऐसा भी कहा ही है॥ १४॥

सुख विशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

च और सुखविशिष्टाभिधानात् सुख गुण युक्त के कथन से [नेत्रों के भीतर परमात्मा] एव ही [है]।

इस वाक्य में ब्रह्म का कथन है अथवा नहीं है इसके विषय में विवाद करना युक्त नहीं है, क्योंकि सुख गुण युक्त के कथन से ही ब्रह्मत्व सिद्ध है। "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) इस प्रकार वाक्य के उपक्रम में सुख विशिष्ट का जो उपक्रम है उसका ही यहां

कथन है क्योंकि प्रकृत का ग्रहण ही न्याय्य है। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' [छान्दो० ४।१४।१] (आचार्य तो तुझसे गति यानी मार्ग कहेगा) इस प्रकार गति मात्र के कथन की प्रतिज्ञा की है।

शंका:—परन्तु वाक्य के प्रारम्भ में सुख विशिष्ट ब्रह्म का विज्ञान होता है, यह आप कैसे कहते हैं?

समाधान:—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म (प्राण ब्रह्म है, आनन्द ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) अग्नियों का यह वचन सुनकर उपकोसल ने कहा 'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' (प्राण ब्रह्म है यह तो मैं समझता हूँ, परन्तु आनन्द और आकाश को नहीं)। तब उत्तर मिला—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' [छान्दो० ४। १०। ५] (वास्तव में जो आनन्द है वही आकाश है, जो आकाश है वही आनन्द है) इसमें 'खं' शब्द लौकिक भाषा में भूताकाशके विषे प्रसिद्ध है, जो विशेषण के समान सुख वाची 'कं' शब्द का ग्रहण न किया जाय तो, जैसे ॐ आदि में ब्रह्म शब्द प्रतीक के अभिप्राय से लगाया जाता है वैसे केवल भूताकाश के अर्थ में ब्रह्म शब्द लगाया गया है, ऐसा प्रतीत होगा; वैसे ही, विषय और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोष युक्त सुखके अर्थ में 'कं' शब्द प्रसिद्ध होने से जो 'कं' के विशेषण के समान 'खं' शब्द का ग्रहण न किया जाय तो लौकिक सुख ही ब्रह्म है ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु यदि 'कं' और 'खं' शब्दों को परस्पर विशेषण युक्त लेते है तो वे सुख स्वरूप ब्रह्म की प्रतोति कराते हैं। यदि इसमें दूसरे ब्रह्म शब्द का ग्रहण न करें और 'कं खं ब्रह्म' इतना ही कहें तो

कं शब्द का विशेषण के समान उपयोग होकर ब्रह्म से सुखगुण रूप होने से ध्यान करने योग्य न होगा। ऐसा न हो इसलिए 'कं' और 'खं' दोनों शब्दों के साथ 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि सुख गुण है तो भी गुणी के समान ध्यान करने के योग्य हो सकता है, यह कहना ठीक है. इसलिये इस प्रकार से वाक्य के उपक्रम में सुख विशिष्ट ब्रह्म का उपदेश किया है।

और गार्हपत्य आदि अग्नियों में से प्रत्येक ने अपनी अपनी महिमा का उपदेश करके 'एषासोम्यतेऽस्मद्विद्यात्म विद्याच' (हे सोम्य, यह तुझको हमारी विद्या और आत्मविद्या कही) इस प्रकार उपसंहार किया है। इसमें पूर्व में कहे हुए ब्रह्म को जनाते हैं। 'आचार्यस्तु ते गति वक्ता' (आचार्य तो तुझसे गति कहेगा) यह गति मात्र के कहने की प्रतिज्ञा अन्य अर्थ की विवक्षा को रोकती है। 'यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' [छान्दो० ४। १४। ३] (जैसे पद्मपत्र में पानी नहीं ठहरता, ऐसे ही इस प्रकार जानने वाले को पाप कर्म स्पर्श नहीं करता) यह श्रुति अक्षिगत पुरुष के जानने वालों को पाप का सम्बन्ध नहीं होता ऐसा कहकर अक्षिस्थ पुरुष का ब्रह्मत्व दिखलाती है। इसलिये ब्रह्म केअक्षिस्थता (आंखमें स्थिति) और संयद्वामता (जिनको उद्देश करने से कर्म फल उत्पन्न होता है वह संयद्वाम, उसका भाव संयद्वामता) आदि गुण कहकर उसके जानने वाले की अर्चिरादि गति होती है ऐसा कहने के हेतु से य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एषआत्मेति होवाच' [छान्दो० ४। १५। १] (आंख में यह जो पुरुष दीखता है, यह आत्मा है ऐसा कहा) यह उपक्रम करती है॥ १५॥

श्रुतोपनिषत्क गत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

च और श्रुतोपनिषत्क गत्याभिधानात उपनिषद् के रहस्य के (सगुण ब्रह्म की उपासना के) अनुष्ठान करने वाले की गति के कथन से [अक्षि पुरुष परमात्मा है]।

अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर है, क्योंकि जिसने उपनिषद् सुना है अर्थात् जिसे रहस्य विज्ञान हुआ है ऐसे ब्रह्म ज्ञानी की श्रुति और स्मृति में देवयान नाम की गति कही है। श्रुति यह है-- 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते' [प्रश्न० १। १०] (पीछे तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मा का ध्यान करके उत्तर मार्ग द्वारा आदित्य को प्राप्त करते हैं। यह प्राणों का आश्रय है, अमृत है, अभय है, यह परागति है; इससे संसार में पुनरावर्त्तन नहीं करते)। और स्मृति यह है :—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ [गी० ८। २४] (अग्नि देवता, ज्योतिर्देवता, दिन का अभिमानी देवता, शुक्ल पक्ष का देवता और छः मास उत्तरायण का अभिमानी देवता है, इस मार्ग से मरे हुए ब्रह्मोपासक पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं) इसी गति का यहाँ भी कथन है। यह गति अक्षि पुरुष जानने वालों को बताई है ऐसी प्रतीति होती है। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' (पीछे इसके लिये वे संस्कार करें अथवा न करें तो भी अर्चिर्लोक को प्राप्त होते हैं) ऐसा उपक्रम करके 'आदित्या च्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानव-

मावर्त्त नावर्त्तन्ते' [छान्दो० ४ । १५ । १] (आदित्य से चन्द्र को और चन्द्र से विद्युत को प्राप्त होता है। वहाँ अमानव पुरुष इसको ब्रह्म तक पहुँचाता है। यह देवपथ, ब्रह्म पथ है, इससे जाने वाले जन्म मरणादि आवृत्ति वाले इस मानव लोक में फिर नहीं लौटते) ऐसा कहा है। इसलिये यहाँ ब्रह्म ज्ञानी की प्रसिद्ध गति से अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्म है ऐसा निश्चय होता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अनवस्थितेः [सर्वदा] स्थिति न होने से च और असम्भवात् [अमृतत्वादि गुणों के] असम्भव होने से इतरः दूसरा [छायात्मादि] न [इस वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है।

अक्षिस्थ पुरुष छायात्मा, विज्ञानात्मा अथवा देवतात्मा है, ऐसा जो कहा है उसका उत्तर यह है :—छायात्मा आदि दूसरों का ग्रहण करना यहाँ युक्त नहीं हैं क्योंकि उनकी स्थिति सर्वदा नहीं रहती। छायात्मा का आँखों में नित्य रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि जब कोई पुरुष आँखों के पास जाता है तभी आँखों में पुरुष की छाया दीखती है, जब वह दूर चला जाता है तब नहीं दीखती। 'य एषोऽक्षिणी पुरुष' (जो यह आँखों में पुरुष है) यह श्रुति समीप से अपने नेत्रों में दीखने वाले पुरुष को उपास्य उपदेश करती है और उपासना के समय कोई नेत्र के आगे छाया करने वाले पुरुष को खड़ा करके उपासना करता हो ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। 'अस्यैव शरीर-स्यनाशमन्वेश नश्यति' [छान्दो० ८।९।१] (इस शरार के नाश के पीछे ही यह छायात्मा नाश को प्राप्त होता है, यह श्रुति छायात्मा की एक स्थिति न रहना दर्शाती है।

और 'असंभव होने से' (छायात्मा आदि दूसरे का ग्रहण करना युक्त नहीं है)। अमृतत्व आदि गुणों की प्रतीति उस छायात्मा में नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानात्मा का सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों के साथ साधारण सम्बन्ध होते हुये भी वह नेत्रों में ही स्थित है ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि ब्रह्म व्यापक है तो भी उसके ज्ञान के लिये हृदय आदि देशों से श्रुति में सम्बन्ध देखने में आता है, और अमृतत्व आदि गुणों की असम्भावना तो विज्ञानात्मा में छायात्मा के समान है ही। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा से अनन्य–अभेद है तो भी अविद्या, काम और कर्म से उसमें मरण और भय अध्यारोपित हैं, इसलिये अमृतत्व और अभयत्व विज्ञानात्मा में नहीं हैं। संयद्वामत्व आदि गुण ऐश्वर्य के न होने के कारण विज्ञानात्मामें अयुक्त ही हैं।

देवतात्माकी यदि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' (किरणों द्वारा यह इसमें प्रतिष्ठित है) इस श्रुति से नेत्रों में स्थिति मानी जाय तो भी उसका आत्मत्व संभव नहीं होता, क्योंकि वह पराग्रूप–बाहर है। अमृतत्व आदि भी संभव नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और प्रलय श्रुति में कही है। देवताओं का अमरत्व बहुत समय तक रहता है परन्तु सर्वदा नहीं रहता। ऐश्वर्य भी परमेश्वर के आधीन है, स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' [तैत्ति० २।८] (ईश्वर के भय से वायु चलता है भय से सूर्य उदय होता है, भय से अग्नि, इन्द्र और पांचवां मृत्यु दौड़ता है) इस प्रकार इस मंत्र में कहा है, इसलिये अक्षिस्थ पुरुष से परमेश्वर ही ग्रहण करना युक्त है। और इस पक्ष में 'दृश्यते' (दीखता है) ऐसा जो प्रसिद्ध के समान

मावर्त्त नावर्त्तन्ते' [छान्दो० ४।१५।१] (आदित्य से चन्द्र को और चन्द्र से विद्युत को प्राप्त होता है। वहाँ अमानव पुरुष इसको ब्रह्म तक पहुँचाता है। यह देवपथ, ब्रह्म पथ है, इससे जाने वाले जन्म मरणादि आवृत्ति वाले इस मानव लोक में फिर नहीं लौटते) ऐसा कहा है। इसलिये यहाँ ब्रह्म ज्ञानी की प्रसिद्ध गति से अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्म है ऐसा निश्चय होता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अनवस्थितेः [सर्वदा] स्थिति न होने से च और असम्भवात् [अमृतत्वादि गुणों के] असम्भव होने से इतरः दूसरा [छायात्मादि] न [इस वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है।

अक्षिस्थ पुरुष छायात्मा, विज्ञानात्मा अथवा देवतात्मा है, ऐसा जो कहा है उसका उत्तर यह है :—छायात्मा आदि दूसरों का ग्रहण करना यहाँ युक्त नहीं हैं क्योंकि उनकी स्थिति सर्वदा नहीं रहती। छायात्मा का आँखों में नित्य रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि जब कोई पुरुष आँखों के पास जाता है तभी आँखों में पुरुष की छाया दीखती है, जब वह दूर चला जाता है तब नहीं दीखती। 'य एषोऽक्षिणि पुरुष' (जो यह आँखों में पुरुष है) यह श्रुति समीप से अपने नेत्रों में दीखने वाले पुरुष को उपास्य उपदेश करती है और उपासना के समय कोई नेत्र के आगे छाया करने वाले पुरुष को खड़ा करके उपासना करता हो ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। 'अस्यैव शरीरस्यनाशमन्वेश नश्यति' [छान्दो० ८।६।१] (इस शरीर के नाश के पीछे ही यह छायात्मा नाश को प्राप्त होता है, यह श्रुति छायात्मा की एक स्थिति न रहना दर्शाती है।

और 'असंभव होने से' (छायात्मा आदि दूसरे का ग्रहण करना युक्त नहीं है)। अमृतत्व आदि गुणों की प्रतीति उस छायात्मा में नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानात्मा का सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों के साथ साधारण सम्बन्ध होते हुये भी वह नेत्रों में ही स्थित है ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि ब्रह्म व्यापक है तो भी उसके ज्ञान के लिये हृदय आदि देशों से श्रुति में सम्बन्ध देखने में आता है, और अमृतत्व आदि गुणों की असम्भावना तो विज्ञानात्मा में छायात्मा के समान है ही। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा से अनन्य-अभेद है तो भी अविद्या, काम और कर्म से उसमें मरण और भय अध्यारोपित हैं, इसलिये अमृतत्व और अभयत्व विज्ञानात्मा में नहीं हैं। संयद्वामत्व आदि गुण ऐश्वर्य के न होने के कारण विज्ञानात्मामें अयुक्त ही हैं।

देवतात्माकी यदि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' (किरणों द्वारा यह इसमें प्रतिष्ठित है) इस श्रुति से नेत्रों में स्थिति मानी जाय तो भी उसका आत्मत्व संभव नहीं होता, क्योंकि वह पराग्रूप-बाहर है। अमृतत्व आदि भी संभव नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और प्रलय श्रुति में कही है। देवताओं का अमरत्व बहुत समय तक रहता है परन्तु सर्वदा नहीं रहता। ऐश्वर्य भी परमेश्वर के आधीन है, स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' [तैत्ति० २। ८] (ईश्वर के भय से वायु चलता है भय से सूर्य उदय होता है, भय से अग्नि, इन्द्र और पांचवां मृत्यु दौड़ता है) इस प्रकार इस मंत्र में कहा है, इसलिये अक्षिस्थ पुरुष से परमेश्वर ही ग्रहण करना युक्त है। और इस पक्ष में 'दृश्यते' (दीखता है) ऐसा जो प्रसिद्ध के समान

ग्रहण किया है उसका कारण यह है कि शास्त्र से विद्वान् पुरुष को परमात्मा का साक्षात्कार होता है इसलिये तथा लोगों की अभिरुचि बढ़ाने के लिये, ऐसा कहा है ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥ १७ ॥

(५) अन्तर्याम्यधिकरण । सू० १८-२०

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

अधिदैवादिषु अधिदैवादि में [जो] अन्तर्यामी अन्तर्यामी है [वह परमात्मा है] तद्धर्मव्यदेशात् उसके (परमात्मा के) धर्म के कथन से ।

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति' (जो इस लोक को और परलोक को और सर्व भूतों को अभ्यन्तर रह कर नियम में रखता है) ऐसा उपक्रम करके श्रुति प्रतिपादन करती है कि—'य पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी नवेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' [बृह० ३ । ७ । १, २ ।] (जो पृथिवी में रह कर पृथ्वी के अभ्यन्तर है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो अभ्यन्तर रह कर पृथिवी को नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है) इत्यादि । यहां देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत और आत्मा को अभ्यन्तर रह कर नियम में रखने वाला कोई अन्तर्यामी है ऐसी श्रुति है; अन्तर्यामी यह एक नया ही नाम देखने में आने से संशय होता है कि वह अन्तर्यामी कौन है ? अधिदैवादि का अभिमानी कोई देवात्मा है, अथवा जिसको अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त हैं ऐसा कोई लौकिक योगी है, अथवा परमात्मा है, अथवा कोई अन्य पदार्थ है ?

पूर्वपक्षी:—संज्ञा-नाम अप्रसिद्ध होने से संज्ञी-नामी भी कोई एक अप्रसिद्ध अन्य पदार्थ होना चाहिये, ऐसा मालूम पड़ता है। अथवा जिसके रूप का निरूपण नहीं हुआ है ऐसा अन्य पदार्थ स्वीकार नहीं कर सकते और अन्तर्यामी शब्द, अन्दर से नियम में रखना इस योग—व्युत्पत्ति म प्रवृत हुआ होने से अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। इस लिये पृथिवी आदि का अभिमानी कोई एक देव अन्तर्यामी होना चाहिए। श्रुति भी ऐसी ही है-'पृथिव्येव यस्यायतनमग्नि-लोको मनो ज्योतिः' [बृह० ३।६।१०] (पृथिवी ही जिसका शरीर, अग्नि नेत्र और मन ज्योति है) इत्यादि। और उसके शरीर इन्द्रियां होने से पृथिवी आदि के अन्दर रहकर नियम में रखता है, इसलिये देवतात्मा नियम में रखने वाला है यह युक्त है। परन्तु परमात्मा की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उसके शरीर इन्द्रियां नहीं हैं।

सिद्धान्ती:—परमात्मा के धर्म के कथन से अधिदैव आदि जो अन्तर्यामी श्रुति में कहा है वह परमात्मा ही है अन्य नहीं है। क्योंकि श्रुति में परमात्मा के धर्म ठीक २ कहे हुए दीखते हैं। अधिदैवादि भेद से भिन्न पृथिवी आदि समस्त विकार समूह के अन्दर रह कर परमात्मा उनको नियम में रखता है इसलिये परमात्मा में यमन करने का धर्म युक्त है। क्योंकि जो सर्व विकार का कारण है वह सर्व शक्तिमान है। 'एष त आत्मान्त-र्याम्यमृतः' (यह तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है) यह आत्मत्व और अमृतत्व मुख्य अर्थ में परमात्मा के विषे युक्त है। 'यं पृथिवी न वेद' (जिसको पृथिवी नहीं जानती यह श्रुति, पृथिवी देवता से अन्तर्यामी नहीं जाना जाता, ऐसा कह कर देवतात्मा से अन्य अन्तर्यामी को दर्शाती है, क्योंकि पृथिवी देवता 'मैं

पृथिवी हूँ' ऐसे अपने को जान सकती है। इसी प्रकार 'अदृष्टोऽश्रुत:' (अदृष्ट अश्रुत) इत्यादि कथन रूपादि विहीन परमात्मा को ही युक्त है।

शरीर इन्द्रिय रहित परमात्मा को नियामकत्व युक्त नहीं है, यह जो कहा सो यह दोष नहीं है। जिनको वह नियम में रखता है उनकी कार्य इन्द्रियां होने से ही उसमें कार्य इन्द्रियां हैं यह कहना युक्त है। उसका भी अन्य नियन्ता होना चाहिए ऐसा अनवस्था दोष सम्भव नहीं है, क्योंकि भेद का अभाव है। यदि वास्तविक भेद हो तो अनवस्था दोष युक्त हो परन्तु वास्तविक भेद है नहीं, इसलिये परमात्मा ही अन्तर्यामी है ॥१८॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

च और **स्मार्तम्** स्मार्त (सांख्य स्मृति में कहा हुआ प्रधान) [भी] **न** [अन्तर्यामी शब्द द्वारा कहा हुआ] नहीं है **अतद्धर्माभिलापात्** उसके (चेतन के) नहीं है ऐसे धर्म के कथन से।

प्रतिपक्षी:—अदृष्टत्व (न दीखना) आदि धर्म सांख्य स्मृति कल्पित प्रधान के भी युक्त हैं यह बन सकता है, क्योंकि वे (सांख्य वाले) प्रधान को रूपादि रहित स्वीकार करते हैं। वास्तव में 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत:' [मनु० १।५] (तर्क न किया जा सके ऐसा, जाना न जा सके ऐसा, सब तरफ से सोता हो ऐसा) ऐसा वे कहते हैं। सर्व विकार का कारण होने से उसमें भी नियंतृत्व धर्म युक्त होता है, इसलिये अन्तर्यामी शब्द से प्रधान कहा हो, यह हो सक्ता है।

सिद्धान्ती:—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ब्रह्म सू० १।१।५] (ईक्षति से प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि वह अशब्द

है) इसमें कथन किया हुआ होने पर भी यहां पर अदृष्टत्व आदि के कथन से फिर भी शंका होती है; इसलिये उसका उत्तर यह है कि अन्तर्यामी शब्द से स्मृति में कहे हुए प्रधान का ग्रहण करना युक्त नहीं है, क्योंकि, अन्य के धर्मों का कथन है। यद्यपि अदृष्टत्व आदि धर्म प्रधान के भी हो सकते हैं, तो भी द्रष्टृत्व आदि धर्म प्रधान में संभव नहीं हैं, क्योंकि वे प्रधान को अचेतन मानते हैं। यहाँ पर 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतोऽमन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' [बृह० ३।७।२३] (अदृष्ट है परन्तु द्रष्टा है, अश्रुत है परन्तु श्रोता है, अमत है परन्तु मन्ता है, अविज्ञात है परन्तु विज्ञाता है) ऐसा अन्तिम वाक्य है। आत्मत्व भी प्रधान को युक्त नहीं है। इसलिये, अन्तर्यामी शब्द से प्रधान का ग्रहण युक्त नहीं है; परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १९ ॥

शंका:—जो आत्मत्व, द्रष्टात्व आदि के असंभव होने से प्रधान को अन्तर्यामी मानना युक्त नहीं है तो शारीर (जीव) को अन्तर्यामी क्यों न मानें; क्योंकि शारीर (जीव) चेतन होने से द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है और प्रत्यक् (अभ्यन्तर) होने से आत्मा भी है और अमृत है, क्योंकि धर्म और अधर्म के फल का तभी उपभोग युक्त होता है। अदृष्टत्व आदि धर्म भी शारीर (जीव) के विषे प्रसिद्ध हैं, क्योंकि दर्शन आदि क्रिया की प्रवृत्ति का कर्त्ता के विषे विरोध है और 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' [बृह० ३।४।२] (दृष्टि के द्रष्टा को तू न देख सकेगा) इत्यादि श्रुतियां हैं। और कार्य कारण संघात को नियमों में रखने का उसका स्वभाव है, क्योंकि शारीर (जीव) भोक्ता है इसलिये वह अन्तर्यामी भी है।

इस शंका का समाधान आगे के सूत्र से करते हैं।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

शारीरः जीवात्मा **च** भी [अन्तर्यामी नहीं है] **हि** क्योंकि **उभये** दोनों (काण्व शाखा वाले और माध्यं दिनी शाखा वाले) **अपि** भी **एनम्** इसको (जीव को) **भेदेन** भेद द्वारा (परमात्मा से भिन्न है ऐसा) **अधीयते** अध्ययन करते हैं।

नहीं, यह पूर्व सूत्र में से लगाया जाता है। शारीर (जीव) अन्तर्यामी युक्त नहीं है। यद्यपि द्रष्टृत्व आदि धर्म उसके हो सकते हैं तो भी घटाकाश के समान 'उपाधि से नियमित और परिच्छिन्न होने से पृथ्वी आदि के अन्दर उसका रहना अथवा उन्हें नियम में रखना संभव नहीं है और काण्व और माध्यंदिनी शाखा वाले दोनों पृथ्वी आदि के समान शारीर अन्तर्यामी से भिन्न और उसका अधिष्ठान और नियम्य है ऐसा अध्ययन करते हैं।

'यो विज्ञाने तिष्ठन्' [बृह० ३।७।२२] (जो विज्ञान में रहकर) ऐसा काण्व शाखा वाले और 'य आत्मनि तिष्ठन्' (जो आत्मा में रह कर) ऐसा माध्यंदिनी शाखा वाले अध्ययन करते हैं। पिछले पाठ में आत्म शब्द शारीर वाचक है और पहले भी विज्ञान शब्द से शारीर कहा जाता है, क्योंकि शारीर विज्ञानमय है। इसलिये शारीर से अन्य अन्तर्यामी है यह सिद्ध है।

शंका :—एक देह में दो द्रष्टा किस प्रकार हो सकते हैं ? ईश्वर अन्तर्यामी है अथवा शारीर ? इन दोनों में से यहाँ किसकी अनुपपत्ति है—किसको अन्तर्यामी कहें ? जो दोनों को अन्तर्यामी कहें तो 'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' (इससे भिन्न द्रष्टा नहीं

है) इत्यादि श्रुति वचन से विरोध होता है। यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामी के सिवाय अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्मा का प्रतिषेध करती है। यदि यह कहो कि अन्य नियन्ता के प्रतिषेध के लिये यह वचन है तो ठीक नहीं है क्योंकि अन्य नियन्ता का प्रसंग नहीं है और विशेष का श्रवण नहीं है।

समाधानः—अविद्या से कल्पित शरीर इन्द्रियों की उपाधि से शारीर और अन्तर्यामी का यहाँ भेद कहा गया है वास्तविक भेद नहीं है। यथार्थ में प्रत्यगात्मा एक ही है; दो प्रत्यगात्मा होना सम्भव नहीं है। एक का ही उपाधि के कारण भिन्न रूप से व्यवहार होता है, जैसे घटाकाश और महाकाश एक होते हुए भी उपाधि से दो कहने में आते हैं। उपाधि के कारण ही ज्ञाता, ज्ञेय के भेद वाली श्रुतियाँ, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, संसार के अनुभव और विधि निषेध मय शास्त्र ये सब उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार 'यत्र वै द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (यथार्थ में जहाँ कुछ द्वैत होता है, वहां इतर इतर को देखता है) यह श्रुति सब व्यवहार अविद्या में दिखलाती है। 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् (परन्तु जहाँ सब इसका आत्मा ही हुआ वहाँ किससे किसको देखे) यह श्रुति विद्या विषय में व्यवहार को वन्द करती है ॥ २० ॥

(६) अदृश्यत्वाधिकरण। सू० २१-२३

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

अदृश्यत्वादिगुणकः—अदृश्यत्वादि गुण वाला [परमात्मा है] धर्मोक्तेः [परमात्मा के] धर्म के कथन से।

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं' तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतंसु-

सूक्ष्मतदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' [मुण्ड० १ । १ । ५, ६] (अब जिस करके वह अविनाशी प्राप्त होता है वह परा विद्या है । ऐसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, वर्ण रहित, नेत्र श्रोत्र हीन, हाथ पैर रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म उस अविनाशी को विद्वान् भूतों का कारण रूप देखते हैं) यह श्रुति है । इसमें संशय होता है कि अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतों का कारण प्रधान, जीव अथवा परमेश्वर कौन है ।

पूर्वपक्षी :—यहाँ पर अचेतन प्रधान भूतों का कारण है, यह ठीक है । क्योंकि अचेतनों का ही दृष्टान्त रूप से ग्रहण किया है जैसे कि 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात केश लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥' [मुण्ड० १।१।७] (जैसे मकड़ी तन्तु को पैदा करती है और पीछे खींच लेती है, जैसे पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित मनुष्य में से केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर में से विश्व उत्पन्न होता है) इस श्रुति में सब अचेतन ही दृष्टान्त रूप से हैं । यदि कहो कि मकड़ी और पुरुष इन दो का चेतन रूप से ग्रहण है तो यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि मात्र चेतन ही तन्तु का अथवा केश और लोम का कारण नहीं है, परन्तु, चेतन से अधिष्ठित जो मकड़ी का अचेतन शरीर है वह तन्तु का कारण है और पुरुष का शरीर केश और लोम का कारण है यह प्रसिद्ध है । पूर्व स्थानों में यद्यपि अदृष्टत्व आदि धर्मों का कथन प्रधान में संभव था तो भी दृष्टत्व आदि धर्मों का कथन सम्भव न होने से प्रधान को अंगीकार नहीं किया था; परन्तु यहां पर अदृश्यत्व आदि धर्म प्रधान में सम्भव हैं और किसी विरुद्ध धर्म का कथन नहीं है इसलिये यहां प्रधान का ही कथन है ।

यदि कहो कि 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (जो सर्वज्ञ. सर्ववेत्ता है) यह वाक्यशेष अचेतन प्रधान के लिये कहना सम्भव नहीं है, तो प्रधान भूत योनि है यह किस प्रकार कहा जाय, तो इसका उत्तर यह है कि 'यथा तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' (जिससे वह अविनाशी प्राप्त होता है), (वह जो अदृश्य है) इस प्रकार अक्षर शब्द से अदृश्यत्व आदि गुण वाले भूत योनि का प्रतिपादन करके अन्त में श्रुति कहती है कि 'अक्षरात् परतः परः' [मुण्ड० १ । २ । १] (महान् अक्षर से श्रेष्ठ) । इस श्रुति में अविनाशी से श्रेष्ठ जो कहा है वह सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता संभव होगा, इसलिये प्रधान ही अक्षर शब्द से कहा हुआ भूत योनि है । यदि योनि शब्द को निमित्त वाचक मानें तो शारीर (जीव) भूत योनि होना चाहिये, क्योंकि धर्म और अधर्म से ही भूत समूह की सृष्टि है ।

सिद्धान्तीः—अदृश्यत्व आदि गुण वाला जो यह भूत योनि है वह परमेश्वर ही है और कोई नहीं है, यह बात धर्म के कथन से समझी जाती है । यहाँ 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (जो सर्वज्ञ' सर्ववेत्ता है) इस प्रकार परमेश्वर का धर्म कहा हुआ दीखता है । अचेतन प्रधान का अथवा जिसकी दृष्टि उपाधि से परिच्छिन्न होगई है ऐसे शारीर (जीव) का सर्वज्ञत्व अथवा सर्ववेत्तृत्व धर्म होना संभव नही है । परन्तु अक्षर शब्द से कही हुई जो भूत योनि है, उससे जो पर है, उसमें सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व सम्भव है, भूत योनि में सम्भव नहीं है, ऐसी जो शका की है, उसका उत्तर यह है कि ऐसा सम्भव नहीं है । क्योंकि 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (अक्षर से यहां विश्व की उत्पत्ति होती है) इस प्रकार भूत योनि को उत्पन्न करने वाली कहकर पीछे से सर्वज्ञ का उत्पत्ति कर्ता रूप से कथन किया है ।

'यः सर्वज्ञः सर्व विद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥' (जो ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है उसमें से यह यानी कार्य लक्षण ब्रह्म उत्पन्न होता है, वैसे ही नाम और रूप और अन्न उत्पन्न होता है)। इसलिये समान कथन से सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व ये धर्म प्रकृत अक्षर भूत योनि के ही कहे गये हैं, ऐसा समझा जाता है। 'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर उससे पर) इसमें भी प्रकृत भूत योनि अक्षर से पर कोई है ऐसा नहीं समझा जाता, क्योंकि 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' [मुण्ड० १।२।१३] (जिस ज्ञान से अक्षर सत्य पुरुष को जाने उसे ब्रह्म विद्या कहना चाहिये) इस प्रकार प्रकृत भूत योनि को ही अदृश्यत्व आदि गुण वाला अक्षर कहा है। यदि कहो कि फिर 'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर है उससे पर) ऐसा क्यों कथन किया है, तो इस शंका का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे। परा और अपरा दो विद्यायें जानने योग्य कही हैं। उनमें ऋग्वेदादि लक्षण वाली अपरा विद्या कह कर कहा है:- 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (पीछे परा विद्या है जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है) इत्यादि। इसमें अक्षर परा विद्या का विषय कहा है। यदि ऐसी कल्पना करें कि अदृश्यत्व आदि गुण वाले परमेश्वर से अक्षर भिन्न है तो यह परा विद्या न हो सकेगी। सच तो यह है कि परा और अपरा यह जो विद्याओं का विभाग किया है वह अभ्युदय और मोक्ष के लिये किया गया है। प्रधान की विद्याका फल मोक्ष है ऐसा कोई नहीं मानता। तेरे पक्ष में भूतयोनिरूप अक्षर से पर परमात्मा का निरूपण होने से तीन विद्याओं की प्रतिज्ञा होती है, परन्तु श्रुति ऐसा कहती है कि जानने योग्य दो ही विद्यायें हैं। 'कस्मिन्नु

भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड० १ । १ । ३] (भगवन् ! किसके जानने से सबका ज्ञान होता है)' जिसके जानने से सबका ज्ञान हो जाय ऐसा एक ब्रह्म ही है। इसलिये यहां ब्रह्म का ही कथन है ऐसा समझा जाता है, अचेतन प्रधान अथवा भोग्य से भिन्न भोक्ता का कथन हो ऐसा नहीं समझा जाता, क्योंकि उनके जानने से सब का जानना संभव नहीं है। और 'स ब्रह्मविद्यां सर्व विद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्रायप्राह' [मुण्ड० १ । १ । १] (उसने सब विद्याओं की आधार रूप ब्रह्म विद्या, ज्येष्ठ पुत्र अथर्व से कही) इस प्रकार ब्रह्म-विद्या का मुख्यता से उपक्रम करके परा और अपरा दो विभाग करके परा विद्या जो अक्षर का ज्ञान कराती है वह ब्रह्म-विद्या है, ऐसा कहा है। वह ब्रह्म-विद्या जिस ब्रह्म का ज्ञान कराती है यदि वह ब्रह्म ही न हो तो बाधित हो यानी ब्रह्म विद्या ही न कहलाय। ऋग्वेदादि लक्षणा वाली अपरा-कर्म विद्या के उपक्रम मे ब्रह्म-विद्या की प्रशंसा के लिये कथन किया है, क्योंकि 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥' [मुण्ड० १ । २ । ७] (वास्तविक ऋत्विज आदि अठारह जो यज्ञरूप हैं, अदृष्ट और विनाशी नावके सदृश हैं; इनके कर्म को हलका बताया है, जो मूढ़ इनको श्रेय रूप मानते हैं वे फिर से जरा मृत्यु को प्राप्त होते हैं) इत्यादि निन्दा के वचन हैं। इस प्रकार अपरा विद्या को हलकी बता कर उससे विरक्त हुए पुरुष को परा विद्या का अधिकार दिखलाया है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य-कृतः कृतेन। तद्विज्ञनार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥' [मुण्ड० १ । २ । १२] (कर्म मे प्राप्त होने वाले

लोकों को नश्वर जानकर ब्राह्मण को वैराग्य ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि कर्म से मोक्ष नहीं होता। इसलिये उसको ब्रह्म के जानने के लिये हाथ में समिध लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये)। पृथिवी आदि अचेतन पदार्थों का दृष्टान्त रूप ग्रहण करने से दार्ष्टान्तिक भूत योनि भी अचेतन होना चाहिये यह जो कहा वह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त समानता हो यह नियम नहीं है। स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्त रूप लेने से दार्ष्टान्तिक भूत योनि भी स्थूल ही है ऐसा नहीं माना जाता। इसलिये अदृश्यत्व आदि गुण वाला भूत योनि परमेश्वर ही है ॥ २१ ॥

विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

च और विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां विशेषण और भेद के कथन से [भूत योनि परमात्मा है] इतरौ दूसरे दो (जीव और प्रधान) न नहीं हैं।

विशेषण और भेद के कथन से परमेश्वर ही भूत योनि है; दूसरे दो जीव अथवा प्रधान नहीं हैं। 'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' [मुण्ड० २।१।२] (दिव्य, मूर्त्ति रहित, पूर्ण बाहर और भीतर रहने वाला, अज, प्राण रहित, मन रहित, शुद्ध) यह श्रुति प्रकृत भूत योनि के विशेषण कहती है, जो जीव से विलक्षण हैं। ये दिव्यत्व आदि विशेषण अविद्यासे दबे हुए, नाम रूप के अभिमानी और उनके धर्मों को अपने में कल्पने वाले जीव के विषे युक्त नहीं हैं, इसलिये साक्षात् औपनिषद पुरुष का यहां पर कथन है। इसी प्रकार 'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर उससे पर) यह श्रुति प्रकृत भूत योनि को प्रधान से भी भिन्न बताती है। अक्षर

का अर्थ, जो विकार को नहीं प्राप्त होता, जो नाम के बीज का शक्ति रूप है जिसमें भूतों के संस्कार हैं, ईश्वर जिसका आश्रय है, और जो उसकी ही उपाधि भूत है, सर्व विकार से पर ऐसा जो अविकारी है वह (यानी अज्ञान) है। उस अक्षर से पर है, इस प्रकार के भेद से कथन किया है, इसलिये यहां पर परमात्मा ही कहा गया है, ऐसा यह श्रुति दिखलाती है। यहां पर प्रधान नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व है इस प्रकार स्वीकार करके प्रधान से उसका भेद है ऐसा नहीं कहा है। किन्तु ऐसा कहा है कि यदि प्रधान की कल्पना की जाय और श्रुति से विरोध न हो इस प्रकार अव्याकृतादि शब्द वाच्य और जिसमें भूतों के संस्कार हैं ऐसी उसकी कल्पना की जाय तो भले ही कल्पना करो। परन्तु इससे वह भिन्न है ऐसा कथन होने से भूत योनि परमेश्वर है यह यहां पर प्रतिपादन किया गया है ॥ २२ ॥

और परमेश्वर भूत योनि क्यों हैं ?

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

च और रूपोपन्यासात् रूप के उपन्यास से [पर मेश्वर भूत योनि है]

'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर उससे पर) और फिर 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इसमें से प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार प्राण से आरम्भ करके पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि कह कर, इस भूत योनि रूप परमात्मा के ही विकार वाले सब रूप हैं, ऐसा श्रुति कहती है। 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य

पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ॥' [मुण्ड॰ २। १। ४] (द्यु लोक जिसका मस्तक है, चन्द्र सूर्य नेत्र हैं, दिशायें कर्ण हैं, वेद जिसकी प्रकट वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, जिसके दो पैरों में से पृथिवी उत्पन्न हुई है, यह विष्णुदेव सब भूतों का अन्तरात्मा है) ये सब धर्म परमात्मा के ही युक्त हैं, क्योंकि वह सर्व विकारों का कारण है। ये धर्म शारीर (जीव) के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उस की महिमा अल्प है। इसी प्रकार यह रूप का उपन्यास प्रधान को भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रधान का सर्व भूतों का अन्तरात्मा होना सम्भव नहीं है। इसलिये परमेश्वर ही भूत योनि है दूसरे दोनों (शारीर और प्रधान) नहीं हैं ऐसा समझा जाता है।

शंका:—यह रूप का उपन्यास भूत योनि का है, यह किस कारण से समझा जाता है ?

समाधान:—प्रकरण से और 'एष:' (वह) इस प्रकार का प्रकृत ब्रह्म का सूचन किया है इससे ऐसा समझा जाता है। भूत योनि को प्रकृत करके 'एतस्माज्जायते प्राण:' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' (इसमें से प्राण उत्पन्न होता हैं, यह सब भूतों का अन्तरात्मा है) यह वचन भूत योनि के लिये ही है। जैसे, उपाध्याय को प्रकृत करके 'एतस्मादधीष्व' 'एष वेद वेदाङ्ग पारग:' (इससे पढ़, यह वेद और वेदांग के पार गया हुआ है) यह जो वचन है सो उपाध्याय के लिये ही है, इसी प्रकार उपरोक्त वचन भूत योनि ब्रह्म के लिये ही है।

शंका :—परन्तु अदृश्यत्वादि गुण वाले भूत योनि का शरीर वाला रूप किस प्रकार हो सकता है ?

समाधान :—भूत योनि का शरीर वाला रूप जो कहा है वह 'भूत योनि का शरीर है' ऐसा कहने की इच्छा से नहीं कहा

है; किन्तु 'भूत योनि सर्व का आत्मा है' ऐसा कहने की इच्छा से कहा है, इसलिये दोष नहीं है। 'अहमन्नमहमन्नाद:' [तैत्ति० ३।१०।६] (मैं अन्न हूँ, मैं अन्न खाने वाला हूँ) जैसे इस श्रुति में भोग्य और भोक्ता रूप एक ही है; इसी प्रकार उपरोक्त श्रुति में शरीर और शरीर वाला एक ही भूत योनि को कहा है।

शंका:—कोई २ ऐसा मानते हैं कि यह भूत योनि के रूप का उपन्यास नहीं है, क्योंकि यहां पर उत्पत्ति मात्र का सूचन किया है। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (इसमें से प्राण मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इस प्रकार श्रुति प्राण से लेकर पृथिवी तक सब तत्त्वों की उत्पत्ति बताती है; और पीछे भी 'तस्मादग्निः समिधोर्यस्य सूर्यः' (जिसका समिधरूप सूर्य है ऐसा अग्नि—स्वर्ग उसमें म उत्पन्न हुआ) इस प्रकार आरम्भ करके 'अतश्च सर्वा औषधयो रसाश्च' (और इसमें से सब औषधियाँ और रस उत्पन्न हुए) यहाँ तक उत्पत्ति ही कथन की है तो यहाँ बीच में ही एकदम भूत योनि के रूप का श्रुति किस प्रकार निरूपण कर सकती है ?

समाधान:—श्रुति सृष्टि की परिसमाप्ति करके पीछे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' [मुण्ड० २।१।१०] (पुरुष ही यह विश्व तथा कर्म हैं) इस प्रकार भूत योनि की सर्वात्मता का भी तो कथन करती है। त्रैलोक्य जिसका शरीर है ऐसे प्रजापति का जन्मादि श्रुति और स्मृति में देखने में आता है। जैसे कि 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥' [ऋ० सं० १०।१२१।१] (प्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होकर वह भूतों का एक पति हुआ। उसने द्युलोक

को और इस पृथिवी को धारण किया, हविष से किस देव की
पूजा करें) 'समवर्त्तत' का अर्थ उत्पन्न हुआ, ऐसा है। इसी
प्रकार 'स वै शरीरी प्रथमः सः वै पुरुष उच्यते। आदि कर्ता
सभूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तते॥' (वह ही प्रथम शरीरी है, वह
ही पुरुष कहलाता है, भूतों का आदिकर्ता वह ब्रह्मा प्रथम
उत्पन्न हुआ)। विकार युक्त पुरुष भी सब भूतों का अन्तरात्मा
हो सकता है क्योंकि प्राणात्मा रूप से सब भूतों के आत्म
रूप से उसकी स्थिति है। यहां पर 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म'
(पुरुष ही यह विश्व तथा कर्म है) इत्यादि सर्व रूप का निरू-
पण परमेश्वर की प्राप्ति के लिये हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥२३॥

(७) वैश्वानराधिकरण। सू० २४-३२

वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात् ॥ २४ ॥

वैश्वानरः [श्री छान्दोग्योपनिषद् में कहा हुआ] वैश्वानर
[परमात्मा है] **साधारण शब्द विशेषात्** साधारण शब्द के
विशेष से।

'को न आत्मा किं ब्रह्म' [छान्दो० ५। ११। १] (हमारा
आत्मा कौन है, ब्रह्म' क्या है) और 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं
संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' [छान्दो० ५। ११। ६] (इस
वैश्वानर आत्मा का ही अब तू स्मरण करता है उसी को हम
से कह) इस प्रकार उपक्रम करके द्यु सूर्य, वायु, आकाश, जल
और पृथिवीं, ये तेज आदि गुणों से युक्त हैं ऐसा बताती हुई
और एक २ की उपासना की निन्दा करती हुई वैश्वानर में
स्वर्ग आदिक का मूर्धा आदि भावों द्वारा उपदेश करके श्रुति
कहती है:—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते स सर्वेषु भूतेषु सर्वेस्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्या-

त्मनो वैश्वानरस्य मुर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्व-त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' [छान्दो० ५ । १८ । १, २] (विश्वात्मा जो प्रदेश-मात्र रूप अर्थात् जो पृथ्वी तथा स्वर्ग में व्याप्त तथा जो अहं शब्द से कहा हुआ मुख्य वस्तु रूप है, उस वैश्वानर आत्मा का प्रत्यक् ब्रह्म रूप से जो उपासना करता है वह सर्व लोकों में, सर्व भूतों में सर्व आत्माओं अर्थात् सर्व देह इन्द्रिय आदि में स्थिति कर अच्छी प्रकार से अन्न भक्षण करता है। इस सर्वत्र व्यापक परमात्मा का स्वर्ग मस्तक रूप है, आदित्य चक्षु रूप है, वायु प्राण रूप है, आकाश उदर रूप है, जल वस्ति-मूत्र स्थान रूप है तथा पृथिवी पाद रूप है. वेद वक्षस्-छाती रूप है, बर्हि केश रूप है, गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय रूप है, अन्वाहार्य पचन अग्नि उसका मन रूप है तथा आहवनीय अग्नि मुख रूप है)। इसमें संशय होता है कि यहां पर वैश्वानर शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिये; जठराग्नि का अथवा उसके अभिमानी देवता का अथवा जीव का अथवा परमेश्वर का। क्योंकि, जठराग्नि, भूताग्नि और देवता के लिये यहां वैश्वानर इस साधारण शब्द का प्रयोग किया गया है और शारीर तथा परमेश्वर के लिये आत्मा इस साधारण शब्द का प्रयोग है, इसलिये संशय होता है कि किसका ग्रहण करना ठीक है और किसका त्याग करना ठीक है।

पूर्वपक्षीः—वैश्वानर का अर्थ जठराग्नि लेना उचित है; क्योंकि कितने ही स्थानों पर जठराग्नि का विशेषण रूप से प्रयोग देखने में आता है। जैसे कि 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽय-मन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' [बृ० ५ । ९] (शरीर के मध्य भाग में जो अग्नि रहता है उसको वैश्वानर कहते हैं,

जो अन्न खाया जाता है उसको यह अग्नि पचाता है) इत्यादि में जठराग्नि के लिये वैश्वानर शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा, वैश्वानर से केवल अग्नि समझना चाहिये, क्योंकि सामान्य अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। जैसे कि 'विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' [ऋ० सं० १०। ८८। १२] (सब भुवनों के लिये देवताओं ने वैश्वानर अग्नि को दिन का चिह्न किया) इत्यादि में ऐसा प्रयोग देखने में आता है। अथवा इससे अग्नि जिसका शरीर है। ऐसा देवता समझनाचाहिये, क्योंकि उसके लिये भी प्रयोग देखने में आता है; जैसे कि 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनाना मभिश्रीः' [ऋ० सं० 1। ९८। 1] (वैश्वानर की सुमति में हमको रहना चाहिए, क्योंकि वह भुवनों का सुख देने वाला राजा है और श्रीयुत है) इत्यादि श्रुतिका ऐश्वर्य युक्त देवताओं के लिये ही होना सम्भव है। और आत्मा शब्द का वैश्वानर के साथ समानाधिकरण है इसलिये उपक्रम में 'को नः आत्मा किं ब्रह्म' (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्मा शब्द का प्रयोग होने से आत्मा शब्द के साथ वैश्वानर शब्द को जोड़ना चाहिये ऐसा कहो तो भी वैश्वानर शब्द से आत्मा का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि आत्मा भोक्ता रूप से वैश्वानर के समीप में है और आत्मा का प्रादेश मात्र यानी इतना यह विशेषण उपाधि से परिच्छिन्नता में ही हो सकता है इसलिये वैश्वानर ईश्वर रूप नहीं है।

सिद्धान्तीः—वैश्वानर परमात्मा रूप ही होना योग्य है, क्योंकि साधारण शब्दों का विशेष रूप होता है—वैश्वानर तथा आत्मा सामान्य शब्द हैं, उनमें वैश्वानर विशेष है। यद्यपि

आत्मा और वैश्वानर दोनों शब्द साधारण हैं. उनमें वैश्वानर शब्द तीन के लिये अर्थात् जीव, परमात्मा और अग्नि के लिये साधारण है तथा आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये सामान्य है, तो भी यहां विशेषता होने से दोनों शब्द परमेश्वर वाचक है। जैसे कि तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा' (उस इस आत्मा वैश्वानर का मस्तक ही अत्यन्त तेज वाला है) इत्यादि। यहां पर परमेश्वर को ही द्यु मूर्धत्वादि विशिष्ट रूप से, तथा अन्य अवस्थाओं को प्राप्त हुए, प्रत्यगात्मा रूप से, ध्यान करने के लिये अंगीकार किया है, क्योंकि वह कारण रूप है। कारण रूप परमात्माकी ही कार्य वाली सब अवस्थाओं में स्थिति होने से द्यु लोकादि अवयव रूप से उसकी सूचना करनी युक्त है। 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (वह सर्व लोकों में, सर्व भूतों में तथा सर्व आत्माओं में अन्न भक्षण करता है) इस प्रकार सर्व लोकादि का आश्रय रूप जो फल श्रुति ने कहा है वह परम कारण रूप में ही संभव हो सकता है। 'एवं हास्य सर्वेंपाप्मानः प्रदूयन्ते' [छान्दो० ५।२४।३] (इस प्रकार अधिकारी के सर्व पाप जल जाते हैं) इस रीति से आत्मसाक्षात्कार वाले के सब पापों का नाश कहा है। 'को नः आत्मा किं ब्रह्म' (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्मा तथा ब्रह्म शब्द द्वारा प्रारम्भ करके जितने विशेषण दिये हैं वे परमेश्वर के ही दिखाई देते हैं इसलिये परमेश्वर ही वैश्वानर रूप है ॥ २४ ॥

अब यही बात स्मृति का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

स्मर्यमाणं स्मृति द्वारा कहा हुआ [परमात्मा का रूप वैश्वानर शब्द के परमात्मा रूप होने का] **अनुमानं** अनुमान

स्यात् होता है इति इसलिये [वैश्वानर परमात्मा ही है]।

और स्मृति से भी वैश्वानर परमेश्वर ही है, क्योंकि परमेश्वर का ही मुख अग्नि रूप तथा मस्तक स्वर्ग रूप है। इस प्रकार परमेश्वर का तीनों लोक वाला स्वरूप स्मृति भी प्रतिपादन करती है। जैसे कि 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा ख नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' (जिसका मुख अग्नि रूप, स्वर्ग मस्तक रूप. आकाश नाभि रूप, चरण पृथिवी रूप, सूर्य चक्षु रूप तथा दिशायें श्रोत रूप हैं, उस लोकात्मा रूप परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ)। इस प्रकार स्मृति में कहे हुए परमात्मा का स्वरूप मूलभूत श्रुति के समान हीं है। इसलिए अनुमान प्रमाण से वैश्वानर शब्द का परमेश्वर रूप हीं मानना ठीक है। यहां पर मूल सूत्र में जो इति शव्द लगाया है वह हेतुवाचक है, अर्थात् इस प्रकार स्मृति में अनुमान है, इस कारण भो वैश्वानर परमात्मा रूप है, इस प्रकार का अर्थ है। 'तस्मै लोकात्मने नमः' इस प्रकार जो स्तुति है यदि वह मूल वेद में न हो तो इस रूप में भी योग्य प्रकार से संभव न हो। 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभि चन्द्र सूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्व भूत प्रणेता॥' (विद्वान् स्वर्गलोक को जिसका मस्तक, आकाश को नाभि, चन्द्र सूर्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और पृथिवी को चरण कहते हैं, वह आत्मा अचिन्त्य है तथा सव भूतों का प्रणेता है, ऐसा तू जान)। यह स्मृति भी ऊपर कही हुई वार्ता को सिद्ध करती है, इसलिये वैश्वानर परमात्मा ही है ॥ २५॥

अब वाजसनेयी शाखा वालों के मत से वैश्वानर का परमात्मा होना सिद्ध करते हैं:—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्यु-पदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

शब्दादिभ्यः शब्दादि से च और अन्तःप्रतिष्ठानात् [शरीर के] भीतर स्थिति से [वैश्वानर परमात्मा] न नहीं है इति ऐसा चेत् [कहो] तो [यह संभव] न नहीं तथा इसी प्रकार [जठराग्नि अवच्छिन्न ब्रह्म में] दृष्ट्युपदेशात् उपासना के उपदेश से [और] असंभवात् [केवल जठराग्नि में 'स्वर्ग जिसका मस्तक' इत्यादि के] असम्भव होने से च तथा [वाजसनेयि शाखा वाले] एनं इसको (वैश्वानर को) पुरुषं पुरुष रूप से अपि भी अधीयते अध्ययन करते हैं. [इसलिये वैश्वानर परमेश्वर ही है]।

शंकाः—वैश्वानर का शब्दादि से अर्थात् परमात्मा से भिन्न निरूपण होने से और वैश्वानर की स्थिति भीतर होने से वैश्वानर को परमात्मा कहना योग्य नहीं प्रथम तो वैश्वानर शब्द परमेश्वर के विषे लगना संभव नहीं है, क्योंकि वह अन्य अर्थ में लगाया गया है; और इसी प्रकार 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' (ऐसा यह वैश्वानर अग्नि है) इसमें अग्नि शब्द परमेश्वर के लिये होना संभव नहीं है। (शब्दादि के) आदि शब्द से 'हृदयं गार्हपत्यः' [छान्दो० ५ । १८ । २] (हृदय गार्हपत्य है) इत्यादि तीनों अग्नियों की कल्पना का और 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' [छान्दो० ५ । १९।१] (उसमें जो अन्न प्रथम आवे वह होम का साधन रूप है) इत्यादि से प्राणाहुति का (वैश्वानर) अधिकरण है, ऐसा कहा है, उसीका ग्रहण करना चाहिये। इन कारणों से वैश्वानर को

जठराग्नि जानना योग्य है। इसी प्रकार श्रुति में कहा है कि जठराग्नि की स्थिति भीतर है जैसे कि 'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के भीतर स्थित हुआ है ऐसे उसको वह जानता है), यह जठराग्नि के लिये ही संभव है। और 'मूर्धैव सुतेजा' (मस्तक ही अत्यन्त तेजवाला है) इत्यादि विशेषरूप कारण से वैश्वानर ही परमात्मा है ऐसा कहा है। इस सम्बन्ध में मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसा नहीं होसक्ता। क्योंकि यद्यपि दोनों प्रकार से विशेष का ज्ञान होता है तो भी परमेश्वर सम्बन्धी ही विशेष का आश्रय करना योग्य है, जठराग्नि सम्बन्धी विशेष का नहीं, यह नहीं हो सकता। अथवा अन्दर और वाहर रहने वाले भूताग्नि का यह कथन होगा, क्योंकि उसका भी द्युलोक आदिक के साथ सम्बन्ध इस मंत्र वर्ण से समझाया गया है:— 'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम् [ऋ० सं० १० । ८८ । ३] (जिसने यानी भूताग्नि ने इस पृथिवी, द्युलोक और अंतरिक्ष को अपने तेज से व्याप्त किया है)। भूताग्नि जिसका शरीर है ऐसे देवता के योग से द्युलोक आदि अवयव होंगे, इसलिये वैश्वानर परमात्मा नहीं है।

समाधान:—यह दोष नहीं है, क्योंकि वैश्वानर को परमेश्वर रूप समझने का उपदेश है। शब्दादि, कारणों को लेकर वैश्वानर परमेश्वर नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वैश्वानर को जठराग्नि रूप मानते हुए भी वह परमेश्वररूप है ऐसा उपदेश है। यहां पर जठराग्नि तथा वैश्वानर दोनों में ही परमेश्वर दृष्टि रखने का उपदेश किया गया है जैसे कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत [छान्दो० ३ । १ । ८१] (मन की ब्रह्म रूप से उपासना करे) अथवा जठराग्नि तथा वैश्वानर जिसकी उपाधि हैं ऐसे परमेश्वर का यहाँ द्रष्टव्य रूप से उपदेश किया है; जैसे कि 'मनोमयः

प्राण शरीरो भा रूपः' [छान्दो० ३ । १४ । २] ([वैश्वानर] मनोमय रूप, प्राण शरीर रूप तथा प्रकाश स्वरूप है)। यदि यहाँ पर परमेश्वर का निरूपण न हो, केवल जठराग्नि का ही निरूपण हो तो 'उसका मस्तक अत्यन्त तेज वाला है, इत्यादि विशेष का संभव न हो। देवता तथा भूताग्नि का आश्रय लिये विना परमेश्वर सम्बन्धी इस विशेष भाव का निरूपण करना सम्भव नहीं है इसके सम्बन्ध में आगे के सूत्र में कहेंगे। यदि केवल जठराग्नि का ही निरूपण हो तो पुरुष के केवल भीतर रहना ही समझा जायगा पुरुषत्व नहीं समझा जा सकता। वाजसनेयी शाखा वाले भी वश्वानर को पुरुष रूप से ही कहते हैं:—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्त प्रतिष्ठितं वेद' [श० ब्रा० १० । ६ । १ । १२] (जो पुरुष है वह यह वैश्वानर अग्नि है। निश्चय जो इस प्रकार से उस वैश्वानर अग्नि को पुरुष रूप और पुरुष के अन्दर रहा हुआ जानता है)। परमेश्वर सर्वात्मक होने से पुरुष का तो पुरुषत्व और पुरुष के अन्दर रहना दोनों ही युक्त हो सकते हैं। जो लोग 'पुरुष विधिमपि चैनमधीयते' इस प्रकार सूत्र का पाठ स्वीकार करते हैं वे उसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—केवल जठराग्नि ही स्वीकार कर तो केवल पुरुष के भीतर रहना ही घट सकता है, परन्तु पुरुष के समान होना नहीं घट सकता; और वाजसनेयी शाखा वाले 'यह पुरुष के समान है' ऐसा भी अध्ययन करते हैं, जैसे कि 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान पुरुष के भीतर रहा हुआ [जो] जानता है)। इस प्रकार स्वर्ग रूप मस्तक से लेकर पृथिवी प्रतिष्ठितत्व पर्यन्त जो पुरुष के समान अधिदेव रूप है और मस्तक से लेकर दाढ़ी पर्यन्त

अध्यात्म रूप है, उस पुरुष सदृश का यहां ग्रहण करना चाहिये ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

अतः इसीलिये (पूर्वोक्त हेतु से) एव ही [वैश्वानर] देवता [अग्न का अभिमानी] देवता न नहीं है च और भूतं भूताग्नि [भी नहीं है]।

मंत्र में भूताग्नि का सम्बन्ध द्यु लोक आदि के साथ देखने में आता हैं, इसलिये 'मूर्धेव सुतेजा' (मस्तक ही अत्यन्त प्रकाश वाला) इत्यादि से भूताग्नि के अवयवों की ही कल्पना होगी अथवा भूताग्नि जिसका शरीर है ऐसे देव के अवयवों की कल्पना ऐश्वर्य योग से होगी, ऐसी शंका जो पूर्व की है, उसका समाधान यह है कि इन ऊपर कहे हुए कारणों से ही वैश्वानर भूताग्नि नहीं है और भूताग्नि का अभिमानी देव भी नहीं है। क्योंकि उष्णता और प्रकाश मात्र जिसका स्वरूप है ऐसे भूताग्नि का द्यु मस्तक है, ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है। भूताग्नि कारण नहीं है किन्तु कार्य-विकार है और विकार दूसरे विकार का स्वरूप हो, यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐश्वर्य योग होने पर भी देवका द्यु मस्तक है ऐसी कल्पना करना नहीं बन सकता। देव भी कारण नहीं है, क्योंकि उसका ऐश्वर्य परमेश्वर के आधीन है और आत्म शब्द तो किसी पक्ष में भी भूताग्नि अथवा देव के लिये नहीं हो सकता। इसलिये वैश्वानर भूताग्नि अथवा उसका अभिमानी देव नहीं है किन्तु परमेश्वर ही है ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

साक्षात् साक्षात् (जठराग्नि के सम्बन्ध विना) [ईश्वर उपास्य होने में] **अपि** भी **अविरोधं** [शब्द का] अविरोध है [ऐसा] **जैमिनिः** जैमिनि [मानता है]।

शंका :—पूर्व में ऐसा कहा था कि जठराग्नि स्वरूप अथवा जठराग्नि उपाधि वाले परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि अग्नि कीं स्थिति भीतर है। और अब ऐसा कहते हो कि स्वरूप अथवा उपाधि की कल्पना के विना भी साक्षात् परमेश्वर की उपासना ग्रहण करने में भी कुछ दोष नहीं है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानता है। परन्तु, यदि जठराग्नि का ग्रहण न किया जायगा तो (वैश्वानर की) भीतर स्थिति है इस वचन में और शब्दादि कारण में विरोध आवेगा, इसका क्या ?

समाधान :—यह दोष नहीं हैं, क्योंकि (वैश्वानर की) भीतर स्थिति है यह कहना अयुक्त नहीं है। यहाँ पर 'पुरुषं विधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान, पुरुष के भीतर स्थित वाले को जो जानता है) ऐसा जो कहा है वह जठराग्नि के अभिप्राय से नहीं कहा है; क्योंकि यहाँ पर जठराग्नि का प्रकरण नहीं है और यहाँ जठराग्नि वाचक शब्द भी नहीं है। यदि कहो कि प्रकृत रूप और शब्द से वाच्य नहीं है तो और क्या है तो उसका उत्तर सुनो :—मस्तक से लेकर दाढ़ी तक पुरुष के अवयवों में जो कल्पना की गई है, उसी के अनुसार 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान, पुरुष के भीतर स्थिति वाले को जो जानता है) यह वर्णन है, जैसे यह कहा जाय कि वृक्ष में रही हुई शाखा को देखता है, इसी प्रकार यहां

कहा गया है। अथवा जिस प्रकृत परमात्मा की पुरुष साम्यता, अधिदैव और अध्यात्म उपाधि है उसका जो केवल साक्षी रूप है, उसी के अभिप्राय से यह कहा है, जैसे, 'पुरुषोऽन्तः प्रतिष्ठतं वेद' (पुरुष के भीतर रहा हुआ सब जानता है।) पूर्वापर अनुसंधान से परमात्मा स्वीकार करना ही निश्चित होता है अर्थात् किसी व्युत्पत्ति से भी वैश्वानर शब्द परमात्मा के अर्थ का ही सूचन करेगा। वैश्वानर की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :— 'विश्वश्चायं नरश्चेति' (विश्वरूपी नर) अथवा 'विश्वेषामयं नरः (विश्व का यह नर) अथवा 'विश्वेनरा अस्येति विश्वानरः, (सब जिसके नर हैं वह विश्वानर) अर्थात् परमात्मा क्योंकि परमात्मा सर्वात्मक है। 'विश्वानर एव वैश्वानरः' —विश्वानर ही वैश्वानर है, इसमें राक्षस वा वायस की समान अनन्यार्थ वाचक—प्रकृत अर्थ सूचन करने वाला तद्धित प्रत्यय है। 'अग' धातु और 'नि' प्रत्यय मिल कर अग्नि शब्द बनता है, इसलिये अग्नि शब्द का अर्थ अग्रणीत्व यानी आगे जाना हुआ; इस व्युत्पत्तिसे अग्नि शब्द परमात्मा के लिये ही युक्त होता है। गार्हपत्य आदि कल्पना और प्राणाहुति का अधिकरणत्व परमात्मा के लिये ही युक्त है, क्योंकि वह सबका आत्मा है ॥ २८ ॥

यदि वैश्वानर का अर्थ परमात्मा अंगीकार करें तो उस के प्रदेश मात्र का कथन करने वाली श्रुति किस प्रकार युक्त होगी ? इस शंका का उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं:—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अभिव्यक्तेः [प्रादेश मात्र होने का कथन] प्रकटता के लिये [है] **इति** ऐसा **आश्मरथ्यः** आश्मरथ्य [आचार्य मानते हैं]।

अपरिमाण रूप व्यापक परमात्मा के प्रादेश मात्र होने का जो कथन है वह केवल उसकी प्रकटता के निमित्त है। उपासकों के हित के लिये प्रदेश विशेष में (हृदयादि स्थानों में) जो प्रकट होता है वह परमात्मा प्रादेश मात्र कहलाता है। परमात्मा का साक्षात्कार हृदय आदि स्थानों में ही हो सकता है। इसलिये परमेश्वर के सम्बन्ध में प्रादेश मात्र रूप जो श्रुति कही है वह योग्य है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २९ ॥

इस सम्बन्ध में बादरि आचार्य का मत कहते हैं:—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अनुस्मृतेः [प्रादेश मात्र हृदय में रहे हुए मन द्वारा] अनुस्मरण होने से [परमात्मा को प्रादेश मात्र कहा है ऐसा] बादरिः बादरि [आचार्य मानते हैं] ।

प्रादेश मात्र हृदय में रहे हुये परमेश्वर का मन द्वारा स्मरण किया जाता है, इसलिये परमेश्वर प्रादेश मात्र है, ऐसा कहा जाता है। जैसे प्रस्थ (एक प्रकार के माप) से मापा हुआ जव प्रस्थ कहलाता है इसी प्रकार परमेश्वर प्रादेश मात्र कहा है। यद्यपि जव में रहा हुआ परिमाण प्रस्थ के सम्बन्ध से व्यक्त—भिन्न हो जाता है और यहां परमेश्वर में कोई भी परिणाम नहीं है जो हृदय के सम्बन्ध से व्यक्त—भिन्न हो जाय, तो भी श्रुति में परमेश्वर को जो प्रादेश मात्र कहा है, वह केवल अनुस्मरण–ध्यान–चिंतवन का अवलम्बन लेकर कहा है। अथवा, यों समझना चाहिये कि यद्यपि परमात्मा प्रादेश मात्र नहीं है तो भी प्रादेश मात्र कहने वाली श्रुति सार्थक है, क्योंकि प्रादेश मात्र द्वारा ही परमात्मा का स्मरण हो सकता है। इस प्रकार से

बादरि आचार्य मानते हैं कि परमेश्वर के सम्बन्ध में जो प्रादेश मात्र श्रुति है वह अनुस्मरण–ध्यान के निमित्त ही है ॥ ३० ॥

अब इस विषय में जैमिनि का मत कहते हैं:—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

सम्पत्तेः सम्पत्ति से (मूर्धादि स्थान की प्राप्ति रूप निमित्त से) [परमात्मा प्रादेश मात्र है, श्रुति भी] **तथाहि** उसी प्रकार **दर्शयति** दिखाती है, **इति** ऐसा **जैमिनिः** जैमिनि [आचार्य मानते हैं] ।

अथवा सम्पत्ति के निमित्त प्रादेश मात्र श्रुति होनी चाहिये (छोटी वस्तु का आलम्बन लेकर उसके समान बड़ी वस्तु की प्राप्ति करने का नाम सम्पत्ति है) । यदि कोई शंका करे कि सम्पत्ति के निमित्त प्रादेश श्रुति किस प्रकार है तो उसका उत्तर यह है. कि समान प्रकरण वाले वाजसनेयी ब्राह्मणमें परमात्मा की प्रादेश मात्र सम्पत्ति इस प्रकार वर्णन की है:—स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक त्रैलोक्य स्वरूप वैश्वानर के अवयव हैं और इन अवयवों की कल्पना वैश्वानर के देह में की गई है, अर्थात् स्वर्गादि अवयव मस्तक से लेकर दाढ़ी पर्यन्त वैश्वानर के शरीर के अवयव बताये हैं । जैसे कि 'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसं पादयिष्यामीति । सहोवाच मूर्धानमुपदिशन्नु वाचैश वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषीं उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानरं इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नु वाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नु वाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति । चुबुकमुपदिशन्नु वाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति । (वस्तुतः पूर्व में [अपरिच्छिन्न

ऐसे परमेश्वर के भी] मानो प्रादेशमात्र हों ऐसी कल्पना की। देवताओं ने उसका सम्यक् ज्ञान कर उसको अच्छी प्रकार प्राप्त किया। जिस प्रकार प्रादेश मात्र परमात्मा को मैं प्राप्त करूंगा इस प्रकार देवों को परमात्माके अवयव कहूंगा, इस प्रकार उसने कहा। उसने मस्तक दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह मेरा मस्तक भू आदि लोकों से ऊँचा द्युलोक वैश्वानर है। आंखें दिखा कर कहा कि वस्तुतः यह अत्यन्त तेज वाला वैश्वानर है। नासिका दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह भिन्न गति स्वरूप वैश्वानर है। मुख में रहे हुए आकाश को बता कर कहा कि वस्तुतः यह व्यापक रूप वैश्वानर है। मुख में रहे हुए जल को दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह रवि स्वरूप वैश्वानर है। चुबुक को दिखला कर कहा कि यह प्रतिष्ठा स्वरूप वैश्वानर है)। यहां चुबुक का अर्थ मुख के नीचे का भाग है। वाजसनेयि ब्राह्मण में आकाश का उल्लंघन करके जाना गुण बताया है, आदित्य को सुतेज गुण वाला कहा है और छांदोग्यमें आकाश को सुतेज गुण वाला और आदित्य को विश्वरूप गुण वाला कहा है, तो ऐसा होने पर भी इन विशेषणों से किसी प्रकार की हानि नहीं होती, क्योंकि प्रादेश मात्र श्रुति विशेष भाव से रहित है और सब शाखाओं में इस प्रकार का प्रमाण है इसलिये जैमिनि आचार्य का मत है कि प्रादेश मात्र श्रुति संपत्ति निमित्त है यह अधिक योग्य है ॥ ३१ ॥

अब जावाल नाम के ऋषि का मत कहते हैं :—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

च और एनम् इसको (परमात्मा को) अस्मिन् इसमें

(मस्तक और दाढ़ी के मध्य में) आमनन्ति [जाबाल] उपदेश करते हैं।

इस परमेश्वर को मस्तक तथा दाढ़ी के मध्य भाग में जाबाल मत वाले मानते हैं। जैसे कि 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायाँ नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति।।' (जो यह अनन्त, अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त (जीव) में स्थित है। वह अविमुक्त किस में स्थित है? वरणा तथा नासीके बीच में है। अब वरणा क्या तथा नासी क्या?) इस प्रकार वरणा तथा नासी का निरूपण करके अन्त में कहा कि जो इन्द्रियों से किये हुए सब पापों का वारण करे वह वरणा तथा जो इन्द्रियों से किये हुए सर्व पापों का नाश करे वह नासी; ऐसा कह कर फिर कहा कि 'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति भ्रुर्वोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' [जावा०] (इसका कौन सा स्थान है? भ्रकुटि तथा नासिका को जो सन्धि वह इस द्युलोक और परलोक की सन्धि है) इसलिये परमेश्वर के विषे प्रादेशमात्र श्रुति युक्त है। अभिविमान श्रुति प्रत्यक् आत्मा का निरूपण करती है। प्रत्यगात्मा के समान सर्व प्राणियों को जिसका ज्ञान होता है उस श्रुति को अभिविमान कहते हैं। अथवा प्रत्यगात्मा के समान प्राप्त हुआ ऐसा विमान, अप्राप्ति के कारण वह अभिविमान अथवा सर्व जगत् को जो निर्माण करता है वह कारण रूप होने से अभिविमान है इसलिये वैश्वानर परमेश्वर है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शाँकर भाष्य भाषानुवाद
के प्रथम अध्याय का द्वितीय पाद
समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय तीसरा पाद।

दूसरे पाद के अन्तिम सूत्र से यह सिद्ध किया कि वैश्वानर परमात्मा रूप है, अब ब्रह्म को ज्ञेय रूप से प्रतिपादन करने के लिये इस तीसरे पाद की रचना की जाती है:—

(१) द्युभ्वाद्यधिकरण। सू० १-७

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।। १ ।।

द्युभ्वाद्यातनं स्वर्ग और पृथिवी आदि का आधार [ब्रह्म है] स्वशब्दात् [यह बात श्रुति में उपयोग किये हुए] आत्म शब्द से [सिद्ध होती है]।

'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचा विमुंचथामृतस्यैष सेतुः ।।' [मुण्ड० २।२।५] (जिसमें स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष पिरोया हुआ है और सर्व प्राणों सहित मन भी पिरोया हुआ है, उस एक को ही आत्मा जानो, अन्य वाचाओं का त्याग करो। यह मोक्ष का सेतु है), यह श्रुति है। इसमें ऐसा सन्देह होता है कि स्वर्गादि जिसमें पिरोये हुए हैं, ऐसा स्वर्गादि का अधिष्ठान कौन है, परब्रह्म है, अथवा कोई अन्य पदार्थ है ? इसमें पूर्वपक्षी का कथन इस प्रकार है:—

पूर्वपक्षी :—मैं ऐसा मानता हूँ कि स्वर्गादि का अधिष्ठान परब्रह्म नहीं है किन्तु कोई अन्य वस्तु है; क्योंकि 'अमृतस्यैषसेतुः' (अमृत का यह पुल है) इस प्रकार की श्रुति है। जिसके द्वारा एक किनारे से दूसरे किनारे पर जाँय उसे पुल कहते हैं। परब्रह्म को एक किनारे से दूसरे किनारे पर ले जाने वाला नहीं मान सकते, क्योंकि 'अनन्तमपारम्' [वृह० २।४।१२]

(वह अनन्त अपार है) यह श्रुति ब्रह्म को अपार और अनन्त कहती है, अपार के पार जाना संभव नहीं है। यदि अन्य वस्तु को अधिष्ठान मानो तो स्मृति प्रसिद्ध प्रधान को अधिष्ठान मानना चाहिये, क्योंकि सर्व का कारण होने से प्रधान का अधिष्ठान होना बन सकता है। अथवा श्रुति प्रसिद्ध वायु को अधिष्ठान मानना चाहिये, क्योंकि 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवंति ॥' [बृह० ३।७।२] (हे गौतम, वास्तव में वह वायु सूत्र है। हे गौतम, वायु सूत्र द्वारा यह लोक, परलोक और सर्वभूत गुथे हुए होते हैं), इस श्रुति में वायु को बींधने वाला सूत्र रूप कहा है। अथवा, शरीर अधिष्ठान रूप हो सकता है; क्योंकि शरीर में भोक्तृत्व होने से वह भी भोग तथा प्रपंच का अधिष्ठान रूप हो सकता है।

सिद्धान्ती:—ऐसा नहीं है; 'स्व' यानी आत्मा शब्द से स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान परब्रह्म ही है, ऐसा अर्थ है। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी'—इत्यादि वाक्य में 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को आत्म रूप जान) आत्मा शब्द का प्रयोग किया है, उस आत्मा शब्द से परमात्मा का ग्रहण ही बन सकता है, दूसरे पदार्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि कितने ही स्थानों पर स्ववाचक शब्द से ही परमात्मा का अधिष्ठान होना श्रुति में कहा है। 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। [छांदो० ६।८।४] (हे सोम्य ! इस सर्वप्रजा का मूल सत् है, सत् आयतन है और सत् प्रतिष्ठा है) इस श्रुति में आगे और पीछे स्ववाचक शब्द से ही ब्रह्म का निरूपण किया है। 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।' [मुण्ड० २।१।१०] (यह सर्व कर्म, तप पुरुष ही है पर और अमृत है) और 'ब्रह्मैवेदममृतं

पुरस्ताद्ब्रह्म, पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण' [मुण्ड० २ । १ । ११] ब्रह्म ही अमृत है, वही आगे है, पीछे है, दक्षिण में है और उत्तर में है) इसमें अधिष्ठान और अधिष्ठान वाले के भाव की श्रुति है, और 'सर्वं ब्रह्म' (सर्व ब्रह्म है) सामानाधिकरण्य है। इसलिये ऐसी आशंका होती है कि 'जैसे शाखा, स्कंध और मूल ऐसे अनेक स्वरूप वाला वृक्ष होता है, वैसे ही भिन्न २ स्वरूप वाला विचित्र आत्मा है। इस शंका को दूर करने के लिये निश्चय पूर्वक कहा है:—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को ही आत्मा जानो)। तात्पर्य यह है कि आत्मा कार्य प्रपंच से विशिष्ट विचित्र रूप है ऐसा न समझना चाहिए, किन्तु ऐसा समझना चाहिये, कि सर्व कार्य प्रपंच अविद्या जन्य हैं। इस कार्य प्रपंच का विद्या द्वारा नाश करके अधिष्ठान स्वरूप एक ऐसे इस आत्मा को जानो। जैसे, जब कोई कहता है कि जिस आसन पर देवदत्त बैठा है उसको लाओ, तो ऐसा कहने से आसन लाया जाता है, देवदत्त नहीं लाया जाता। इसी प्रकार अधिष्ठान स्वरूप तथा एक रस आत्मा को जानने का उपदेश है, ऐसा समझना चाहिये। और विकार रूप असत्य में जिसका अभिमान है उसकी श्रुति में निन्दा की है, जैसे कि 'मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [काठ० २ । ४ । ११] (जो आत्मा को अनेक प्रकार का देखता है, वह वारंवार एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।) 'सर्वं ब्रह्म' (सर्व ब्रह्म है) यह जो समानाधिकरण्य है वह प्रपंच के नाश करने के लिये है, अनेक रसता—अनेक रूपता बताने के लिये नहीं। क्योंकि 'स यथा सैन्धवघनोनंतरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैव वा अरेऽयामात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' [बृह० ४ । ५ । १३] (जैसे लवणपिंड

के भीतर और वाहर ही नहीं, किंतु सर्व लवण एक रस हैं इसी प्रकार, अरे मैत्रेयि, यह आत्मा भी भीतर तथा वाहर ही नहीं किन्तु सर्व रूप तथा एक रस ज्ञान स्वरूप है) इस प्रकार की एकरसता यानी एक रूपता वताने वाली श्रुति है, इसलिये स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म है।

और श्रुति में सेतु शब्द है, सेतु पार ले जाने वाला होना चाहिये, इसलिये स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म से अन्य कोई और पदार्थ होना चाहिये ऐसा जो कहा है उसका समाधान यह है:— यहां पर सेतु शब्द जो कहा है, वह केवल आत्मा को समझाने के लिये ही कहा है, पार जाने के लिये नहीं कहा है। जिस प्रकार लोक में मिट्टी या लकड़ी का वना हुआ पुल देखने में आता है उस प्रकार यहां मिट्टी या लकड़ी का वना हुआ पुल मानना योग्य नहीं है। शब्द का अर्थ विधारण यानी धारण करना इतना ही है, जिसका पार हो ऐसा नहीं है, क्योंकि 'षिञ्' इस वंधन अर्थ वाली धातु से सेतु शब्द वना है। किसी किसी का यह मत है कि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को ही आत्मा जान) ऐसा जो कहा है और 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' (दूसरी वातों का त्याग कर) इसमें वाणी का त्याग कहा है, ये दोनों अमृतत्व के साधन बताये हैं। इसीलिये श्रुति ने कहा है कि 'अमृतस्यैष सेतुः' (अमृत का यह सेतु है) इस प्रकार सेतु संवन्धी श्रुति का निरूपण है। किन्तु स्वर्ग, पृथिवी आदि के अधिष्ठान का इसमें कथन नहीं। इस मत में जो कहा है कि श्रुति में सेतु शब्द होने से ब्रह्म के सिवाय कोई अन्य वस्तु स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान होना चाहिये सो ठीक नहीं है ॥ १॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यदेशात् मुक्त पुरुषों को [ब्रह्म] प्राप्य [है

ऐसे] कथन से [स्वर्ग और पृथ्वी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म है]

परब्रह्म इस कारण से भी स्वर्ग, पृथ्वी आदि का अधिष्ठान है कि श्रुति में ऐसा उपदेश देखने में आता है कि मुक्त पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होता है। देहादि अनात्म पदार्थों में 'देहादि मैं हूँ' ऐसी आत्म बुद्धि का नाम अविद्या है। अविद्या के कारण देहादि अनात्म पदार्थों का जो कोई पूजन यानी सत्कार करता है, उससे राग होता है जो कोई देहादि का निरादर करता है, उससे द्वेष होता है, और देहादि का नाश देखने से भय और मोह होता है। इस प्रकार अविद्या के अनेक भेद हैं, जो अनर्थ का समूह रूप हैं। सामान्य मनुष्यों को इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, परन्तु इससे विरुद्ध मुक्त पुरुष, जो राग द्वेषादि दोषों से रहित हो गया है, उसके प्राप्त होने का जो स्थान है, वह स्वर्ग तथा पृथिवी आदि का अधिष्ठान है, इस प्रकार का उपदेश दिया गया है; जैसे कि 'भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्ठे परावरे।' [मुण्ड० २।२।८] (जब उस पर रूप तथा अवर रूप पुरुष का ज्ञान हो जाता है तब उसकी हृदयग्रन्थि छूट जाती है, सब संशय दूर हो जाते हैं और उसके कर्म नाश को प्राप्त होते हैं) ऐसा कह कर श्रुति कहती है कि 'तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मुण्ड० ३।२।८] (इसी प्रकार विद्वान् नाम रूप से रहित होकर पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।) । ब्रह्म मुक्त पुरुषों को ही प्राप्त हो सकता है, इसके प्रमाण में यह श्रुति है 'यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते कामादेऽस्यहृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [बृह० ४।४।७] (जो कामनायें इसके हृदय में रही हुई हैं,

जब वे समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मर्त्य अमृत हो जाता है और इस शरीर के रहते हुए ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।) इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते है। परन्तु, ऐसा प्रमाण कोई नहीं मिलता कि मुक्त पुरुष प्रधानादि को प्राप्त होते है। किन्तु इससे विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं, जैसा कि इस श्रुति में कहा है :—'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु:' [मुण्ड० २।२।५] (उस अकेले को ही आत्मा रूप जान, अन्य वाणियों को त्याग यह अमृत का सेतु है)। यहाँ पर वाणी के त्याग पूर्वक स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म ही जानने योग्य है, ऐसा कहा है। और, तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान् वाचो वाग्लपनं हि तत्॥' [बृह० ४।४।२१] (विवेकी ब्राह्मण को उस परब्रह्म को जान कर, उसकी ही बुद्धि करनी चाहिये, बहुत शब्दों का ध्यान नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे वाणी को श्रम देने वाले हैं) इस श्रुति में भी ब्रह्म ही जानने योग्य है, ऐसा कहा है। इसलिये, स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान परब्रह्म ही है ॥ २॥

प्रधान अचेतन होने से स्वर्ग, पृथिवी आदि का कारण नहीं हो सकता, यह बात आगे के सूत्र से सिद्ध करते हैं :—

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

अतच्छब्दात् अतच्छब्द से यानी प्रधान प्रतिपादक शब्द के अभाव से अनुमानम अनुमान से [प्रधान] न [स्वर्ग और पृथिवी आदि का अधिष्ठान] नहीं है।

जिस प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला विशेष यानी असाधारण हेतु कहा है उस प्रकार अन्य अर्थ का प्रतिपादन

करने वाला विशेष हेतु नहीं कहा है। इसलिये यहां पर अनुमान से सांख्य स्मृतिका कल्पा हुआ प्रधान स्वर्ग, पृथिवी आदि का कारण–अधिष्ठान रूप समझना योग्य नहीं है 'अतत्छब्द से'। अचेतन प्रधान का प्रतिपादन करने वाला जो शब्द है, उसका नाम तच्छब्द है और तच्छब्द का जिस में अभाव हो वह अतच्छब्द है। यहां पर अचेतन प्रधान को कारण रूप से प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है कि जिससे अचेतन प्रधान को कारण–अधिष्ठान रूप समझा जाय। किन्तु अचेतन से विपरीत चेतन का प्रतिपादन करने वाले शब्द श्रुति में हैं–जैसे कि 'यः सर्वज्ञः सर्वचित्' [मुण्ड० १। १। ९] (,जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है) इत्यादि। इसलिये अचेतन प्रधान स्वर्ग, तथा पृथिवी आदि का अधिष्ठान नहीं है, किंतु ब्रह्म ही स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान हैं ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

च और प्राणभृत् प्राण धारण करने वाला (जीवात्मा) [भी पृथिवी आदि का अधिष्ठान न नहीं है]

यद्यपि प्राण धारण करने वाले जीव में आत्मत्व और चेतनत्व आदि धर्म हो सकते हैं तो भी जिसका ज्ञान उपाधि से परिच्छन्न हो गया है उसमें सर्वज्ञत्व आदि धर्मों का अभाव होने से जीवात्मा को भी स्वर्ग तथा पृथिवी आदि का अधिष्ठान मानना ठीक नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म ही स्वर्ग तथा पृथिवी आदि का अधिष्ठान है। इस सूत्र में न शब्द पूर्व सूत्र में से लाये हैं ॥ ४ ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

भेदव्यपदेशात् [ज्ञाता तथा ज्ञेय के] भेद के कथन से [जीव अधिष्ठान नहीं है]

'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को ही आत्मा जान) इस श्रुति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद कहा है। यहां पर जीवात्मा मुमुक्षु होने के कारण ज्ञाता है और आत्मा शब्द वाच्य ब्रह्म ज्ञेय है। पूर्वोक्त रीति से भेद के कथन के ज्ञेय ब्रह्म ही स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान है, जीव नहीं ॥ ५ ॥

प्राण धारण करने वाला जीव स्वर्ग, पृथिवी आदि का कारण क्यों नहीं है, इस सम्बन्ध में दूसरा हेतु भी कहते हैं:—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

प्रकरणात् [ब्रह्म सम्बन्धी] प्रकरण होने से [ब्रह्म ही अधिष्ठान है]।

यह प्रकरण भी परमात्मा का है, क्योंकि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति [मुण्ड० १। १। ३] (हे भगवन्, किस के जानने से यह सब जाना हुआ हो जाता है) इस श्रुति में एक के ज्ञान से सर्व के ज्ञान की अपेक्षा है। एक ब्रह्म के ज्ञान से ही सब का ज्ञान हो सकता है, केवल जीव के ज्ञान से सब का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी प्रकरण होने से ब्रह्म ही स्वर्ग तथा पृथिवी आदि का अधिष्ठान है ॥ ६ ॥

स्थित्यदनाभ्यांच ॥ ७ ॥

च और स्थित्यदनाभ्याम् [औदासीन्य] स्थिति [और

कर्म फल के] भोग से [भी ब्रह्म ही अधिष्ठान है, ऐसा सिद्ध होता है]।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' [मुण्ड० ३। १। १] (दो पक्षी सर्वदा साथ रहने वाले सखा हैं), इसमें उदासीन स्थिति और कर्म फल के भोग का कथन किया है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (उनमें से एक स्वाद फल खाता है) इसमें कर्म फल का उपभोग कहा है और 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (दूसरा विना खाये देखता रहता है) इसमें उदासीन स्थिति और उपभोग से ईश्वर और क्षेत्रज्ञ (जीव) का क्रम से ग्रहण किया जाता है। जो ईश्वर स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान निरूपण किया जाय तो इस प्रकृत ईश्वर की क्षेत्रज्ञ से भिन्नता होना संभव है, और यदि ऐसा न हो तो अप्रकृत वचन, आकस्मिक तथा सम्वन्ध रहित कथन करने का दोष होगा।

शंकाः – ईश्वर क्षेत्रज्ञ से भिन्न है यह तेरा कहना भी तो आकस्मिक ही है।

समाधानः—वैसा नहीं है, क्योंकि श्रुति का उद्देश्य ही वहाँ प्रथक् निर्देश करने का नहीं है। क्षेत्रज्ञ तो कर्ता भोक्ता तथा प्रत्येक शरीर में बुद्धि आदि उपाधियों के संवंध वाला है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है' इसलिये श्रुति ने ऐसा निरूपण नहीं किया है। और ईश्वर लोक में अप्रसिद्ध होने से उसके निरूपण करने में श्रुति का तात्पर्य है, इसलिये उसको आकस्मिक वचन कहना ठीक नहीं है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौहि' (गुहा में प्रवेश हुए दो आत्मा) ये ही, 'द्वा सुपर्णा' (दो पक्षी) इस ऋचा में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ कहे गये हैं। यद्यपि पैंगी उपनिषद् के व्याख्यान में इनको सत्त्व और क्षेत्रज्ञ कहा है तो भी कुछ विरोध नहीं है,

क्योंकि वस्तुतः तो यहाँ पर जिस प्रकार घटादि में छेद (आकाश) होता है वैसे जीव सत्त्वादि का अभिमानी प्रति शरीर में समझाया है। इसलिये जीव स्वर्ग, पृथ्वी आदि का अधिष्ठान रूप नहीं होता, इस प्रकार जीव का निषेध किया है। परन्तु जो सब शरीरों में उपाधि रहित देखने में आता है, वह परमात्मा है। जिस प्रकार घटादि में रहा हुआ आकाश घटादि उपाधि से रहित देखने से महाकाश रूप है, इसी प्रकार विज्ञानात्मा परमात्मा से अन्य है ऐसा कहना ठीक नहीं है; और इसलिये उसको स्वर्ग, पृथ्वी आदि का अधिष्ठान कहना अयुक्त नहीं है। इस प्रकार सत्त्वादि उपाधिवाला जीव ही पृथ्वी आदि का अधिष्ठान नहीं है, ऐसा कहा है इसलिये परमात्मा ही स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान है यह बात 'अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः' [ब्र० सू० १ । २ । २१] इस सूत्र से सिद्ध होती है। भूतों का कारण रूप ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करने वाले वचन में ऐसा कहा है कि 'यस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षम्' (उसमें स्वर्ग पृथिवी तथा अन्तरिक्ष हैं) परन्तु उसी को स्पष्ट करने के लिये यहाँ पर फिर विवेचन किया गया है ॥ ७ ॥

(२) भूमाधिकरण । सू० ८-९

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

भूमा [श्री छान्दोग्य श्रुति में कहा हुआ] भूमा [परमात्मा है] संप्रसादात् संप्रसाद से अधि ऊपर उपदेशात् [है ऐसे] उपदेश से।

'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति'। यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यनन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्'

[छान्दो० ७ । २३ । २४] (भूमा ही जानने योग्य है इसलिये हे भगवन्, इस भूमा को ही जानना चाहता हूँ। जिसमें दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा है और जिसमें दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है और को जानता है, वह अल्प है) इस श्रुति में संशय होता है कि प्राण भूमा है अथवा परमात्मा। क्योंकि, भूमा का अर्थ बहुत होना है, जैसे कि 'बहोर्लोपो भूचबहोः' [पाणि० ६ । ४ । १५८] इस सूत्र से भूमा शब्द भाव प्रत्ययान्त है और प्राण में विशेषता है, क्योंकि 'प्राणो वा आशाया भूयान्' [छान्दो ७ । १५ । १] (प्राण आशा से बड़ा है) ऐसा कहा है इसलिये समीप होने से प्राण भूमा है ऐसा जाना जाता है। इसी प्रकार 'श्रुतं' ह्येव से भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवञ्शोकस्य पारंतारयतु' [छान्दो० ७।१।३] (क्योंकि मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को तरता है। इसलिये हे भगवन्, ऐसा मैं सोच करता हूं, आप मुझे शोक से पार करो) इस प्रकार श्रुति में कहा हुआ होने से परमात्मा भूमा है, एसा जाना जाता है। ऐसा होने से शंका होती है कि प्राण भूमा है अथवा परमात्मा भूमा है। इन दोनों में से किसको भूमा समझना चाहिये।

प्रतिपक्षी:—यहाँ पर प्राण हो भूमा है ऐसा समझ में आता है, क्योंकि प्राण की श्रेष्ठता कहनेके पीछे प्रश्नोत्तर देखने में नहीं आते। जैसे कि प्रश्न :—'अस्ति भगवो नाम्नोभूयः' (हे भगवन्, नाम से अधिक क्या है ?) उत्तर :—'वाग्वा नाम्नो भूयसी' (वाणी नाम से अधिक है)। प्रश्न:–'अस्ति भगवोवाचो भूयः' (हे भगवन्, वाणीसे क्या अधिक है ?) उत्तर:–'मनो वाव वाचो भूयः (मन वाणी से अधिक है) इस प्रकार नाम

से लेकर प्राण तक प्रश्नोत्तर होते रहे हैं। प्राण से अधिक होने का आगे न तो प्रश्न है, न उत्तर है। न तो यह पूछा है कि प्राण से अधिक क्या है और न कहा है कि प्राण से अधिक अमुक कोई है। किन्तु प्राण को ही नाम से आरम्भ करके आशा-पर्यन्त सब से अधिक कहा है, जैसे कि 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (प्राण आशा से अधिक है) इत्यादि से विस्तार पूर्वक प्राण को ही अधिक कह कर, आगे कहा है कि 'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापन् हुवीत' (क्या तू श्रेष्ठ वादी है ? [यदि कोई प्राण के ज्ञाता से पूछे] तो मैं श्रेष्ठवादी हूं, ऐसा कहता है [मैं श्रेष्ठवादी] नहीं हूँ [ऐसा नहीं कहता]) इस प्रकार प्राणके ज्ञाता का श्रेष्ठत्व स्वीकार करके 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' (सत्य–ब्रह्म के ज्ञान होने से जो ऐसा कहता है कि मैं श्रेष्ठवादी हूं, वह श्रेष्ठवादी ही होता है अर्थात् सच बोलता है) इस प्रकार प्राण व्रत वाले का श्रेष्ठत्व अंगीकार किया है और प्राण का त्याग न करके सत्यादि पर्यन्त भूमा का विस्तार किया है इसलिये प्राण भूमा है ऐसा जाना जाता है। यदि यह कहो कि प्राण भूमा है, जो ऐसी व्याख्या की जायगी तो 'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें दूसरे को नहीं देखता) यह भूमा का लक्षण किस प्रकार समझा जायगा तो उसका उत्तर यह है कि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियाँ प्राण में लीन हो जाने से देखना आदि व्यापार देखने में नहीं आते। इसलिये, 'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें दूसरे को नहीं देखता) ऐसा प्राण का लक्षण हो सकता है। क्योंकि, 'न शृणोति न पश्यति' (न सुनता है न देखता है) इत्यादि से श्रुति सब इन्द्रियों का व्यापार अस्त होजाना रूप सुषुप्ति अवस्था को कहकर, 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' [प्र० ४।२।३] (प्राण रूप

अग्नि ही इस शरीर में जागते हैं) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में पांच वृत्ति वाले प्राण का जागरण कहकर प्राणप्रधान सुषुप्ति अवस्था दिखलाई है। और 'यो वै भूमा तत्सुखम् [छान्दो ७ । २३] (निश्चय जो भूमा है, वह सुख है) इस प्रकार भूमा का सुखत्व जो श्रुति प्रतिपादन करती है, उससे भी कुछ विरोध नहीं है, क्योंकि, 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्शरीरे सुखं भवति' [प्र० ४।६] (जब यह मन रूप देव स्वप्न नहीं देखता, तब शरीर में सुख होता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में ही श्रुति सुख बताती है) और 'यो वै भूमा तदमृतम् [छांदो० ७।२४।१] (निश्चय जो भूमा है वह अमृत है) ऐसा जो कहा है, उसका भी प्राण से विरोध नहीं है, क्योंकि 'प्राणो वै अमृतम्' [कौ० ३।२] (निश्चय प्राण अमृत है) ऐसी श्रुति है। जो यह कहो कि प्राण को भूमा मानने वाले को 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मा का जानने वाला शोक को तरता है) इस प्रकार आत्म-विज्ञान की इच्छा से उठाया हुआ प्रकरण किस प्रकार युक्त होगा, तो उसका उत्तर यह है कि यहां प्राणको ही आत्मा कहा है, क्योंकि प्राणोहि पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्य्यः प्राणो ब्राह्मणः' [छांदो० १ । १५ । १] (प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भाई है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य्य है और प्राण ब्राह्मण है) यह श्रुति प्राण को ही सबका आत्मा बताती है। और 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्' (जिस प्रकार आरे नाभि में रहे हुए हैं इसी प्रकार सब इस प्राण में रहे हुए हैं) इस प्रकार प्राण का सर्वात्मत्व और आरे और नाभि के दृष्टांत से भूमात्व तथा अधिकत्व हो सकता है इसलिये प्राण भूमा है।

सिद्धान्तीः—नहीं ! ऐसा नहीं है, प्राण भूमा नहीं है, किन्तु यहाँ परमात्मा ही भूमा है, क्योंकि उसके संप्रसाद से ऊपर होने का उपदेश है। संप्रसाद शब्द का वाच्यार्थ सुषुप्ति है और लक्ष्यार्थ सुषुप्ति में जाग्रत रहने वाला प्राण है। सुषुप्ति में प्रसाद प्राप्त होता है, इसलिये सुषुप्ति को संप्रसाद कहते हैं; और बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं के साथ इसका पाठ है। संप्रसाद अवस्था में प्राण जागता है इसलिये यहाँ संप्रसाद का अर्थ प्राण समझना चाहिये, ऐसा आशय है। प्राण से ऊर्ध्व भूमा का उपदेश किया गया है, इसलिये ऐसा अर्थ होता है कि प्राण भूमा नहीं है; यदि प्राण ही भूमा हो तो प्राण से ऊर्ध्व कहना न बन सके। वस्तुतः नाम से अधिक जो उपदेश है उसमें नाम ही नाम से अधिक है. ऐसा नहीं कहा है। यदि कहो कि फिर किस प्रकार का उपदेश है, तो सुनोः -नाम से अधिक वाणी का उपदेश है; जैसे कि 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (वाणी नाम से अधिक है)। इसी प्रकार वाणी से प्राण तक एक से एक अधिक है, ऐसा उपदेश किया है। इसी प्रकार प्राण से अधिक भूमा को समझना चाहिये। यह जो तुम कहते हो कि—"हे भगवन्, यहां पर प्राण से अधिक क्या है, ऐसा प्रश्न नहीं है, और प्राण से अधिक कोई है ऐसा उत्तर भी नहीं है, तो प्राण से अधिक भूमा का उपदेश है यह कैसे मान लिया जाय ? और 'एष तु वा अति वदति यः सत्येनाति वदति' (जो सत्य द्वारा श्रेष्ठवादी है, वह ही श्रेष्ठवादी है) इस वाक्य से प्राण संम्बंधी जो अतिवादित्व पहले कह चुके हैं उसी का यहाँ पर परामर्श किया हुआ है; इसलिये प्राण से ऊर्ध्व किसी पदार्थ का उपदेश नहीं है।" इसका समाधान यह है कि 'प्राण सम्बन्धी ही श्रेष्ठवादी है' उसी का यहां उपदेश है यह नहीं कह सकते, क्योंकि

'यः सत्येनाति वदति' (जो सत्य से श्रेष्ठवादी है) ऐसा इसमें विशेष कहा है। यदि यह कहो कि–"यह विशेष का कथन तो प्राण सम्बन्धी ही होगा, क्योंकि 'वह अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है' ऐसा कहा है, इसलिये सत्य बोलने से ही अग्निहोत्री नहीं हो जाता। क्योंकि अग्निहोत्र से ही तो सत्य बोलना अग्निहोत्र का विशेष कहलाता है और इसी प्रकार 'एष तु वा अति वदति यः सत्येनाति वदति' (जो सत्य से श्रेष्ठवादी है, वह ही वास्तविक श्रेष्ठवादी है) ऐसा कहा है इसलिये सत्य बोलने से श्रेष्ठ बोलने का भाव नहीं है, किन्तु प्राण विज्ञान का ही भाव है, और सत्य बोलना तो प्राणवेत्ता का विशेष कहा है।" इस शंका का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। ऐसा होने से तो श्रुति के अर्थ के परित्याग करने का प्रसंग आवेगा। श्रुति से तो ऐसा जाना जाता है कि सत्य बोलने से ही श्रेष्ठ बोलना बनता है, जैसा कि 'यः सत्येनाति वदति सोऽति वदति' (जो सत्य से श्रेष्ठवादी है, वह श्रेष्ठवादी है)। यहाँ प्राण विज्ञान का निरूपण नहीं है। यदि कहो कि प्रकरण से तो प्राण विज्ञान का संबन्ध है, जो ऐसा नहीं है; प्रकरण के अनुसार तो मूल श्रुति का त्याग होगा; तथा भिन्न अर्थ का निरूपण करने वाला 'तु' शब्द उपपन्न नहीं होगा। 'एष तु वा अति वदति' (परन्तु यह श्रेष्ठवादी है) इसमें वैसे ही, 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' [छान्दो० ७।१६] (परन्तु सत्य ही जानने योग्य है) यहां तु शब्द अन्य प्रयत्न करने के अर्थ में है अर्थात् मूल विषय को छोड़ कर अन्य विषय को 'तु' शब्द सूचन करता है। जैसे कि, जहाँ पर एक वेदी की प्रशंसा प्रस्तुत हो वहाँ ऐसा कहने में आता है कि 'परंतु जो चार वेदों का अध्ययन करने वाला हो वह तो महान् ब्राह्मण है' ऐसा

कहने से जिस प्रकार एक वेदों से भिन्न अर्थ के बताने वाले चार वेदों के जानने वाले की प्रशंसा होती है; इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। और यह जो कहा कि अन्त में प्राण को श्रेष्ठ बताने के बाद न तो प्राण से श्रेष्ठ पूछा है न प्राण से श्रेष्ठ बताया है, उसका उत्तर यह है, कि प्रश्न और उत्तर के रूप में ही दूसरे अर्थ का निरूपण किया जाय ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि दूसरे अर्थ का निरूपण तब होता है जब कि चालू विषय के साथ सम्बन्ध न हो। जब नारद ने प्राण पर्यन्त का उपदेश सुन कर सनत्कुमार से कुछ न पूछा, तब सनत्कुमार ने अपने आप उपदेश दिया कि विकार और असत्य जिसका विषय है ऐसे प्राणविज्ञान से जो श्रेष्ठ बोलना है, वह श्रेष्ठ बोलना नहीं है, 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' (परन्तु सत्य से जो श्रेष्ठवादी है, वह ही वास्तविक श्रेष्ठवादी है) इसमें सत्य शब्द से परब्रह्म का कथन है; क्योंकि सत्य परमार्थ रूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तैत्ति० २ । १] (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) यह दूसरी श्रुति है। इससे सिद्ध है कि सत्य परब्रह्म रूप है। जब नारद ने 'सोऽहंभगवः सत्येनातिवदानि' (हे भगवन् ! वह मैं सत्य से श्रेष्ठवादी होऊँ; इस प्रकार कहा, तब सनत्कुमार ने विज्ञानादि साधनों द्वारा भूमारूप आत्मा का उपदेश किया। यहां सत्य को प्राण से अधिक कहना चाहिये। इस सत्य का ही यहाँ उपदेश दिया है। यह सत्य ही भूमा कहा गया है, ऐसा सिद्ध होता है। प्राण से अधिक भूमारूप आत्मा का उपदेश है, इसलिये प्राण से अधिक परमात्मा भूमा है, यह कहना ठीक है। इस प्रकार यहाँ आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से प्रकरण उठाया गया है। यह जो तुमने कहा कि यहां प्राण को ही आत्मा कहा है, सो ठीक नहीं है। वस्तुतः मुख्य वृत्ति से

प्राण शब्द का आत्मा ऐसा अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान के सिवाय अन्य किसी ज्ञान से शोक की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [श्वेता० ६। १५] (मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है), यह श्रुति और 'तंमा भगवाञ्शोकस्य पारंतारयतु' [छान्दो० ७ । १ । ३१] (हे भगवन् ! उस मुझको शोक से पार उतारो) इस प्रकार उपक्रम करके 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार' [छान्दो० ७ । २६ । २] (जिसके राग द्वेषादि दोष नष्ट हो गये हैं ऐसे नारद को भगवान् सनत्कुमार अविद्या का पार दिखलाते हैं) ऐसा उपसंहार किया है। तमस् शब्द से शोकादि का कारण अविद्या समझनी चाहिये। यदि प्राण ही का अन्त में उपदेश हो तो प्राण अन्य वस्तु के आधीन है, ऐसा नहीं कह सकते थे; क्योंकि 'आत्मनः प्राणः' [छांदो० ७।२६।१] (आत्मा में से प्राण उत्पन्न होता है) ऐसी श्रुति है। यदि कहो कि प्रकरण के अन्त में परमात्मा का निरूपण भले ही हो, परन्तु यहां तो भूमा प्राण रूप ही है तो ऐसा नहीं है। क्योंकि 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' [छान्दो० ७। २४ । १] (हे भगवन् ! वह भूमा किसमें स्थित है ? वह अपनी महिमा में स्थित है) इस प्रकार भूमा का ही निरूपण किया है। इसलिये सर्व का कारण रूप होने से परमात्मा ही विपुलतात्मक भूमा है, यह अधिक योग्य प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ६ ॥

च और धर्मोपपत्तेः [अमृतत्वादि] धर्मों की संगति से [भूमा परमात्मा ही है]।

श्रुति में भूमा के जो धर्म प्रतिपादन किये हैं, उनका परमात्मा में ही होना संभव हैं। जैसे कि 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (जिसमें किसी दूसरे को नहीं देखता, किसी दूसरे को नहीं सुनता, किसी दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा है) इस श्रुति में भूमा में दर्शनादि व्यवहार का अभाव समझाया है। इसी प्रकार परमात्मा में भी इन व्यवहारों का अभाव दिखलाया है, जैसे कि इस श्रुति में 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' [बृह० ४। ५। १५] जहां इसको सब आत्मा ही हुआ है, वहां किससे किसको देखे) और सुषुप्ति अवस्था में दर्शनादि व्यवहार का जो अभाव कहा है वह भी आत्मा को असंग दिखलाने को कहा है, प्राण का स्वभाव कथन करने को नहीं कहा है, क्योंकि प्रकरण परमात्मा का है। और उस अवस्था में जो सुख कहा है, वह भी आत्मा सुख रूप है इसलिये कहा है, क्योंकि कहा है कि 'एषोऽस्यपरम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' [बृह० ४। ३३। २] (यह इसका परम आनन्द है, अन्य भूत इसी आनन्द के अंशसे जीवन धारण करते हैं)। यहां भी 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' (वास्तवमें जो भूमा है, वह सुख है अल्पमें वह सुख नहीं है. भूमा ही सुख है) इस प्रकार क्षणिक सुख का निराकरण करके ब्रह्म ही सुख रूप भूमा है ऐसा दिखलाया है। 'यो वै भूमा तदमृतम्' (जो भूमा है, वही अमृत है) यहां पर यह अमृतत्व जो श्रुति ने प्रतिपादन किया है, वह भी परम कारण को जतलाता है, क्योंकि विकारों का अमृतत्व सापेक्ष है, और 'अतोऽन्यदार्त्तम्' [बृह० ३।४।२] (इससे अन्य नश्वर है) इस प्रकार यह दूसरी श्रुति है। इसी प्रकार सत्यत्व, अपनी महिमा में स्थिति,

सर्वगतत्व और सर्वात्मात्व ये धर्म जो श्रुति में कहे हैं वे परमात्मा में ही हैं, किसी दूसरे में नहीं हैं इसलिये भूमा ही परमात्मा रूप है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

(३) अक्षराधिकरण । सू० १०–१२

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

अम्बरान्तधृतेः आकाश पर्यन्त के धारण करने से अक्षरं [श्रुति में कहा हुआ] अक्षर [ब्रह्म है] ।

कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थलमनणु' [वृह० ३।८।७८] (गार्गि प्रश्न करती है, 'वस्तुतः आकाश किस में ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं:—'हे गार्गि ! जो तू पूछती हैं उसको वस्तुतः ब्रह्म को जानने वाले अक्षर कहते हैं, और वह अस्थूल और अनरण है) इत्यादि श्रुति है। इसमें संशय होता है कि अक्षर शब्द से वर्ण अर्थ लेना चाहिये अथवा परमेश्वर लेना चाहिये। 'अक्षर समाम्नाय' (अक्षर समुदाय, पाणिनी के प्रथम चौदह सूत्र) इत्यादि से अक्षर शब्द वर्ण के लिये प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध का उल्लंघन करना ठीक नहीं है और ऊँकार एवेदं सर्वम्' [छान्दो० २ । २३ । ३] (ॐकार ही यह सर्व है) इत्यादि में और दूसरी श्रुति में वर्ण उपास्य और सर्वात्मक है ऐसा कहा है। इसलिये कौन सा अर्थ यहाँ लेना चाहिये यह शंका होती है। इस शंका का समाधान यह है कि यहां अक्षर शब्द का अर्थ परमात्मा ही लेना ठीक है, क्योंकि परमात्मा पृथिवी से लेकर आकाश पर्यंत सब विकारों को धारण करता है। जब याज्ञवल्क्य ने यह कहा कि तीनों काल से परिछिन्न पृथिवी आदि सब विकार समूह 'आकाशं एवतदोतं च प्रोतं च' (आकाश में ही ये सब ओत प्रोत

है) तब गार्गि ने पूछा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' (वस्तुतः आकाश किसमें ओत प्रोत है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (वस्तुतः हे गार्गि ! इस अक्षर में आकाश ओत प्रोत है) और आकाश पर्यन्त का धारण करना ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी में सम्भव नहीं है । ॐकार एवेदं सर्वम् (यह सब ॐकार ही है) ऐसा जो कहा है, वह भी ब्रह्म को समझाने का साधन है, इसलिये स्तुति के लिये है, ऐसा समझना चाहिये, इसलिये 'नक्षरत्य श्नुते' (नाश को प्राप्त नही होता और सर्वत्र व्यापक है) इस प्रकार नित्यता और व्यापकता का कारण अक्षर परब्रह्म है।।१०।।

कार्य कारण के अधीन होता है, इसलिये कारण सर्व कार्य का धारण करने वाला हो सकता है । जो ब्रह्म को कारण मानते हैं, उनके मत में यह कहना ठीक है कि अक्षर सबका धारण करने वाला होने से ब्रह्म रूप है। परन्तु जो लोग प्रधान को कारण मानते हैं, उनके मत में प्रधान सब का धारण करने वाला है; फिर उनके मत में अक्षर को ब्रह्म रूप कहना किस प्रकार युक्त है ? अक्षर को प्रधान रूप क्यों नहीं मानते, इसका समाधान आगे के सूत्र से करते हैं ।

सा च प्रशासनात् ।। ११ ।।

च और प्रशासनात् आज्ञा से सा वह (आकाश पर्यंत की धारण क्रिया) [परमेश्वर का कर्म है] ।

श्रुति की आज्ञा होने से आकाश पर्यंत का धारण करना परमेश्वर का कर्म है । श्रुति की आज्ञा इस प्रकार है,—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' [बृह० ३ । ८ । ९] (हे गार्गि ! इस अक्षर की आज्ञा से सूर्य

और चन्द्रमा अपने २ स्थान पर रहते हैं) इत्यादि प्रशासन करना, आज्ञा में रखना परमेश्वर का कर्म है। अचेतन का प्रशासन युक्त नहीं है, क्योंकि घटादि के मृत्तिकादि अचेतन कारणों में घटादि विषयक शासन नहीं होता ॥ ११ ॥

अन्य भावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

च और अन्य भावव्यावृत्तेः अन्य के भाव से (ब्रह्म से भिन्न जड़ प्रधान के भाव से) भेद दिखलाने से [अक्षर शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है]।

और अन्य व्यावृत्ति रूप कारण से ब्रह्म ही अक्षर शब्द का अर्थ है। आकाश पर्यन्त धारण करना उसका ही कर्म है दूसरे का नहीं। अन्य का जो भाव अर्थात् ईश्वर से भिन्नता का जो भाव उसका नाम अन्य भाव है। अन्य भाव की व्यावृत्ति अर्थात् अभाव उसका नाम अन्य भाव व्यावृत्ति है; अर्थात् परमात्मा से भिन्न भाव का अक्षर में अभाव है। इसका भाव यह है कि ब्रह्म से भिन्न अक्षर शब्द का अर्थ है ऐसी जो शंका की जाती है, उस से श्रुति अक्षर को भिन्न करती है:—'तद्वा एतदक्षरंगार्ग्य दृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' [बृह० ३। ८। ११] (हे गार्गि ! वस्तुतः अक्षर किसी को दिखाई नहीं देता, किन्तु स्वयं द्रष्टा है, किसी से सुना नहीं जाता किन्तु स्वयं श्रोता है; किसी से मनन नहीं किया जाता, किंतु वह आप मनन करने वाला है, किसी से जाना नहीं जाता किंतु वह आप जानने वाला है) इसमें अदृष्टत्व आदि उपदेश प्रधान का भी हो सकता है, परन्तु द्रष्टात्व आदि का उपदेश अचेतन होने से प्रधान का नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' [बृह० ३। ८। ११]

(इससे अन्य द्रष्टा नहीं, इससे अन्य श्रोता नहीं, इससे अन्य मनन कर्त्ता नहीं, इससे अन्य विज्ञाता नहीं,) यह श्रुति आत्मासे भिन्न का प्रतिषेध करती है, इसलिये उपाधि युक्त शरीर (जीव) भी अक्षर शब्द का अर्थ नहीं है, क्योंकि 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' [बृह० ३।८।८] (इसके आंख नहीं, श्रोत्र नहीं. वाणी नहीं, मन नहीं) यह श्रुति उपाधि रहित का उपदेश करती है। और शारीर (जीव) उपाधि रहित नहीं है, इसलिये परब्रह्म ही अक्षर है ऐसा निश्चय होता है।

(४) ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण।

ईक्षति कर्मव्यपदेशात् सः ॥१३॥

ईक्षति कर्मव्यपदेशात् [वाक्य शेष में] दर्शन (साक्षात्कार) का विषय [जो पर पुरुष] उसके कथन से सः [ओंकार द्वारा जो ध्येय है] वह [परमात्मा ही है]।

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' [प्रश्नो० ५।२] (हे सत्यकाम, जो ओंकार है, वही यह पर और अपर ब्रह्म है; इसलिये विद्वान् इसी के साधन से दोनों में से एक को प्राप्त करता है) इस प्रकार आरम्भ करके अन्त में कहा है कि 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परंपुरुषमभिध्यायीत' [प्रश्न० ५।५] (जो कोई तीन मात्रा वाले इस ओंकार का परमात्मा रूप से चिंतवन करता है) इस स्थान पर परब्रह्म–निर्गुण ब्रह्म अथवा अपरब्रह्म—सगुणब्रह्म इन दोनों में से किसके ध्यान करने को कहा है, ऐसा संशय होता है क्योंकि अधिष्ठान एक ही होता है तब दोनों में से किसको अधिष्ठान मानें।

प्रतिपक्षीः—यहां अपरब्रह्म को ही उपास्य कहा है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि, 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' (वह तेजरूप सूर्य में प्राप्त होता है) और 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्म लोकम्' (वहां से साम के मन्त्रों द्वारा वह ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है), इस प्रकार परब्रह्म के जानने वाले को देश से परिच्छिन्न होने वाला फल वताया है। वस्तुतः परब्रह्म के जानने वाले को देश से परिच्छिन्न होने वाला फल भोग कहना युक्त नहीं है, क्योंकि परब्रह्म सर्व व्यापक है। यदि कहो कि अपरब्रह्म का ग्रहण करोगे तो 'परंपुरुषम्' यह विशेषण न टेगा तो यह दोष नहीं है; क्योंकि स्थूल देह की अपेक्षा से प्राण पर है, यह ठीक है।

सिद्धान्तीः-यह वात नहीं है, यहां परब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिये, ऐसा उपदेश है, क्योंकि ईक्षति कर्म के उपदेश से परब्रह्म के ही ध्यान का उपदेश सिद्ध होता है। यहां ईक्षति का अर्थ दर्शन और ईक्षति कर्म का अर्थ देखने का विषय है। वाक्य शेष यानी श्रुति के अन्त के वाक्य में 'इसको ध्यान करने योग्य पुरुष का दर्शन होता है' ऐसा उपदेश किया है। जैसे कि 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (वहां वह जीवों के महान् समूह से भी महान् तथा सर्व शरीर में व्यापक रूप से रहे हुए पुरुष को-परमात्मा को देखता है)। अस्तित्व में न हो ऐसी वस्तु ध्यान का कर्म (विषय) होती है; क्योंकि मनोरथ से कल्पी हुई वस्तु का ध्यान हो सकता है। परन्तु ईक्षण का विषय तो यथार्थ वस्तु ही होती है अर्थात् जैसी वस्तु होती है वैसी ही दीखती है, इसलिये यहां सम्यक् दर्शन के विषय रूप परमात्मा का ही उपदेश है, ऐसा सिद्ध होता है। और उसी परमात्मा का इस स्थान में पर और पुरुष इन दो शब्दों से ध्यान करने योग्य वताया है। यदि कहो कि ध्यान में तो पर पुरुष का वर्णन किया गया और ईक्षण में पर से पर पुरुष का वर्णन है

तो दोनों स्थलों में किसी एक का ही वर्णन है यह किस प्रकार जाना जाय, तो इसका उत्तर यह है कि पर और पुरुष ये शब्द दोनों स्थलों पर साधारण हैं और प्रथम के जीवघन शब्द से प्रकृत ध्यान करने योग्य पर पुरुष का वोध नहीं होता कि जिससे उस पर से पर, ऐसे ईक्षण योग्य भिन्न पुरुष का वोध हो। जीवघन का अर्थ इस प्रकार है:- घन का अर्थ मूर्ति है और जीवात्मक जो मूर्ति उसका नाम जीवघन है। लवण पिंड के समान परमात्मा का उपाधि से किया हुआ जीव रूप जो आत्मभाव है, तथा विषय और इन्द्रियों से जो पर है वह जीव घन है। दूसरे, जीवघन के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं:—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्म लोकम्' (वह साम द्वारा ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है) इस प्रकार अन्त के दूसरे वाक्य में कहा हुआ जो ब्रह्म लोक अन्य लोकों से पर है वह यहां जीवघन है। वस्तुतः जीवघन शब्द इन्द्रियों से युक्त सर्व जीवों का संघात, ब्रह्मलोक निवासी, सर्वेन्द्रिय स्वरूप, ऐसे हिरण्यगर्भ में युक्त होता है इसलिये जीवघन ब्रह्मलोक है। इससे सिद्ध होता है कि जो जीवघन से पर रूप तथा दर्शन का विषय रूप है, वह ही ध्यान का विषय है। और 'परं पुरुषम्' (पर पुरुष) ऐसा विशेषण परमात्मा को ग्रहण करने से ही घट सकता है। वस्तुतः पर पुरुष परमात्मा ही है। जिससे पर कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति' (पुरुष से पर कोई नहीं है, यह परमावधि है, यह परम गति है) ऐसी दूसरी भी श्रुति है। 'परंचापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (जो ॐकार है, वह पर और अपर ब्रह्म हैं) इस प्रकार विभाग करके पीछे ॐकार द्वारा परपुरुषका कथन करती हुई श्रुति परब्रह्म यानी परपुरुष को समझाती हैं। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत

एवं ह वै सपाप्मना विनिर्मुच्यते' (जिस प्रकार सर्प त्वचा से मुक्त होता है इसी प्रकार यह पाप से मुक्त होता है), इस प्रकार पाप से मुक्ति रूप फल का वचन यहाँ परमात्मा के लिये कहा गया है, ऐसा समझा जाता है। परमात्मा के ध्यान करने वाले को देश से परिच्छिन्न फल प्राप्त होना ठीक नहीं है, ऐसा जो कहा है, उसका उत्तर यह है कि:– तीन मात्रा वाले ॐकार रूप आलम्बन से परमात्मा के ध्यान करने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप फल होता हैं और क्रमशः सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इसमें क्रम मुक्ति का अभिप्राय है इसलिये दोष नहीं है ॥ १३ ॥

(५) दहराधिकरण । सूत्र० १४–२१

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

उत्तरेभ्यः उत्तर वाक्य शेष में कहे हुए हेतुओं से दहरः दहर (दहराकाश) [ब्रह्म ही] है।

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' [छादो० ८।१।१] (अब, इस ब्रह्मपुर रूप शरीर में जो अल्प सूक्ष्म हृदय कमल रूप घर है इसमें अल्प अन्तराकाश है उसके मध्य में उसका शोधन करना चाहिये, उसका ही विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये), इत्यादि वाक्य श्रुति कहती है। यहां पर हृदय कमल में जो यह अल्प आकाश श्रुति बताती है वह कौन सा आकाश है—भूताकाश है; अथवा जीवात्मा है, अथवा परब्रह्म है, ऐसा संशय होता है। क्योंकि, आकाश शब्द का प्रयोग भूताकाश और परब्रह्म दोनों के लिये देखने में आता है, इसलिये दहराकाश का अर्थ भूताकाश है अथवा परब्रह्म है ऐसा संशय होता है। इसी प्रकार ब्रह्मपुर का अर्थ जीव वा शरीर

है अथवा परब्रह्म का पुर है ऐसा संशय होता हैं और यह भी संशय होता है कि दहराकाश में जीव और परब्रह्म इन दोनों में से किस की स्थिति है।

प्रतिपक्षी:—आकाश शब्द भूताकाश के लिये रूढ़ होने से दहर शब्द भूताकाश का ही वाचक है। दहर आयतन-आधार की अपेक्षा से दहर-अल्प है इसलिये दहर अल्प कहलाता है। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (जितना यह आकाश है, उतना ही इस हृदय के भीतर आकाश है), इस प्रकार बाहर और भीतर के भाव से किये हुये भेदों से उपमान और उपमेय भाव है। और इन भेदों में आकाश और पृथिवी आदिका समावेश है क्योंकि आकाश स्वरूप से एक है।

अथवा, जीव दहर है क्योंकि ब्रह्मपुर शब्द है। वस्तुत: शरीर जीव का पुर होने से ब्रह्मपुर कहलाता है, क्योंकि शरीर अपने कर्मों से जीव का प्राप्त किया हुआ है और चैतन्यता के गुण के कारण जीव ब्रह्म शब्द का वाच्य है। वास्तविक तो इसका परब्रह्म के शरीर के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उसमें राजा के समान पुर के स्वामी की पुर के एक भाग में स्थिति दिखाई देती है। मन जीव की उपाधि है और मन की स्थिति मुख्य रूप से हृदय में है, इसलिये हृदय में जीव की ही स्थिति है और इसी कारण दहर संज्ञा भी उसी में घटती है, क्योंकि आरे के अग्र भाग के समान उसकी कल्पना की गई है। ब्रह्म के साथ जीव की अभेदता होने से आकाश के साथ उसकी उपमा दी है। और यहाँ पर दहर आकाश का शोधन अथवा साक्षात्कार करना चाहिये, ऐसा श्रुति में नहीं कहा है, क्योंकि 'तस्मिन् यदन्तः' (उसमें जो अन्दर) इस प्रकार उसको ब्रह्म का विशेषण (अधिष्ठान) अंगीकार किया है।

सिद्धान्तीः—नहीं ऐसा नही है, परब्रह्म ही दहराकाश होना चाहिये, भूताकाश अथवा जीव नहीं। श्रुति के पिछले वाक्यों में जो जो हेतु बतलाये हैं, उनसे ऐसा सिद्ध होता है। शोधन करने योग्य कहे हुए दहराकाश को 'तंचेद्ब्रूयुः' (उसको जो वे कहें) इस प्रकार आरम्भ करके 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (यहां वह क्या है कि जो शोधन करने योग्य है, जो जानने योग्य है) इस प्रकार आक्षेप करके उसका समाधान करते हैं कि 'सब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते' [छान्दो० ८। १। ३] (उसने कहा कि जितना यह आकाश है उतना यह हृदय के अन्दर आकाश है, उसके भीतर स्वर्ग और पृथिवी दोनों स्थित हैं) इसमें कमल-हृदय की अल्पतासे जिसको अल्पता प्राप्त हुई है, ऐसे आकाश की प्रसिद्ध आकाश के साथ उपमा दी है। इसलिये उसकी अल्पता की निवृत्ति करके दहराकाश का भूताकाश होना भी निवृत्ति किया है, ऐसा समझा जाता है। यद्यपि आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ है, तो भी उसके साथ उसीकी उपमा देना युक्त नहीं है, इसलिये भूताकाश की शंका निवृत्त होती है। और एक ही आकाश बाहर और भीतर होने से कल्पित किये हुए भेद से उपमान और उपमेय भाव सम्भव है, ऐसा जो कहा है, वह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि काल्पानिक भेद का आश्रय करना अयोग्य को योग्य ठहराने के समान है। और भेद की कल्पना करके उपमान और उपमेय का भाव बताने वाले को भीतर का आकाश परिच्छिन्न होने से, उसको बाहर के आकाश का परिमाण युक्त नहीं होगा। यदि कहो कि 'ज्यायानाकाशात्' [शत० ब्रा० १०। ६। ३। २] (आकाश से बड़ा) इस दूसरी श्रुति से परमेश्वर का भी

आकाश के समान परिमाण युक्त नहीं होगा, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य कमल में स्थित होने से प्राप्त हुये दहरत्व अल्पत्व की निवृत्ति करने के लिये है, भूताकाश के समान परिमाण प्रतिपादन करने के लिये नहीं यदि दहर शब्द दोनों प्रकार के आकाश के प्रतिपादन करने के लिये हो तो वाक्य भेद (एक ही वाक्य से दो स्वतन्त्र अर्थं होना इसको वाक्यभेद दोष कहते हैं) होगा; सिवाय इसके कल्पित भेद में कमल से घिरे हुए आकाश के एक देश में स्वर्ग पृथिवी आदि की स्थिति होना नहीं घट सकता। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (यह आत्मा, पाप से मुक्त, जरा, मरण और शोक से रहित, भूख प्यास से मुक्त, सत्य काम और सत्य संकल्प है) इस प्रकार आत्मत्व, पाप से मुक्तत्व आदि गुण भूताकाश में नहीं हो सकते।

यद्यपि आत्मा शब्द जीव के लिये हो सकता है, तो भी दूसरे कारणों से जीव की आशंका भी निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः उपाधि से परिछिन्न हुए और आरे के अग्र भाग के साथ उपमा दिये गये जीव का, पुण्डरीक में घिरे होने से, दहरत्व—अल्पत्व है, वह निवृत्त नहीं हो सकता। यदि कहो कि ब्रह्म के साथ जीव का अभेद है, ऐसा प्रतिपादन करने के अभिप्राय से जीव के सर्वव्यापकत्व आदि धर्म कहे होंगे, तो उसका उत्तर यह है कि जिस ब्रह्म के साथ जीव की एकता कही है, उस ब्रह्म के ही सर्वव्यापकत्व आदि धर्म कहे होंगे, इसलिये वे धर्म ब्रह्म के ही हैं, जीव के नहीं यह कहना ठीक है।

यह जो कहा था कि ब्रह्मपुर शब्द में जीव से पुर का उपलक्षण होने से राजा के समान पुर के स्वामी जीव का ही पुर

के एक भाग में रहना हो सकता है। उसका उत्तर यह है कि परब्रह्म का पुर होने से शरीर ब्रह्मपूर कहलाता है, क्योंकि ब्रह्म शब्द के मुख्य अर्थ परब्रह्म का भी इस पुर के साथ सम्बन्ध है, और वह (शरीर) ब्रह्म प्राप्ति का आश्रय रूप है। इसके प्रमाण में नीचे की दो श्रुतियां हैं।

स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" [प्रश्न० ५ । ५] (वह विद्वान् इस जीवघन यानी हिरण्यगर्भ ऐसे पर से पर, शरीर में रहे हुए पुरुष-परमात्मा को देखता है) और 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' [बृह० २ । ५।१८] (ऐसा यह पुरुष सब शरीरों में वर्त्तमान पुरिशय होने से पुरुष कहलाता है)। अथवा ऐसा समझना चाहिये कि जैसे शालिग्राम में विष्णु समीप है वैसे ही जीवपुर में ब्रह्म समीप है, क्योंकि 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यचितो लोकः क्षीयते' [छान्दो० ८ । १ । ६] (जिस प्रकार यहाँ कर्म से जीता हुआ लोक क्षीण होजाता है उसी प्रकार पुण्यसे जीता हुआ लोक भी क्षीण होजाता है)। इस प्रकार कर्मों का फल अन्त वाला कह कर 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (पीछे जो यहाँ आत्मा को और इन सत्य कामों को यानी इच्छाओं को आचार्य के उपदेश के अनुसार ध्यान से अनुभव करके परलोक जाता है उसका सब लोकों में कामचार-इच्छानुसार आना जाना होता है) इस प्रकार प्रकृत दहराकाश का अनन्त फल कहने से यह सूचन किया है कि वह परमात्मा है।

और यह जो कहा है कि-"दहराकाश शोधन करने तथा जानने योग्य है ऐसा श्रुति में कहीं नहीं कहा, क्योंकि दहराकाश को परब्रह्मका विशेषण (आधार) माना है" इसका उत्तर

यह है कि यदि अकाश को शोधन करने योग्य न कहा हो तो 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (जितना यह आकाश है, उतना ही यह हृदय के अन्दर आकाश है) इत्यादि आकाश के स्वरूप का प्रदर्शन उपयोगी न होगा । यदि कहो कि–प्रदर्शन अन्दर रहने वाली वस्तु के सद्भाव बताने के लिये ही किया है, क्योंकि 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (उसको जो वे पूछें कि इस ब्रह्मपुर में जो दहर पुण्डरीक स्थित है, उसके अन्दर दहराकाश है, है, इसमें वह कौन है कि जो शोधन करने योग्य है और जिसकी विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये ? इस प्रकार आक्षेप करके परिहार करने के समय उपक्रम में आकाश के साथ समानता करके स्वर्ग पृथिवी आदि उसमें रहे हुए हैं, ऐसा बताया गया है, तो उसके उत्तर में कहता है कि ऐसा नहीं है। जो ऐसा हो तो स्वर्ग पृथिवी आदि जो अन्दर रहे हुए हैं, उनका शोधन और विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये, ऐसा कथन होगा और पिछला वाक्य युक्त न होगा । 'अस्मिन् कामाः समाहिता' (इसमें सब इच्छाएं रही हुई हैं) 'एष आत्माऽपहत पाप्मा' (यह आत्मा पाप से मुक्त है) इस प्रकार प्रकृत स्वर्ग पृथिवी आदि जिसमें रहे हुए हैं उनके आधार का निरूपण करके 'अथ य इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' (पीछे जो यहां आत्मा को और इन सत्य कामों को आचार्य के उपदेश के अनुसार ध्यान से अनुभव करके परलोक जाता है) इस प्रकार समुच्चयवाचक 'च' (और) शब्द से वाक्यशेष में आत्मा जो सब इच्छाओं का आधार है; उसको और उसके आश्रित इच्छाओं को विज्ञेय रूप दिखलाया है । इसलिये वाक्य के अन्त में भी हृदय पुण्डरीक में

रहा हुआ दहराकाश ही अन्दर रहे हुए पृथिवी आदि और सत्य कामों के साथ विज्ञेय रूप कहा है, ऐसा समझा जाता है। इसलिये इन कहे हुए हेतुओं से दहराकाश परमेश्वर है, ऐसा सिद्ध होता है॥ १४॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५॥

गतिशब्दाभ्यां गति और शब्द से [दहराकाश परमात्मा है] तथा वैसे ही [दूसरी श्रुति में] हि भी दृष्टं देखा है [वह] च भी लिङ्ग हेतु है।

जिन हेतुओं से दहराकाश परमेश्वर रूप सिद्ध होता है उन हेतुओं को अब विस्तार से कहते हैं :—

यहां परमेश्वर ही दहर रूप है, क्योंकि दहर को जहाँ निरूपण किया है वहाँ पिछले भाग में जिस गति और शब्द की योजना की है, वे परमेश्वर का ही प्रतिपादन करते हैं। दहर वाक्य के पीछे ऐसा कहा है :—'इमाःसर्वाःप्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' [छान्दो० ८ । ३ । २] (सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य प्रति दिन इस दहराकाश में जाते हैं तो भी ब्रह्म लोक को नहीं जानते) इस श्रुति में दहर को ब्रह्म शब्द से कह कर जीवों की ब्रह्म सम्बन्धीं गति कही है, इससे ऐसा समझा जाता है कि दहर ब्रह्म है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में प्रति दिन ब्रह्म में ही जोवों का जाना होता है। यही वात इस दूसरी श्रुति में कही है:— 'सता सोम्य, तदा सम्पन्नो भवति' [छान्दो० ३ । ८ । १] (हे सोम्य, सुषुप्ति अवस्था में वह सत् यानी ब्रह्म के साथ मिल जाता है)। अन्य श्रुतियों में भी ऐसा ही कहा है,

और लोक में भी देखने में आता है कि जो गहरी नींद में पड़ा होता है इसके विषे कहते हैं कि यह ब्रह्म के साथ एक भाव को प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्मलोक शब्द का जो दहर के लिये प्रयोग किया गया है, उससे दहर के जीव और भूताकाश होने की आशंका निवृत्त होती है और दहर ब्रह्म ही है ऐसा समझा जाता है।

शंका:—ब्रह्मलोक शब्द का अर्थ ब्रह्मा का लोक ऐसा भी तो हो सकता है?

समाधान :—षष्ठीत पुरुष समास लगाया जाय तो ब्रह्म-लोक का अर्थ ब्रह्मा का लोक ऐसा हो सकता हैं परन्तु यहां वह समास नहीं लगता। समानाधिकरण से ब्रह्म ही लोक है ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि प्रति दिन जीवों का जाना ब्रह्म-लोक—कारण ब्रह्म में ही हो सकता है, ब्रह्मा के लोक यानी कार्य ब्रह्म में नहीं ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

धृतेः [सब जगत् के] धारण से च और अस्य इसके (धारण रूप नियम के) महिम्नः महिमा की अस्मिन् [अन्य श्रुति में] इसमें (परमात्मा में) उपलब्धेः प्राप्ति होने से [दहराकाश परमात्मा है]।

धारण करने के कारण से भी दहराकाश परमात्मा है, क्योंकि 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (इसमें यानी ब्रह्म पुर में दहर अन्तराकाश है) इस प्रकार आरंभ करके पीछे उसको आकाश की उपमा दी हैं। फिर ऐसा कहा है कि उसमें सब पदार्थ स्थित हैं, फिर उस दहराकाश के सम्बन्धी आत्म शब्द का प्रयोग किया है और उपदेश किया है कि वह सब प्रकार के पापों से रहित

है। ऐसा उपदेश करके प्रकरण समाप्त होने के पहिले उसके सम्बन्ध में ऐसा कहा है:—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' [छान्दो० २।४।१] (अब जो आत्मा है, वह सेतु (बांध) है, वह इन लोकों की नाश से रक्षा करने के निमित्त विधृति रूप है) यहां पर विधृति शब्द का आत्मा के साथ समानाधिकरण होने से वह धारण करने वाला है ऐसा अर्थ हैं क्योंकि क्तिच् (ति) प्रत्यय का कर्ता के अर्थ में विधान है। जिस प्रकार लोक में जल के प्रवाह को धारण करने वाला सेतु इसलिये होता है कि खेत की फसल वह न जाय, उसी प्रकार यह आत्मा अध्यात्म आदि भेद से भिन्न हुए लोक और वर्ण आश्रम को धारण करने वाले सेतु नष्ट न हो जांय इसलिये है। इस प्रकार यहां दहराकाश की धारण रूप महिमा श्रुति ने दिखाई है। यह महिमा रूप परमेश्वर ही है, ऐसा इस दूसरी श्रुति से सिद्ध होता है :—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन गार्गि सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि, इस अक्षर की आज्ञा में सूर्य चन्द्र धारण किये हुए रहते हैं)। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर परमेश्वर संबंधी यही श्रुति है :—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' [यह सबका ईश्वर है, यह भूतों का पालन करने वाला है, यह सेतु है, यह लोकों का संकर न हो जाय इसलिये आश्रय रूप है) इस प्रकार धारण करने के हेतु से दहराकाश परमात्मा ही है॥१६॥

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

च और प्रसिद्धेः [कारण रूप आकाश की परमात्मा रूप से] प्रसिद्धि होने से दहराकाश परमात्मा है]।

'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (इसमें दहर अन्तराकाश है)

ऐसा जो कहा है, इससे भी परमेश्वर दहर रूप है, क्योंकि आकाश शब्द परमेश्वर के लिये प्रसिद्ध है, जैसा कि इन दो श्रुतियों में देखने में आता है:—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' [छान्दो० ८।१४] आकाश ही नाम और रूप का प्रगट करने वाला है), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' [छान्दो० १।९।१] (वस्तुतः ये सब भूत आकाश में से ही उत्पन्न होते हैं) जीव के लिये तो किसी स्थान पर भी आकाश शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता। यद्यपि भूताकाश के लिये आकाश शब्द की प्रसिद्धि है तो भी (एक ही स्थान पर) उपमान और उपमेय आदि भाव की असंभावना होने से उसका ग्रहण करना योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

इतरपरामर्शात् अन्य के (जीव के) ग्रहण से सः वह (जीव) [दहराकाश है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न वह ठीक नहीं है असंभवात् असंभव होने से।

शंका:—यदि श्रुति के पिछले वाक्य के बल से ऐसा ग्रहण करोगे कि दहर परमेश्वर है, तो उसी वाक्य के बल पर जीव का भी ग्रहण हो जायगा। वह वाक्य यह है—'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेतिहोवाच' [छा० ८।३।४] (ऐसा कहा है कि जिसको इसमें श्रद्धा होती है, वह इस शरीर में से निकल कर परं ज्योति को प्राप्त होता है और अपने रूप में रहता है, यह आत्मा है) यहाँ पर जो संप्रसाद शब्द है, उसका अर्थ दूसरी श्रुति में सुषुप्ति अवस्था किया है, क्योंकि संप्रसाद सुषुप्ति वाले जीव को ही उठा सकता है दूसरे को नहीं उठा

सकता। इसी प्रकार शरीर के आश्रय वाले जीव का ही शरीर में से उठना बन सकता है, जैसे आकाश के आश्रय वाले वायु आदि का आकाश में से ही उठना सम्भव है। यद्यपि लौकिक भाषा में आकाश शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में देखने में नहीं आता, तो भी 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' (आकाश ही नाम और रूप का प्रकट करने वाला है) इत्यादि श्रुतियों में आकाश के लिये परमेश्वर के धर्म का कथन है, इसलिये आकाश शब्द परमेश्वर के लिये लागू होना स्वीकार किया है। इसी प्रकार जीव के लिये भी आकाश शब्द लागू पड़ता होगा, इसलिये अन्तर में रहा हुआ आकाश जो दहर रूप है, उसे जीव भी कह सकते हैं।

समाधानः—ऐसा नहीं है, यह असंभव है, क्योंकि बुद्धि आदि की उपाधि से परिच्छिन्न अभिमानी जीव की आकाश के साथ समानता नहीं बन सकती और उपाधि धर्म के अभिमानी के लिये पाप से मुक्तता आदि धर्म भी नहीं हो सकते। इसका विस्तार इस अधिकरण के प्रथम सूत्र में किया है। अधिक शंका का परिहार करने के लिये यहाँ पर उसको फिर से कहा गया है। 'अन्यार्थश्च परामर्शः' [ब्रह्म सूत्र १। ३। २०] इस आगे के सूत्र में इस शंका का अधिक समाधान करेंगे॥ १८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥ १९॥

उत्तरात् उत्तर वाक्य से [जीवका कथन होने से दहराकाश जीव है] चेत [ऐसा यदि कहो] तो तु [ऐसा कहना चाहिये] कि आविर्भूत स्वरूपः [उस प्रसंग में] उपाधि रहित शुद्ध जीव स्वरूप [प्रतिपादन किया गया है, इसलिये उसका परात्मापन होने से दहराकाश परमात्मा] है।

प्रतिपक्षी:—इतर यानी जीवका विचार करते हुए जीव संबंधी जो आशंका हुई थी उसका निराकरण तो असम्भव शब्द द्वारा होगया। अब मृत अमृत सिंचन द्वारा जी उठता है वैसे ही आगे के प्रजापति के वाक्य से जीव संबंधी आशंका पुनर्वार खड़ी हो जाती है। वहाँ पर 'य आत्मापहतपाप्मा' [छान्दो० ८।७।१] (जो आत्मा पाप से रहित है) ऐसा पाप रहित आदि गुण वाला आत्मा शोधन करने योग्य है और जानने योग्य है, ऐसी प्रतिज्ञा कर के 'य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' [छान्दो० ८।७।४] (आँख में जो पुरुष दीखता है यह आत्मा है), ऐसा कहकर श्रुति आँख में रहे हुए द्रष्टा जीव को आत्मा रूप बताती है। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' [छान्दो० ८।६।३] (मैं तुझसे उसका ही व्याख्यान फिर कहूंगा) इस प्रकार वारम्वार आत्मा का ही परामर्श किया है और कहा है कि 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येषआत्मा' [छांदो० ८।१०।१] (स्वप्न में इच्छित पदार्थों की प्राप्ति द्वारा जिस आनन्द का अनुभव होता है उसका भोगनेवाला आत्मा है) इसी प्रकार यह भी कहा है कि 'तद्यत्रै तत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' [छान्दो० ८।११।१] (सुषुप्ति अवस्था में जो पूर्ण रीति से चेष्टा रहित रहता है तथा स्वप्न को नहीं जानता, वह आत्मा रूप है) इस प्रकार अन्य २ अवस्था में रहे हुए जीव को ही वर्णन किया है और जीव के ही पाप से रहित होना आदि गुण बताये हैं; जैसे कि 'एतदमृतभयमेतद्ब्रह्म' (यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है)। 'नाह खल्वयमेवं सं प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' [छान्दो० ८।११।१, २] (यह खेद की बात है कि यह इस प्रकार नहीं जानता कि मैं यह

आत्मा हूँ, इसी प्रकार यह प्राणियों को भी नहीं जानता) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में दोष दिखलाया है और कहा है कि 'एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्र तस्मात्' (इसका ही मैं तुझे फिर उपदेश करूँगा, अन्य का नहीं) इस प्रकार आरम्भ करके शरीर की निन्दा की है और कहा है कि 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परज्योतिरुपसंपद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' [छां० ८।१२।३]। (यह जीव जो इस शरीर में से उठ करके अपने रूप का साक्षात्कार करके परमज्योति को प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष है), इस प्रकार श्रुति ने शरीर में से निकले हुए जीव को ही उत्तम पुरुष रूप दिखलाया है। और परमेश्वर का धर्म जीव में होना सम्भव है, इसलिये 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (इसमें दहर अन्तराकाश है) ऐसा कथन जीव का ही है।

सिद्धान्ती:—यह तेरा कथन ठीक नहीं है। हम ऐसा कहते हैं कि प्रकट स्वरूप जीव ही का यहां निर्देश है। यहां जो 'तु' शब्द है वह पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है; अर्थात् उत्तर वाक्य से भी जीव संबंधी आशंका नहीं हो सकती क्योंकि वहां पर भी आविर्भूत स्वरूप ऐसे ही जीव से अभिप्राय है। आविर्भूत स्वरूप का अर्थ यह है कि जिसका स्वरूप प्रकट हुआ है। इस आत्मा की पूर्व में जो गति है उस गति से जीव शब्द द्वारा उस आत्मा का निरूपण है। तात्पर्य यह है कि 'य एषोऽक्षिणि' (जो यह आँख में है) इस प्रकार श्रुति ने आंख में रहे हुए द्रष्टा का निरूपण करके आगे उदशराव नामक ब्राह्मण ग्रन्थ द्वारा इस (द्रष्टा) का शरीर स्वरूप है इस प्रकार इसका विचार प्रारंम्भ करके 'एतं त्वेवते' (इसका तुझको) इस वाक्य में समझाने योग्य ऐसे रूप से वारम्वार उसी का विचार करके, सुषुप्ति

अवस्था और स्वप्नावस्था उसी को है, ऐसा क्रम २ से समझाकर 'परं ज्योति रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (परम ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप से सम्पन्न होता है) इस प्रकार आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप जो परब्रह्म है, उस रूप से जीव का निरूपण किया है, किन्तु जीव रूप से आत्मा का निरूपण नहीं किया है। प्राप्त करने योग्य परम ज्योति जो श्रुति ने कही है, वह परब्रह्म है और वह पाप से रहितता आदि धर्म वाला है। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) आदि शास्त्रों द्वारा कहा है कि वही जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, उपाधि से कल्पा हुआ स्वरूप जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जब तक स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैत लक्षण वाली अविद्या की निवृत्ति नहीं होती और कूटस्थ और नित्य तथा द्रष्टा रूप आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा नहीं जानता तब तक ही जीव का जीवत्व है। परन्तु, जब देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि समूह में से जाग्रत होकर उसको श्रुति द्वारा ऐसा ज्ञान होता है कि 'तू देह इन्द्रिय, मन और बुद्धि समूह नहीं है, तू संसारी नहीं है, किंतु नित्य चेतन्य मात्र स्वरूप जो आत्मा है, वह तू है' तब कूटस्थ नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा को जान कर यह जीव शरीर आदि के अभिमान से रहित होकर वही कूटस्थ, और नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हो जाता है। इसमें 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मुण्ड ३ । २ । ९] (निश्चय जो उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। शरीर में से उत्थान करके जिस अपने रूप को प्राप्त करता है, वह ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है।

शंका:—अपने रूप को आप ही प्राप्त करना, यह बात कूटस्थ नित्य आत्मा में किस प्रकार संभव है? सुवर्ण आदि में

किसी दूसरी धातु का मेल होने से उसके साधारण स्वरूप का नाश हो जाता है। जब उसका क्षार डाल कर शोधन किया जाता है तब सुवर्ण अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होता है। दिन में सूर्य के प्रकाश से दबे हुए नक्षत्र रात्रि को सूर्य के छुप जाने पर अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। परन्तु, नित्य आत्म चैतन्य रूप ज्योति किसी वस्तु से दब नहीं सकती ; क्योंकि वह आकाश के समान निर्लेप है, उसका किसी से संसर्ग नहीं है, तो फिर वह दबे कैसे ? जैसे, आकाश ससर्ग रहित है इसलिये वह किसी से भी नहीं दबता है। यदि आत्मा का दबना मानोगे तो जो देखने में आता है, उससे विरोध होगा। वस्तुतः दृष्टि, श्रुति मति और विज्ञान शक्तियां यह जीव का स्वरूप है और वह स्वरूप शरीर से न निकलते हुए यानी शरीर ही को आत्मा मानने वाले जीव को भी सदा स्वतः सिद्ध है। विचार से देखा जाय तो सर्व जीव देखते, सुनते, विचार करते और विज्ञान प्राप्त करते हुए व्यवहार करते हैं, ऐसा न हो तो व्यवहार नहीं हो सकता। यदि वह स्वरूप शरीर से निकले हुए को ही प्राप्त होता है ऐसा माना जाय तो शरीर से निकलने से प्रथम देखा हुआ व्यवहार विरुद्ध ठहरेगा। इसलिए बताना चाहिए कि शरीर से निकलना किस प्रकार होता है और आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति किस प्रकार होती है।

समाधानः—विवेक रूप विज्ञान की उत्पत्ति से पहिले दृष्टि आदि स्वरूप ज्योतिःस्वरूप जीव शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि, विषय और वेदना रूप उपाधियों से अभिन्न हो ऐसा भासता है। जैसे, शुद्ध स्फटिक का स्वच्छ और शुक्ल स्वरूप होता है परन्तु जब लाल और नीली उपाधि के कारण वास्तविक स्वरूप जाना नहीं जाता तब भिन्न स्वरूप मालूम पड़ता है, स्फटिक पहिले

स्वच्छ और शुक्ल रंग वाला ही होता है। परन्तु, जब प्रमाण से विवेक होता है तब स्फटिक का स्वच्छ और शुक्ल स्वरूप प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जाता है, यद्यपि वह पहिले भी वैसा ही था। इसी प्रकार देहादि उपाधियों के विवेक से रहित जो जीव है उसका भी जब श्रुतियों द्वारा विवेक होता है तब शरीर में से जीव का निकलना होता है, अर्थात देहादि उपाधियों में जीव की अनासक्ति होती है। अपने स्वरूप को प्राप्त करना तथा केवल आत्म स्वरूप को जानना इसका अर्थ विवेक रूपी विज्ञान के फल की प्राप्ति होना है। इस प्रकार विवेक तथा अविवेक के कारण ही आत्मा का अशरीरत्व और शरीरत्व कहा गया है। श्रुति में कहा है कि 'अशरीरं शरीरेषु' [का० १। २। २२] (वह शरीर में शरीर से रहित है) और गीता में भी कहा है कि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' [गी० १३। ३१] (आत्मा शरीर में स्थित हुआ भी, हे कौन्तेय, वह न कुछ करता है और न लिप्त होता है), इस प्रकार सशरीर और अशरीर का भाव स्मृति में भी निरूपण किया है। इसलिये आत्मा को जब तक विवेक विज्ञान नहीं होता तब तक वह अप्रकट स्वरूप वाला कहा जाता है और विवेक विज्ञान होने पर प्रकट स्वरूप वाला कहलाता है, अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप वाला कहा जाता है। इसलिये जीव का आविर्भाव और तिरोभाव अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं बन सकता। इस प्रकार जीव और परमेश्वर का भेद मिथ्या ज्ञान से है, वस्तुतः नहीं है, क्योंकि आत्मा आकाश के समान असङ्ग है।

शंका:—श्रुति में तो ऐसा उपदेश है कि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (आंख में जो पुरुष देखने में आता है) और फिर

ऐसा उपदेश किया है कि 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' (यह आत्मा अमृत अभय तथा ब्रह्म है) जब इस प्रकार की उपदेश है। तो किस प्रकार जाना जाय कि आत्मा असंग है, अर्थात् सब प्रकार के संग से रहित है।

समाधानः—यदि आंख में रहा हुआ प्रसिद्ध द्रष्टा द्रष्टा रूप माना जाय तो वह अमृत तथा अभय लक्षण वाले ब्रह्म से अन्य होगा और उस की अमृत तथा अभय ब्रह्म के साथ एकता न हो सकेगी। यहां पर आंख द्वारा निरूपण किये हुए छायात्मा का उपदेश नहीं है। यदि ऐसा हो तो प्रजापति का कथन मिथ्या ठहरेगा। इसी प्रकार दूसरे प्रसंग में भी 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' (जो आत्मा स्वप्न में स्त्री पुत्रादि से सेवा किया जाता हुआ फिरता है) ऐसा कहा है। यहां पर आंख में स्थित द्रष्टा से अन्य का निरूपण नहीं है, क्योंकि अन्त में कहा है कि 'एतं त्वैव ते भूयोऽनु व्याख्यास्यामि' (इस का ही मैं तुझसे फिर व्याख्यान करूंगा) तथा 'मैंने आज स्वप्न में हाथी देखा था परन्तु मैं उसे अब नहीं देखता' इस प्रकार स्वप्न में जो वस्तु देखी होती है, उसका जाग्रत अवस्था में जागा हुआ पुरुष निषेध करता है। द्रष्टा तो एक का एक वही होता है, जो जानता है कि मैंने स्वप्न देखा था और वह ही जाग्रत अवस्था में देखता है। और तीसरा प्रसंग यह है कि 'नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्यय महमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (यह खेद की बात ह कि अब यह यह मैं हूं, इस प्रकार आत्मा को नहीं जानता; और प्राणियां को भी नहीं जानता)। इस प्रकार श्रुति सुषुप्ति अवस्था में विशेष विज्ञान का अभाव दिखलाती है, परन्तु विज्ञाता का अभाव नहीं दिखलाती। वहां ऐसा जो कहा है कि उसका नाश नहीं होता तो भी नाश को प्राप्त होता हो ऐसा

मालूम होता है. वह इसलिये है कि वहां विशेष विज्ञान का नाश होता है। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान का नाश होता है क्योंकि दूसरी श्रुति में कहा है कि 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् [बृह० ४। ३ ।३०] (वस्तुतः विज्ञाता की विज्ञान शक्ति का नाश नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है)। इसी प्रकार चौथे प्रसंग पर कहा है कि 'एतंत्वेव तेभूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' (उसका ही मैं तुझसे फिर व्याख्यान करूंगा, उससे अन्य का नहीं) ऐसा कह कर पीछे कहा है कि 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्' (हे इन्द्र ! यह शरीर मर्त्य रूप है) इत्यादि विस्तार से शरारीदि उपाधि सम्बन्ध का व्याख्यान किया है और संप्रसाद शब्द द्वारा जीव का निरूपण भी किया है और कहा है कि आत्मा अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होता है। जिसका स्वरूप परिपूर्ण आनन्द स्वरूप है, उसको संप्रसाद कहते हैं। इस प्रकार आत्मा का निरूपण ब्रह्म स्वरूप से किया है। किन्तु श्रुति अमृत तथा अभय रूप परब्रह्म से जीव को भिन्न नहीं कहती।

कोई २ ऐसी कल्पना करते हैं कि परमात्मा के निरूपण में 'एतं त्वेव ते' (उसका ही तुझको) इस वाक्यांश से जीव का निरूपण किया है ऐसा कहना ठीक नहीं। 'एतं' शब्द द्वारा पाप आदि गुणों से रहित आत्मा का ही निरूपण किया है तथा उस आत्मा का ही मैं तुझ से व्याख्यान करूंगा ऐसा कहा है। ऐसा मानने वालों के मत के अनुसार 'एतं' सर्व नाम जो पास की वस्तु का सूचन करता है, वह दूर की वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है और श्रुति में जो 'भूयः' (फिर) शब्द है, उस में बाध आता है, क्योंकि एक पर्याय के कथन करने के बाद दूसरे पर्याय का कथन नहीं होता। दूसरे 'एतं' त्वेव ते' इस प्रकार की प्रतिज्ञा

करके चौथे प्रसंग के पहिले भिन्न २ रूप से निरूपण करने से प्रजापति का वंचकपना सिद्ध होगा। इसलिये, अविद्या से स्थापित हुए जीव का स्वरूप अपारमार्थिक है। जीव का यह स्वरूप कर्त्ता, भोक्ता, रागद्वेषादि दोषों से दूषित है, तथा अनेक अनर्थों का उत्पन्न करने वाला है। परन्तु, जब अविद्या का लय हो जाता है तब विद्या द्वारा उससे विपरीत पाप आदि गुणों से रहित परमेश्वर स्वरूप की प्राप्ति होती है जैसे कि सर्प का ज्ञान होने पर रज्जु आदिक का लय हो जाता है। कितने ही तो जीव का स्वरूप पारमार्थिक ही है, ऐसा मानते हैं, और कितनेक जैसा हमने कहा है, ऐसा मानते हैं। इस शारीरक महाभाष्य के रचने का कारण यह है कि आत्मा का अच्छी प्रकार से ज्ञान हो जाय और उसमें जो विरोध हो उसका नाश हो जाय। परमेश्वर एक रूप, कूटस्थ तथा नित्य है। विज्ञान स्वरूप प्रजापति के अविद्या रूप माया के कारण मायावी-जादूगर के समान अनेक प्रकार के स्वरूप होते हैं, परन्तु विचार पूर्वक देखा जाय तो प्रजापति का भिन्न स्वरूप नहीं है। 'नासंभवात्' [ब्र० सू० १ । ३ । १८] (असंभव होनेसे जीव दहर रूप नहीं है), इस प्रकार सूत्रकार ने परमेश्वर के विषय में जीवात्मा का प्रतिषेध किया है। ऐसा कहने का कारण यह है कि परमात्मा का स्वरूप नित्य, शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला, कूटस्थ, नित्य, एक तथा असंग है। जीव का स्वरूप इस से विपरीत है। जैसे आकाश में तलमलादि (पैंदा और मलिनता) की कल्पना होती है इसी प्रकार जीव में है। इसलिये आत्मा एक रूप है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले वाक्यों से तथा द्वैत का प्रतिषेध करने वाले युक्तियुक्त वाक्यों से इस कल्पना का अंत हो जाय इसी कारण से परमात्मा की जीव से भिन्नता दृढ़की है। वस्तुतः तो

परब्रह्म से जीव की भिन्नता प्रतिपादन करने की श्रुति इच्छा नहीं करती, परंतु श्रुति ऐसा कहती है कि परमात्मा से जीव का भेद अविद्या के योग से कल्पा हुआ है। कर्ता भोक्ता रूप विधि कर्म की जो प्रवृत्ति हुई है उसमें किसी प्रकार का विरोध न आवे इसलिये ऐसा माना जाता है। शास्त्रों में आत्मा का एकत्व दिखलाया है, यह बात 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' [ब्र० सू० १। १। ३०] इस सूत्र से कही है। कर्म विधि के विरोध का परिहार हम विद्वान् और अविद्वान् के भेद से पहले ही वर्णन कर चुके हैं ॥ १९ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

च और **परामर्शः** [जीव का] ग्रहण **अन्यार्थः** अन्य के (परमात्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने के) लिये है।

शंकाः—दहर उपासना के अन्त के वाक्य में 'अथ य एष संप्रसादः' [छान्दो० ८। ३। ४] (अब यह जो आत्मा पूर्ण आनन्द स्वरूप है) इत्यादि से जीव का परामर्श दिखलाया है। इस परामर्श से यदि दहर को परमेश्वर रूप मानें तो जीव की उपासना का उपदेश नहीं किया जाता तथा प्रकृत अर्थात् दहराकाश का उपदेश भी नहीं हो सकता इसलिये यह कहना निरर्थक है।

समाधानः—इसका उत्तर यह है कि जीव का परामर्श अन्य के लिये है। इसका जीव के स्वरूप में समावेश नहीं होता, किन्तु परमेश्वर के स्वरूप में समावेश होता है है; क्योंकि संप्रसाद शब्द द्वारा कहा हुआ जीव जाग्रत अवस्था में देह तथा इद्रिय रूप पिंजरे का अध्यक्ष होता है। वह अपनी वासनाओं के अनुसार स्वप्न का नाड़ी में घूम कर अनुभव करता है। जब

इस प्रकार घूमने से थक जाता है तब वह शरण प्राप्त करने की इच्छा करता है। फिर दोनों रूप के शरीर के अभिमान से उत्थान को प्राप्त होकर सुषुप्ति अवस्था में जाता है, तब परम ज्योति स्वरूप तथा आकाश स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। सुषुप्ति में सब प्रकार के चेतनत्व का अभाव होता है और अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होता है। जो परम ज्योति उसको प्राप्त करने योग्य है और जिस द्वारा यह अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, वह यह आत्मा पापादि गुणों से रहित उपास्य है इस प्रकार का जीव का परामर्श परमेश्वर वादी के लिये भी युक्त है ॥२०॥

अल्पश्रुतेरिति चेत तदुक्तम् ॥ २१ ॥

अल्पश्रुतेः [आकाश के] अल्पत्व को श्रुति होंने से [दहराकाश परमेश्वर नहीं है] इति ऐसा चेत् [यदि कहो] तो तत् वह (उसका समाधान) उक्तम् [पूर्व में] कहा हैं।

'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (इसमें अन्तराकाश अल्प है) इस प्रकार आकाश का अल्पत्व श्रुति कहती है। यह अल्पत्व परमेश्वर में होना सम्भव नहीं है। किन्तु जीव जो आरे के अग्र भाग के समान है, उसमें अल्पत्व हो सकता है, ऐसा जो कहा है, उसका समाधान करना चाहिये। वस्तुतः इसका समाधान यही है कि परमेश्वर का सापेक्ष अल्पत्व हो सकता है। यह बात ब्रह्म सूत्र के पहिले अध्याय के दूसरे पाद के सातवें सूत्र में कह आये हैं। श्रुति में भी अल्प आकाश के साथ महाकाश की उपमा दी है, जैसे कि 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (जैसा यह आकाश है तैसा ही यह हृदय में आकाश है), इस श्रुति में कहा है ॥ २१ ॥

(७) अनुकृत्यधिकरण । सू० २२-२३

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

अनुकृतेः अनुकृति से (अनुकरण रूप हेतु से) च और तस्य उसकी [दीप्ति से यह सब भासता है, ऐसा कथन होने से इस श्रुति में प्राज्ञ परमात्मा का ग्रहण है]।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं-विभाति ॥' [मुण्ड० २। १। १०] उस ब्रह्म को सूर्य नहीं प्रकाशता, चन्द्रमा और तारे नहीं प्रकाशते तथा यह बिजली नहीं प्रकाशती, फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशेगी? उस परमेश्वर के प्रकाशने से ही पीछे सब प्रकाशते हैं। उसके प्रकाश से ये सब प्रकाशते हैं), ऐसा श्रुति कहती है। जिसके प्रकाशने के पीछे ये सब प्रकाशते हैं और जिसके प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं, वह कौन है, कोई तेजस्वी पदार्थ है अथवा परमात्मा है?

प्रतिपक्षीः— कोई तेजस्वी पदार्थ है ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों के प्रकाश का प्रतिषेध किया है। वस्तुतः तेज जिसका स्वभाव है, ऐसा सूर्य जब दिन में प्रकाशता है, तब तेज स्वभाव वाले चन्द्र तारे आदि नहीं प्रकाशते, यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सूर्य सहित चन्द्र, तारे आदि ये सब जिसमें नहीं प्रकाशते वह भी तेज स्वभाव वाला कोई तेजस्वी पदार्थ है ऐसा प्रतीत होता है। जिसका तेज स्वभाव है ऐसे का ही अनुमान करना ठीक है, क्योंकि जिनका स्वभाव समान होता है उनके लिये ही अनुकार देखने में आता है, अर्थात् समान स्वभाव वाले ही एक दूसरे का अनुकरण करते हैं जैसे कि 'गच्छन्तमनुगच्छति' (जाते हुए के पीछे जाता

है)। इसलिये यहाँ पर कोई तेजस्वी पदार्थ से अभिप्राय होना चाहिये।

सिद्धान्तीः—नहीं ऐसा नहीं है, परमात्मा ही होना चाहिये। अनुकृति से ऐसा ही सिद्ध होता है। अनुकृति अनुकरण को कहते हैं। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' (उसके प्रकाशने के पीछे सब प्रकाशते हैं) परमात्मा का ग्रहण करने से यह अनुमान घट सकता है। 'भारूपः सत्य संकल्पः' [छान्दो० ३। १४। २] (प्रकाश जिसका रूप है और जिसका संकल्प सत्य है) इस प्रकार परमात्मा के विषे श्रुति कहती है। परन्तु ऐसा प्रसिद्ध नहीं है कि किसी तेजस्वी पदार्थ के पीछे सूर्य आदि प्रकाश है। तेजस्वी पदार्थ समान होने से सूर्य आदि को किसी तेजस्वी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है जिसके प्रकाशने के पीछे सूर्य आदि प्रकाशें। वस्तुतः प्रकाश अन्य प्रकाश के पीछे प्रकाश नहीं करता। और यह जो कहा कि जिनका स्वभाव समान होता है, उनका ही अनुकार देखने में आता है तो ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि जिनका स्वभाव भिन्न है उनका भी अनुकार देखने में आता है। जैसे कि अच्छी प्रकार से तपा हुआ लोहे का गोला अग्नि का अनुकरण करता है, अर्थात् जलते हुए अग्नि के पीछे जलता है। अथवा पृथिवी की रज चलते हुए वायु के पीछे चलती है। सूत्र का 'अनुकृतेः (अनुकरण से) यह भाग इस अनुमान को बताता है। 'तस्यच' (और उसका) यह भाग इस श्लोक का चौथा पाद बताता है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके प्रकाश द्वारा ये सब प्रकाशते हैं) इस प्रकार सूर्य आदि का प्रकाश उसका किया हुआ कहा है, इसलिये 'वह' शब्द परमात्मा का ज्ञान कराता है—परमात्मा को बताता है। तद्वा

ज्योतिषांज्योति रायुर्होपासतेऽमृतम्' [वृह० ४ । ४ । १६] (वह ज्योतियों का ज्योति जो अमृत है उसकी देवता आयु रूप से उपासना करते हैं) यह श्रुति प्राज्ञ आत्मा परत्मा को कहती है। सूर्य आदि तेज अन्य तेज से प्रकाशते हैं, यह अप्रसिद्ध है और विरुद्ध भी है, क्योंकि एक तेज दूसरे तेज का नाश करता है। अथवा श्लोक में कहे हुए सूर्य आदि का ही केवल प्रकाश करना नहीं कहा है। यदि कहो कि अन्य किसका प्रकाश करना कहा है तो सुनोः—'सर्वम्मिदम्' (यह सर्व) इस प्रकार सामान्य श्रुति से नाम, रूप, क्रिया, कारक और फल समुदाय, इन सबका जो प्रकट होना है, उसका कारण ब्रह्मज्योति की सत्ता है। जिस प्रकार सब रूप समुदाय के प्रकट होने का कारण सूर्य ज्योति की सत्ता है उसी प्रकार 'न तत्र सूर्यो भाति' (उसमें सूर्य नहीं प्रकाशता) यहां पर 'तत्र' (उसमें) शब्द कहकर श्रुति प्रकृत का ग्रहण कराती है और प्रकृत ब्रह्म है। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' [मुण्ड० २ । २ । ५] जिसमें द्यु लोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष पिरोये हुए है) इत्यादि से और पीछे 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥' [मुण्ड० २ । २ । ६] (तेजोमय पर कोश यानी आनन्द मय में अविद्या आदि रंज–मल से रहित ब्रह्म है, वह अवयव रहित, शुद्ध ज्योतियों का ज्योति है, वह यह है जिसको आत्म वेत्ता जानते हैं), इस श्रुति से ब्रह्म का निरूपण है। वह ज्योतियों का ज्योति किस प्रकार है, इस विषय में कहा है कि 'न तत्र सूर्यो भाति' (वहाँ सूर्य नहीं प्रकाशता), और इस प्रकार सूर्य आदि तेज के प्रकाश का जो प्रतिषेध किया है, वह अन्य तेजस्वी पदार्थों में भी जान लेना अर्थात् सूर्य के समान अन्य पदार्थों का भी प्रतिषेध किया

है ऐसा जानना । ब्रह्म में ही इन सब तेजों के प्रकाश का प्रतिषेध संभव है, क्योंकि जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब ब्रह्मज्योति से ही प्राप्त होता है, परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति किसी ज्योति से नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म स्वयं ज्योति रूप है, जिससे सूर्य आदि प्रकाशते हैं तथा जिसमें प्रकाशते हैं। ब्रह्म अन्य को प्रकट करता है परन्तु ब्रह्म अन्य वस्तु से प्रकट नहीं होता। श्रुति में कहा है कि 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' [बृह० ४ । ३ । ६] (आत्म रूपी ज्योति द्वारा ही यह बैठता है) 'अगृह्यो न हि गृह्यते' [बृह० ४ । २ । ४] (वह अगृह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता) ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

च और अपि [स्मृति में] भी स्मर्यते [इसी प्रकार] कहा जाता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में परमात्मा का ऐसा स्वरूप कहा है :— 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यग्दत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम ॥' [भग० गी० १५ । ६] (उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्र करता है, न अग्नि करता है, जिसको प्राप्त करके पुरुष पीछे नहीं लौटते वह मेरा परम धाम है) और 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ भग० गी० १५ । १२] (आदित्य में रहा हुआ जो तेज सब जगत् का प्रकाश करता है, जो तेज चन्द्र में है, जो अग्नि में है; उसे मेरा ही जान) ॥ २३ ॥

(७) प्रमिताधिकरण । सू० २४–२५

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

शब्दात् [ईशान] शब्द से **एव** ही **प्रमितः** [अंगुष्ठ] मात्र परिमाण वाला [पुरुष परमात्मा है जीव नहीं है]।

'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' [काठ० २।४।१२] (अंगुष्ठ मात्र पुरुष देह के मध्य में रहता है) ऐसी श्रुति हैं, और 'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवा धूमकः । इशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत् ॥' [काठ २ । ४ । १३] (अंगूठे के परिमाण वाला पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है, भूत और भविष्यत् का ईश है, वह यह ही है । वही काल है, वस्तुतः यह ही वह है) ऐसी भी श्रुति है । इसमें जो अंगुष्ठ मात्र पुरुष श्रुति ने कहा है, वह कौन है, विज्ञानात्मा है, अथवा परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है ।

प्रतिपक्षीः—परिमाण के कथन से विज्ञान आत्मा ही है, क्योंकि जिसकी लम्बाई और विस्तार अनन्त है ऐसे परमात्मा को अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला कहना युक्त नही है, किन्तु विज्ञानात्मा तो उपाधि युक्त होने से किसी कल्पना से अंगुष्ठ परिमाण वाला हो सकता है; और 'अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् । अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥' [महा भारत० ३ । २९७ । १७] (पीछे सत्यवान के शरीर में से पाश में बँधे हुए और वश में हुए अंगुष्ठ मात्र पुरुष को यम ने बल से खींच निकाला) इस स्मृति से भी ऐसा संभव है, क्योंकि परमेश्वर को यम बल से खींच नहीं सकता, इसलिये यहाँ अंगुष्ठ परिमाण वाला संसारी ही निश्चित होता है ।

सिद्धान्तीः—यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष परमात्मा ही होना चाहिये, क्योंकि 'ईशानो भूत भव्यस्य' (भूत और भव्य का ईश) इस शब्द से ऐसा ही सिद्ध होता है। वस्तुतः भूत और भव्य का निरंकुश नियन्ता परमेश्वर ही है, अन्य नहीं है। 'एतद्वै तत्' (वह यही है) यह वाक्य पहिले जो पूछा है उसका ही यहाँ पर संवन्ध है ऐसा दिखाता है अर्थात् जो ब्रह्म पूछा है, वह यह ही है, ऐसा अर्थ है। यहां ब्रह्म के विषय में इस प्रकार का प्रश्न हैः— 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' [काठ० १। २। १४] (धर्म से भिन्न अधर्म से भिन्न, इस कार्य और कारण से भिन्न, भूत और भविष्य से भिन्न जिसको तू देखता है, उसको कह)। शब्द से ही अर्थात् 'ईशान' (अधिकार चलाने वाला) इस प्रकार श्रुति के कहने से यह परमेश्वर ही है, ऐसा समझा जाता है, ऐसा इस सूत्र का अर्थ है॥ २४॥

सर्व व्यापक परमात्मा का परिमाण है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? इसके उत्तर में नीचे का सूत्र हैः—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥ २५

मनुष्याधिकारत्वात् मनुष्य को [शास्त्र का] अधिकार होने से तु और हृदि हृदय में अपेक्षया [परमात्मा की स्थिति की] अपेक्षा से [परमात्मा का अंगुष्ठमात्रत्व कहा है]।

परमेश्वर सर्व व्यापक है तो भी हृदय में उसकी स्थिति होने से वह अंगुष्ठ परिमाण वाला है, ऐसा कहा है। जैसे कि वांस की गांठ की अपेक्षा से आकाश हाथ भर लम्वा है ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः सब परिमाणों के उल्लंघन करने वाले परमेश्वर को अंगुष्ठ मात्र कहना युक्त नहीं है और परमेश्वर से अन्य

का ग्रहण करना भी युक्त नहीं है, ऐसा ईशान शब्द से और अन्य कारणों से कहा है। प्रत्येक प्राणी के हृदय का परिमाण भी एकसा नहीं होता, इसलिये हृदय परिमाण युक्त नहीं है, इसके उत्तर में सूत्र का उत्तर भाग कहते हैं कि 'मनुष्याधिकारत्वात्' (मनुष्य का अधिकार होने से)। यद्यपि शास्त्र की प्रवृत्ति सामान्य रीति से होती है तो भी शास्त्र में मनुष्यों का ही अधिकार है, क्योंकि वे ही शक्ति वाले और कामना युक्त हैं, उनके लिये निषेध नहीं है। और उपनयन आदि संस्कार उनके लिये लागू पड़ता है, इस प्रकार अधिकार लक्षण जैमिनि ने बताये हैं (जैमि० ६। १) और मनुष्य का देह निश्चित परिमाण वाला है, इसलिये उसका हृदय भी निश्चित परिमाण वाला अंगुष्ठ मात्र है यह युक्त है। इसलिये शास्त्र में मनुष्य का अधिकार है इसी कारण से मनुष्य के हृदय में स्थिति की अपेक्षा से परमात्मा अंगुष्ठ मात्र हैं, यह युक्त हैं। परिमाण के उपदेश से और स्मृति से यह अंगुष्ठ मात्र संसारी ही है, ऐसा समझना चाहिये, ऐसा जो कहा है, उसका खंडन इस प्रकार करना चाहिये :—'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है और वह तू है) इत्यादि के समान संसारी ही अंगुष्ठ मात्र होने पर भी परमात्मा है, ऐसा उपदेश किया है। वेदान्त वाक्यों की प्रवृत्ति दो प्रकार की है। वे किसी स्थान पर परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करते हैं और किसी स्थान पर विज्ञान आत्मा परमात्मा से अभिन्न है, ऐसा उपदेश करते हैं। इसलिये यहाँ विज्ञान आत्मा परमात्मा से अभिन्न है, ऐसा उपदेश है, कोई भी अंगुष्ठ मात्र है, ऐसा उपदेश नहीं है। यह ही अर्थ 'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादि वेषिकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्' [काठ०

२ । ६ । १७] (अंगुष्ट मात्र पुरुष, अन्तरात्मा, हमेशा मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है, उसको अपने शरीर में से धैर्य से पृथक् करे, जैसे मूंज में से तीली (सलाई) अलग की जाती है। उसी को शुद्ध और अमृत जाने) इस उत्तर वाक्य से प्रकट करते हैं ॥ २५ ॥

(८) देवताधिकरण । सू० २६-३३

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

सम्भवात् [सामर्थ्य के तथा मोक्ष की इच्छा के] सम्भव होने से तदुपरि उनके ऊपर [स्थित देवों का] अपि भी [विद्या में अधिकार है, ऐसा] बादरायणः श्री बादरायण [मानते हैं]

अंगुष्ठ मात्र श्रुति मनुष्य के हृदय के सम्बन्ध में है, क्योंकि शास्त्र के अधिकारी मनुष्य हैं, ऐसा कहा है। इसी के प्रसंग में आगे कहते है कि शास्त्र के अधिकारी मनुष्य हैं; यह कहना ठीक है, परन्तु ब्रह्म ज्ञान में ऐसा नियम नहीं है कि मनुष्य ही अधिकारी हों। देवादि जो मनुष्य से ऊपर हैं, वे भी शास्त्र के अधिकारी हैं, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं, क्योंकि कामना आदि अधिकार के कारण उनमें भी होने सम्भव हैं। प्रथम मोक्ष की कामना तो देवादि में भी हो सकती है, क्योंकि विकार, विषय और विभूति अनित्य हैं, इस विचार से मोक्ष की इच्छा उनको भी हो सकती है। इसी प्रकार देवताओं में सामर्थ्य भी हो सकता है, क्योंकि मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक के अनुभव से देवता शरीर वाले हैं इत्यादि समझा जाता है। उनके लिये कोई प्रतिषेध नहीं है और उपनयन शास्त्र से उनका अधिकार निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उपनयन वेद पढ़ने के लिये है और देवताओं को स्वयं ही वेद का प्रकाश होता है। और

'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' [छान्दो० ८। ११। ३] (इन्द्र प्रजापति के पास एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहा) 'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्म' [तैत्ति० ३। १] (वरुण का पुत्र भृगु नाम से प्रसिद्ध था। वह अपने पिता वरुण के पास गया और बोला, हे भगवन, मुझे ब्रह्म सिखाओ) इत्यादि श्रुति वाक्य विद्या ग्रहण करने के लिये देवताओं का ब्रह्मचर्य आदि दिखलाते हैं। कर्म के विषे उनके अनधिकार का कारण कहा है:—'न देवानां देवतान्तराभावात्' [जैमि० ६। १। ६] (देवताओं का कर्म में अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्य देवताओं का अभाव है) और 'न ऋषीणा] मार्षेयान्तराभावात् [जैमि० ६। १। ७] (ऋषियों का कर्म में अधिकार नहीं है क्योंकि दूसरा ऋषि समूह नहीं है) परन्तु विद्या के सम्वन्ध में देवताओं का अनधिकार नहीं है। विद्या में अधिकार वाले इन्द्र आदि को कोई भी कर्म इन्द्रादि को उद्देश करके नही करना होता है। इसी प्रकार भृगु आदि ऋषियों का भी भृगु आदि सगोत्र के उद्देश से कोई कृत्य नहीं होता, इसलिये देवताओं का विद्या में अधिकार है, इसमें कुछ रोक टोक नहीं है। देवता आदि के अधिकार में भी अंगुष्ठ मात्र श्रुति उनके अपने अंगुष्ठ के सम्वन्ध से विरुद्ध नहीं है ॥ २६ ॥

विरोधःकर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

कर्मणि [देवताओं को शरीर वाला मानने से] कर्म में विरोधः विरोध [आवेगा] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [विरोध] नहीं [आता] अनेक-प्रतिपत्तेः अनेक [शरीर की] प्राप्ति के दर्शनात् दर्शन से।

शंका:—यदि शरीरत्व आदि स्वीकार करने से देवताओं का अधिकार माना जाय तो शरीर वाले होने से ऋत्विक् आदि के समान इन्द्र आदि का भी स्वरूप होने से उनको कर्मांग भाव की प्राप्ति होनी चाहिये। ऐसा मानने से कर्म में विरोध आवेगा। वस्तुतः इन्द्रादिकों का स्वरूप के संनिधान से याग में अंग भाव नहीं दीखता और यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि बहुत से यागों में एक ही समय एक इन्द्र की स्वरूप सामीप्यता युक्त नहीं है।

समाधान:—इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यह विरोध इसलिये नहीं है कि अनेक प्रतिपत्ति हैं यानी अनेक शरीरों की प्राप्ति है। एक ही देवात्मा को एक ही समय अनेक स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है। यह किस प्रकार समझा जाय? इसका उत्तर यह कि दर्शन से, क्योंकि 'कति देवाः' [बृह० ३ । ९ । १] (देवता कितने हैं) इस प्रकार आरम्भ करके 'त्रयश्च त्रीचशता त्रयश्च त्रीच सहस्रा' [बृह० ३ । ९ । १] (तीन सौ तीन, तीन हजार तीन) ऐसा कहा है। जब यह प्रश्न किया कि 'कतमेते' [बृह० ३ । ९ । १] (ये कौन हैं) तब उत्तर दिया है कि 'महिमान एवेषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' [बृह० ३ । ९ । २] (यह उनकी महिमा है, देव तो तेतीस ही हैं) ऐसा कहने से श्रुति एक देवता के एक ही समय में अनेक रूप दिखलाती है। इसी प्रकार इन तेतीस देवताओं का छः आदि में क्रम से अन्तर्भाव दिखला कर और 'कतम एको देव इति प्राणः' [बृह० ३ । ९ । ९] (एक देव कौन? प्राण) इस प्रकार देवताओं का प्राण रूप एक स्वरूप दिखला कर श्रुति इस एक ही प्राण के एक ही समय में अनेक स्वरूप दिखलाती है। इसी प्रकार 'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं

तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥' (हे भरतर्षभ ! योगी वल प्राप्त करके अपने अनेक शरीर कर सकता है और उन सव से पृथिवी पर घूम सकता है। कई शरीरों से वह ही विषय प्राप्त करता है और कई शरीरों से उग्र तप करता है। और जैसे सूर्य किरणों को खींच लेता है इसी प्रकार वह शरीरों को खींच लेता है) इस प्रकार की स्मृति में भो जिन योगियों ने अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया है, उनका भी एक समय में अनेक शरीरों के साथ योग दिखलाती है, तो जन्म से सिद्ध देवताओं के विषय में कहना ही क्या है ? अनेक रूप की प्राप्ति के कारण एक देवता अनेक रूपों से अपने देह का विभाग करके वहुत से यागों में एक ही समय अंगभाव प्राप्त करता है। अन्तर्ध्यानादि क्रिया के योग से अन्य पुरुष उनको देख नहीं सकते। इसलिये देवताओं का विद्या में अधि-कार होना युक्त है। 'अनेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इसकी दूसरी व्याख्या यह है कि शरीर वालों की भी कर्मांग भावकी प्रेरणाओं में अनेक स्वरूप की प्राप्ति देखने में आती है। किसी समय तो एक शरीरी अनेक स्थानों पर एक समय अंग भाव नहीं पाता जैसे कि वहुत से भोजन करने वाले ब्राह्मणों में से एक ही समय एक ब्राह्मण को भोजन नहीं कराया जाता और किसी समय एक ही शरीरी एक समय में ही अनेक स्थानों पर अंग भाव पाता है। जैसे वहुत से नमस्कार करने वालों से एक ही समय एक ही ब्राह्मण को नमस्कार किया जाता है। इस प्रकार यहाँ यज्ञ में अमुक २ देवता के उद्देश से त्याग करना याग का स्वरूप होने से एक शरीरी ही देवता को उद्देश करके भी वहुत से लोग अपने अपने द्रव्य का एक ही समय में त्याग कर सकते हैं। इसलिये देवता शरीरी हैं तो भी कर्म के विषे कोई विरोध नही है ॥ २७ ॥

**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षा-
नुमानाभ्याम् ।। २८ ।।**

शब्दे शब्द में [विरोध आवेगा] इति ऐसा चेत् [कहो] तो [कहना चाहिये कि] अतः इससे (वैदिक शब्द से) प्रभवात् [देवादिक की] उत्पत्ति होने से न [वह शंका] नहीं [हो सकती] प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् प्रत्यक्ष और अनुमान से [शब्द से देवादिक की उत्पत्ति है, ऐसा सिद्ध होता है]

प्रतिपक्षीः— देवादिक शरीर वाले हैं, ऐसा मानने से कर्म में तो विरोध चाहे न आवे, परन्तु शब्द में विरोध आता है। यदि कोई पूछे कि क्या विरोध आता है तो उसका उत्तर यह है कि शब्द का अर्थ के साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध नित्य है ऐसा मानकर ही 'अनपेक्षत्वात्' [पू० मी० १ । १ । ५] (अपेक्षा न होने से) इस सूत्र से वेद को प्रमाण सिद्ध किया है। अब देव शरीर वाले होने से ऐश्वर्य के योग से एक ही समय अनेक यज्ञों के हविष का उपभोग करते हों, तो भी शरीर वाले होने के कारण देवताओं का भी हमारे समान जन्म मरण होना चाहिये। और इसलिये नित्य शब्द की नित्य अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध की प्रतीति होने के कारण वेद के शब्द में जो प्रामाण्य हैं उसका विरोध होता है।

सिद्धान्तीः—नही ! विरोध नहीं है, क्योंकि वैदिक शब्द में से देवादि रूप जगत् की उत्पत्ति होती है।

प्रतिपक्षीः— 'जन्माद्यस्य यतः' [ब्रह्म० १ । १ । २] इस सूत्र में ऐसा कहा है कि ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, फिर यहाँ पर ऐसा क्यों कहते हो कि शब्द में से जगत् उत्पन्न होता है।

यदि शब्द में से जगत् को उत्पत्ति मान भी ली जाय तो वेद में उलटा भाव क्यों दिखलाया है? वसु, रुद्र, आदित्य, विश्व देव और मरुत इत्यादि जितनी वस्तु हैं सब अनित्य हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार अनित्यत्व सिद्ध होने से उनके वाचक वैदिक वसु आदि शब्दों के अनित्यत्व को कौन निवारण कर सकेगा? लोक में प्रसिद्ध है कि देवदत्त के पुत्र उत्पन्न हुआ है और उसका नाम यज्ञदत्त रक्खा गया है। इस प्रकार शब्द में विरोध आता ही है।

सिद्धान्तीः—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि गौ आदि शब्द और उनके अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। गौ आदि व्यक्ति की उत्पत्ति होती है परन्तु उनकी आकृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म वाली व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, किंतु जाति की उत्पत्ति नहीं होती और शब्द का सम्बन्ध जाति के साथ होता है, व्यक्ति के साथ नहीं। व्यक्तियों की अनंतता है इसलिये उनके साथ शब्द के सम्बन्ध का ग्रहण करना योग्य नहीं है। व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु जातियाँ नित्य हैं; इसलिये गौ आदि शब्दों में किसी प्रकार का विरोध देखने में नहीं आता। यद्यपि देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानी जाती है तो भी उनकी जाति नित्य है इससे जानना चाहिये कि वसु आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं आता। देवादि की जाति विशेष मन्त्र और अर्थवाद द्वारा जानना चाहिये, क्योंकि जिनका शरीर होता है उनको ही ज्ञान हो सकता है। सेनापति आदि शब्दों के समान इन्द्र आदि शब्द स्थान के सम्बन्ध से हैं; जो जो इन्द्र आदि के स्थान पर आते हैं वे वे इन्द्र आदि शब्दों से पुकारे जाते हैं। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता। और जैसे ब्रह्म में से जो जगत की उत्पत्ति

उपादान कारण को लेकर कही है वैसे वेद में से जो जगत् की उत्पत्ति कही है, वह उपादान कारण को लेकर नहीं कही है। यदि कोई पूछे कि फिर कौन सा कारण लेकर उत्पत्ति कही है तो उसका उत्तर यह है कि नित्य अर्थ के सम्बन्ध वाला नित्य शब्द वाचक स्वरूप पहले से होता है पश्चात् शब्द के व्यवहार के योग्य अर्थ उत्पन्न होता है, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि शब्द में से उत्पत्ति हुई है। और यह जो कहा है कि शब्द में से जगत् की उत्पत्ति होती है यह किस प्रकार समझा जाय, उसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से शब्द से जगत् की उत्पत्ति समझी जाती है। यहाँ श्रुति प्रत्यक्ष रूप है, क्योंकि श्रुति के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। और स्मृति अनुमान रूप है, क्योंकि स्मृति के लिये श्रुति के प्रमाण की अपेक्षा है। श्रुति और स्मृति दोनों ही शब्द से सृष्टि होती है ऐसा निरूपण करती हैं। श्रुति में कहा है:—एते इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्या निन्दव इति पितृंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्या प्रजाः' (वस्तुतः 'एते' इस शब्द का स्मरण करके प्रजापति ने देवताओं को 'असृग्रम्' इस शब्द का स्मरण करके मनुष्यों को, 'इन्दवः' इस शब्द का स्मरण करके पितृओं को, 'तिरः पवित्रम्' इस पद का स्मरण करके ग्रहों को, 'आशवः' इस शब्द का स्मरण करके स्तोत्र को, 'विश्वानि' इस शब्द का स्मरण करके शस्त्र को और 'अभिसौभगा' इस शब्द का स्मरण करके अन्य प्रजा को उत्पन्न किया।) इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी कहा है:—'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' [बृह० १।२।४] (उसने मन और वाणी का मिथुन उत्पन्न किया) इससे ऐसा निश्चय होता है कि शब्द प्रथम है और

शब्द में यह सृष्टि है। स्मृति में भी कहा है:—'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥' (आरम्भ में स्वयभू ने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी को उत्पन्न किया जिसमें से सब प्रवृत्तियाँ हुई')। वाणी की इस उत्पत्ति को सम्प्रदाय का प्रवर्तक समझना चाहिये। क्योंकि अनादि और अनन्त वाणी की दूसरी प्रकार की उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार दूसरी स्मृति में भी कहा है:—'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥' [मनु० १।२१] (उस महेश्वर ने आरम्भ में वेद शब्दों से ही भूतों के नाम, रूप ओर कर्मों की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया) और 'सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥' (उसने आरम्भ में सबके पृथक् २ नाम, कर्म और पृथक् स्थिति ये सब वेद शब्दों से उत्पन्न किये)। यह बात हम सबको प्रत्यक्ष है कि जब हम किसी वस्तु को करना चाहते हैं तब हमको इसके बाचक शब्द का प्रथम स्मरण करना पड़ता है। इसी प्रकार ऐसा समझा जाता है कि स्रष्टा रूप प्रजापति के मन में भी सृष्टि से प्रथम वैदिक शब्द उत्पन्न होते हैं और पीछे शब्दों के अनुसार वह वस्तुओं को उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'सभूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' [तैत्ति० ब्रा० २।२।४।२] (उसने भूः ऐसा उच्चार किया, उसने भूमि उत्पन्न की) इत्यादि श्रुति ऐसा ही दिखलाती हैं कि मन में उत्पन्न हुए भूः आदि शब्दां से ही भूः आदि लोक उत्पन्न हुए हैं।

शंका:—किस प्रकार के स्वरूप वाले शब्द के उद्देश से शब्द में से इस जगत् की उत्पत्ति कही है?

प्रतिपक्षी :—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि 'स्फोट' को उद्देश करके कहा है (जिससे वर्णात्मक शब्द व्यक्त होता है ऐसे आदि शब्द को वैयाकरणी स्फोट कहते हैं), क्योंकि यदि शब्द से वर्ण माने तो वे उत्पत्ति तथा नाश वाले होंगे। इसलिये नित्य शब्द में से देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है यह युक्तियुक्त नहीं होगा। वर्ण उत्पन्न होने वाले और नाश होने वाले हैं, क्योंकि प्रति उच्चार के समय भिन्न २ प्रकार से प्रतीत होते हैं। जैसे कि यदि कोई पुरुष दीखता न भी हो तो भी उसके पढ़ने का शब्द सुनने से यह देवदत्त पढ़ता है, या यह यज्ञदत्त पढ़ता है, ऐसा अच्छी तरह समझ सकते हैं। वर्ण संबंधी यह भिन्न २ प्रतीति मिथ्या ज्ञान नहीं है, क्योंकि इस प्रतिति का बाध' करने वाली दूसरी प्रतीति है नहीं। वर्णों में से ही अर्थ की सिद्धि होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, यदि ऐसा हो तो व्यभिचार की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार वर्ण समुदाय से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वर्ण समुदाय का (एक साथ) अनुभव नहीं होता। वर्ण क्रम रखते हैं, यानी एक के पीछे एक आते हैं। यदि कहो कि पूर्व पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार सहित अन्त्य वर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है; तो यह कहना भी योग्य नही है। शब्द से अर्थ का ज्ञान होने के लिये अर्थ का शब्द से जो सम्बन्ध है उसके ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिये शब्द धूमादि के समान स्वयं ज्ञात होता है और बाद वह अर्थ की प्रतीति कराता है। परन्तु यहां तो पूर्व २ वर्ण के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार सहित पिछले वर्ण की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष होते हैं। यदि तुम ऐसा कहो कि संस्कारों के कार्य (स्मृति) से प्रतीत हुए संस्कारों के साथ

पिछला वर्ण अर्थ की प्रतीत करावेगा तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कारों के कार्य रूप स्मृति में भी क्रम देखने में आता है, इसलिये शब्द स्फोट ही है। एक एक वर्ण की प्रतीति द्वारा संस्कार रूप वीज डाला हुआ होता है और वह अन्य वर्ण की प्रतीति से परिपक्व (दृढ़) होकर एक ज्ञान के विषय रूप से बुद्धि में अनायास प्रकट होता है। यह एक प्रतोति वर्ण विषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होने से एक प्रतीति का विषय नहीं हो सकते। अब प्रत्येक शब्द के उच्चारण के समान स्फोट एक ही है ऐसी प्रतीति होने से वह नित्य है, भेद प्रतीति वर्णों की है। इसलिये नित्य और अर्थ के वाचक स्फोट से क्रिया, कारक और फल स्वरूप यह जगत् उत्पन्न होता है।

भगवान् उपवर्ष का मत है कि 'वर्ण एव तु शब्दः (वर्ण ही शब्द है)। यह जो कहा है कि वर्ण उत्पन्न होते ही नष्ट होते हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह वही वर्ण है ऐसा जाना जाता है। केशादि में जैसे सादृश्यता का ज्ञान होता है ऐसे ही इसमें भी सादृश्यता लेकर ज्ञान होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहां प्रत्यभिज्ञान यानो जाने हुए का अन्य प्रमाण से वाध नहीं होता। यदि ऐसा कहोगे कि प्रत्यभिज्ञान जाति से होता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान व्यक्ति द्वारा होता है। वात तो यह है कि बोलते समय जव गौ आदि व्यक्तियों के समान ही अन्य २ वर्ण व्यक्तियों की प्रतीति होती तो प्रत्यभिज्ञान का हेतु जाति हो सकती। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि बोलते समय ही वर्ण व्यक्तियों का ज्ञान होता है। दो वार गौ शब्द बोलने से कहीं दो गौ शब्द की प्रतीत नहीं होती। यह पहले ही कह चुके हैं कि वोलने के भेद से वर्णों की भिन्न

प्रतीति होती है, जैसे कि देवदत्त और यज्ञदत्त उन दोनों के पढ़ने की ध्वनि के सुनने से ही भिन्नता की प्रतीति होती है।

सिद्धान्ती:—वर्ण सम्बन्धी ज्ञान का निश्चय तब होता है जब वर्ण (तालू आदि स्थानों के) संयोग तथा विभाग से प्रकट होते हैं। इसलिये जो वर्ण विषयक भिन्न प्रतीति होती है उसका हेतु अभिव्यंजक वस्तुओं की (संयोग विभाग की) विचित्रता है स्वरूप से विचित्र प्रतीति नहीं। वर्णों की व्यक्ति-भिन्नता मानने वालों को भी ज्ञान की सिद्ध होने के लिये वर्ण की जाति माननी ही पड़ती है। वर्ण व्यक्ति में जो भिन्नता की प्रतीति होती है वह परोपाधिरूप यानी अन्य उपाधि के निमित्त है यह भी मानना पड़ता है। इससे ऐसी कल्पना करना ही ठीक है कि वर्ण व्यक्ति में भिन्नता की प्रतीति अन्य उपाधि से होती है और उनका ज्ञान स्वरूप से ही होता है, क्योंकि इसमें कल्पनालाघव है। जो प्रत्यभिज्ञान है वह वर्ण सम्बन्धी भेद प्रतीति को बाध करने वाली प्रतीति है। एक ही समय में अनेक वर्णों का उच्चार होने से एक गकार एक ही समय में अनेक रूप वाला, जैसे कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक तथा निरनुनासिक किस प्रकार हो? इस प्रकार की प्रतीति ध्वनि के भेद से होती है, वर्ण से नहीं होती, इसलिये दोष नहीं है। यह ध्वनि क्या है? दूर से सुनने वाले मनुष्य को वर्ण तो जानने में न आवे, परन्तु कान के मार्ग में जो वस्तु पहुँचे, वह ध्वनि है। पास जाने पर यह पटु (तीव्र) है, मृदु है, इत्यादि धर्मों का उसमें आरोप होता है और उसीसे उदात्त आदि भेद की प्रतीति होती है, वर्णों के स्वरूप भेद से नहीं, क्योंकि वर्णों के उच्चारण के समय ही उनका प्रत्यभिज्ञान यानी भिन्न भिन्न प्रतीति होती है, और इस प्रकार मानने से ही

उदात्त आदि प्रतीतियाँ आधार युक्त होंगी। अन्यथा जानने में आये हुए वर्णों में भेद न होने से उदात्तादि विशेष की कल्पना संयोग तथा विभागजन्य है, ऐसा मानना पड़ेगा। संयोग तथा विभाग प्रत्यक्ष रूप से हैं नहीं, इसलिये उनके आश्रय रहा हुआ भेद भी नहीं हो सकता इसलिए उदात्तादि प्रतीतियाँ निराधार माननी पड़ेंगी। वैसे ही यद्यपि वर्णों की भिन्न प्रतीति होती है तो भी उदात्त आदि भिन्न २ होने से वर्णों का भेद प्रतीत होगा ऐसा आग्रह नहीं कर सकते; क्योंकि अन्य के भेद से अन्य भेद रहित का भेद मानना ठीक नही है। व्यक्ति का भेद होने से जाति भिन्न है, ऐसा नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त, वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति होनी सम्भव हैं, इसलिये स्फोट की कल्पना प्रयोजन रहित है। यदि ऐसा कहोगे कि मैं स्फोट को कल्पना रूप नहीं जानता किन्तु प्रत्यक्ष रूप जानता हूँ क्योंकि प्रत्येक वर्ण को ग्रहण करने से जो बुद्धि संस्कार वाली हुई है उसमें झट स्फोट उत्पन्न होता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम प्रत्येक वर्ण का ग्रहण होता है और पीछे गौ (गाय) इन समस्त वर्णों में यह एक गाय है, ऐसी बुद्धि होती है, अन्य (स्फोट नामक) किसी वस्तु में यह बुद्धि नहीं होती। यह बात किस प्रकार जानी जाय, ऐसा यदि कहो तो ऐसे जानने का कारण यह है कि इस बुद्धि में गकारादि वर्णों का भान होता है दकारादि वर्णों का भान नहीं होता। यदि गकारादि से भिन्न अर्थ यानी स्फोट बुद्धि का विषय होता तो दकारादि के समान गकारादि भी इस बुद्धि में नहीं जानने में आते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये इस वर्ण सम्बन्धी एक बुद्धि का होने का नाम स्मृति है।

यदि कहो कि वर्ण अनेक हैं इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि

वे एक बुद्धि का विषय नहीं हो सकते, तो उसका उत्तर यह है कि अनेक पदार्थ भी एक बुद्धि का विषय हो सकते हैं, क्योंकि 'पंक्ति', 'वन', 'सेना', 'दश', 'शत', 'सहस्त्र', इत्यादि में ऐसा देखने में आता है। गौ (गाय) यह एक शब्द है, ऐसी जो बुद्धि है वह उपचार वाली (गौण) है और बहुत से वर्णों में भी एक ही अर्थ का निश्चय होता है इसी वात पर निर्भर है, जैसे कि वन, सेना आदि में होता है।

प्रतिपक्षीः—यदि सब वर्ण मिलकर ही एक बुद्धि का विषय होकर पद बनता हो तो जारा, राजा, कपि, पिक इत्यादि में भिन्न २ पद की प्रतीति न होनी चाहिये, क्योंकि दोनों स्थानों पर एक ही वर्ण का भास होता हैं।

सिद्धान्तीः—यद्यपि समस्त वर्णों का भान होता है तो भी जिस प्रकार चींटियों में पंक्ति की प्रतीति क्रम के अनुसार ही होती है, इसी प्रकार क्रम में रहने वाले वर्णों में ही पद की बुद्धि होती है यानी पद समझा जाता है। ऊपर के पदों के वर्णो में भेद नहीं है तो भी भिन्न २ क्रम से वने हुए होने के कारण उनसे भिन्न २ पद की प्रतीति होना विरुद्ध नहीं हैं। वृद्ध पुरुषों के व्यवहार से क्रम द्वारा ही वर्णों का भिन्न २ अर्थ के साथ सम्बन्ध ग्रहण करने में आता है, इसलिये हमारे व्यवहार में भी एक एक वर्ण के ग्रहण करने के वाद सबका मेल करने वाली बुद्धि में इस प्रकार का भास होता है, फिर भिन्न २ अर्थ की व्यभिचार रहित प्रतीति होती है। इसलिये वर्णवादी की कल्पना लघुतर है। स्फोटवादी के मत में दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना के दोष आते हैं, यानी जिस वर्ण का अर्थ जानने में आ गया हो उस वर्ण का नाश हो जाता है और जिस वर्ण का ज्ञान नहीं हुआ होता तो उस वर्ण की कल्पना करने में आती है। वर्णों को क्रम

से ग्रहण करने से स्फोट की प्रतीति होती है और स्फोट से अर्थ की प्रतीति होती है, इस प्रकार यह कल्पना गुरुतर है। यद्यपि उच्चार करते समय वर्ण भिन्न २ होते है तो भी ज्ञान के आधार से वर्ण की सामान्यता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। वर्ण सम्बन्ध में अर्थ के प्रतिपादन करने की जो क्रिया देखने में आती है वह ही क्रिया वर्णों और जाति में भी जाननी चाहिये। इस-लिये नित्य शब्द में से देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति है, ऐसा कहने में विरोध नहीं आता ॥ २८ ॥

अतएव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

च और अतएव इससे ही (देवादि की वेद शब्द से उत्पत्ति होने से ही) नित्यत्वम् [वेद का] नित्यत्व [है]।

स्वतन्त्र कर्ता का अभाव है, इस कारण से ही वेद नित्य हैं ऐसा जो (पूर्व मीमांसा में ही) सिद्ध किया है उसका देव आदि को उत्पत्ति से विरोध आता है ऐसी शंका करके उसका 'अतः प्रभावात्' [सू० २८] इस सूत्र से परिहार किया है। 'अतएव च नित्यत्वम्' यह सूत्र वेद नित्य है इसी बात को दृढ़ करता है। इसी कारण नियत जाति वाले देवादि रूप जगत् की वेद शब्द में से उत्पत्ति है इससे वेद शब्द में नित्यता की प्रतीति होती है। मंत्र वर्ण में कहा है:—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' [ऋ० १० । ७१ । ३] (यज्ञ द्वारा वाणी के ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त की, ऋषियों में रही हुई उस वाणी को अपने में ग्रहण किया) यह मंत्र दिखलाता हैं कि पूर्व से स्थित वाणी ही प्राप्त की गई है। और वेद व्यास ने भी स्मृति में कहा है:—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥' (प्रलयकाल

में इतिहासों सहित अंतर्धान हुए वेदों को सृष्टि के आदि काल में ब्रह्मा की आज्ञा पाये हुए महर्षियों ने तप द्वारा प्राप्त किया) ॥ २६ ॥

समाननामरूपत्वच्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो
दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

दर्शनात् श्रुति से च और स्मृतेः स्मृति से आवृत्तौ आवृत्ति में (वारम्वार की महाप्रलय और महा सृष्टि में) अपि भी समाननामरूपत्वात् समान नाम रूपता से अविरोधः [शव्द प्रामाण्य में] अविरोध च ही [है]।

प्रतिपक्षीः—यदि पशु, पक्षी आदि व्यक्तियों के समान देवादि व्यक्तियों की भी उत्पत्ति और लय हमेशा होता हो तो 'यह अभिधान (नाम) अभिधेय (जिसका नाम रखना हो) है और यह अभिधाता (नाम लेने वाला) है' इस प्रकार के व्यवहार का नाश नहीं होगा और इस प्रकार (शव्द और अर्थ का) सम्वन्ध नित्य रहने से शव्द में विरोध का परिहार होता है। परन्तु जव 'सव तीनों लोक नाम और रूप को त्याग कर निर्लेप व चिह्न रहित हो जाते हैं और पीछे नये रूप में उत्पन्न होते है,' ऐसा श्रुति और स्मृति का कहना है तो यहाँ विरोध नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ?

सिद्धान्तीः—इस शंका के उत्तर में 'समान नाम रूपत्वात्' इत्यादि सूत्र कहा है। यद्यपि नाम तथा रूपादि अनित्य हैं तो भी संसार अनादि ही है। व्यास भगवान् ने संसार का अनादित्व स्वीकार करने को नीचे का सूत्र लिखा है:—'उपपद्यतेचाप्युपलभ्यतेच' [ब्रह्म० २ । १ । ३६] (संसार का अनादित्व युक्ति से सिद्ध है और ऐसा श्रुति कथन भी मिलता है)। इस अनादि

संसार में जिस प्रकार जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था हैं उसी प्रकार उत्पत्ति और प्रलय हैं, ऐसा श्रुति कहती है। जैसे पूर्व जाग्रत अवस्था में जिस प्रकार का ज्ञान होता है इसी प्रकार का ज्ञान दूसरी जाग्रत अवस्था में होता है, व्यवहार में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता; इसी प्रकार पहिले और पिछले कल्प की उत्पत्ति और लय में व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, ऐसा समझना चाहिये। सुषुप्ति और जाग्रत अवस्था में प्रलय और उत्पत्ति होती हैं; ऐसा श्रुति कहती हैं। जैसे कि 'यदा सुप्तःस्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रंशब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानै सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलितः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' [कौ० ३ । ३ ।] (जब सोता हुआ पुरुष कोई भी स्वप्न नहीं देखता तब वह इस प्राण में एकमेक हो जाता है। तब वाचा सब नामों के साथ उसमें लीन हो जाती है, नेत्र सब रूप सहित उसमें लीन हो जाता हैं, कर्ण सब शब्दों सहित उसमें लीन हो जाता है, मन सब ध्यान सहित उसमें लीन हो जाता है। जब वह जागता है तब जलते हुए अग्नि में से जिस प्रकार चिनगारियाँ सब दिशाओं में जाती हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में से प्राण योग्य स्थानों पर जाते हैं, प्राणों के पीछे देव और देवताओं के पीछे लोक।)

प्रतिपक्षीः—सुषुप्ति में अन्य पुरुष के व्यवहार का नाश नहीं होता और आप जब सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत अवस्था में आता है तब पूर्व की जाग्रत अवस्था के व्यवहार के अनुसंधान का

संभव होता है, यह तो किसी प्रकार अयुक्त नहीं है। परंतु जब महाप्रलय होता है तब सब प्रकार के व्यवहार का नाश हो जाता है इसलिये दूसरे जन्म के व्यवहार के समान दूसरे कल्प के व्यवहार का अनुसंधान नहीं होने से इसमें विषमता का दोष आता है यानो दृष्टान्त और दार्ष्टान्त विषम है।

सिद्धान्ती:—नहीं, यह दोष नहीं है। यद्यपि महाप्रलय में सब व्यवहार का नाश हो जाता है तो भी परमेश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भादि ईश्वरों में दूसरे कल्प के व्यवहार का अनुसंधान बना रहता है। यद्यपि सामान्य प्राणियों में दूसरे जन्म के व्यवहार का अनुसंधान देखने में नहीं आता तो भी सामान्य प्राणियों के समान समर्थ पुरुषों के लिये ऐसा नियम नहीं है। यद्यपि मनुष्य से लेकर स्तंभ पर्यन्त में प्राणित्व समान है तो भी ज्ञान और ऐश्वर्य आदि का प्रभाव क्रम से कम होता हुआ देखने में आता है और इस प्रकार मनुष्यादि से लेकर हिरण्यगर्भ तक ज्ञान तथा ऐश्वर्य का प्रकाश उतरोत्तर बढ़ता जाता है। इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति में वारंवार कहा है इसलिये उसको अस्वीकार नहीं कर सकते। पिछले कल्प में जिनके ज्ञान और कर्म उत्कृष्ट हैं और वर्तमान कल्प के आदि में जिनकी उत्पत्ति हुई है ऐसे हिरण्यगर्भादि ईश्वरों को परमेश्वर के अनुग्रह से, सुषुप्ति में से जाग्रत हुए पुरुष के समान अन्य कल्प के व्यवहार का ज्ञान बना रहता है। श्रुति में भी कहा है:-'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' [श्वेता० । ६ । १८] (पूर्व में जो ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उसे वेदों को देता है, मैं मुमुक्षु आत्माकार बुद्धि में प्रकाश करने वाले उस देव के शरण में जाता हूँ) और स्मृति में कहा है:—'मधुच्छन्दः प्रभृतिभिर्ऋ-

षिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' (मधुच्छन्द आदि ऋषियों ने दश मंडल की ऋचायें देखीं) । प्रत्येक वेद में भी इसी प्रकार काण्ड के द्रष्टा ऋषि आठ होते हैं ऐसा स्मृति कथन है । श्रुति नीचे के मन्त्र द्वारा ऋषियों के ज्ञान के पीछे अनुष्ठान का निरूपण करती है, 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा प्रतिपद्यते' (ऋषि छन्द, दैवत और विनियोग जिसके जाने हुए नहीं हैं ऐसा जो मनुष्य मंत्र द्वारा यज्ञ कराता है अथवा अध्ययन कराता है वह स्थावरत्व—जड़त्व को प्राप्त होता है अथवा नरक को प्राप्त होता है) इस प्रकार उपक्रम करके पीछे कहा है कि 'तस्मादेतानिमन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' (इसलिये प्रत्येक मन्त्र के छन्द आदि जानने चाहिये) । प्राणियों के सुख के निमित्त धर्म का विधान हैं और दुःख के नाश के लिये अधर्म का प्रतिषेध है । देखने में तथा सुनने में आये हुए सुख दुःख के विषय में राग द्वेष होता है, परन्तु इससे भिन्न विषय में राग तथा द्वेष नहीं होता । धर्म और अधर्म के फल द्वारा जो उत्तर सृष्टि उत्पन्न होती है वह पूर्व की सृष्टि के समान ही होती है । स्मृति में भी कहा है कि 'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे । तान्ये वते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ हिंस्राहिंस्रे मृदु क्रूरे धर्माधर्मावृतानृते । तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' (उनमें जो पूर्व सृष्टिमें जिन कर्मों को करते है, उन्हीं कर्मों को वे वारंवार उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं । वे कर्म हिंसा करने वाले अथवा हिंसा से रहित हों, दया युक्त हों, अथवा क्रूरता युक्त हों, धर्म युक्त हों अथवा अधर्म युक्त हों, सत्य रूप हों अथवा असत्य रूप हों, इस प्रकार के कर्मों को वे उत्पन्न होकर प्राप्त होते हैं, इसलिये उन कर्मो पर उनका प्रेम रहता है) । संसार,

का प्रलय होते हुए भी उसकी संस्कार रूप शक्तियों का नाश नहीं होता। संस्कार रूप जो मूल शक्ति रहती है, उससे जगत् की फिर उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो आकस्मिक रीति से जगत् के उत्पन्न होने का प्रसंग आवे और ऐसा मानना योग्य नहीं है कि शक्तियों के अनेक आकार हैं। इसलिये नाश हो हो कर फिर उत्पन्न होने वाले भू आदि लोक प्रवाह, देवत्व, पशुत्व और मनुष्यत्व लक्षण वाले प्राणियों का प्रवाह, वर्ण, आश्रम, धर्म और फल की व्यवस्थायें भी अनादि संसार में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध के समान निश्चित हैं, ऐसा मानना युक्त है। क्योंकि इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से होने वाले व्यवहार प्रत्येक सृष्टि में भिन्न २ हैं, और छठी इन्द्रिय और छठा विषय भी कोई है, ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। इसलिये सब कल्पों में समान व्यवहार होने से और अन्य कल्प के व्यवहार का अनुसन्धान होने से प्रत्येक सृष्टि में ईश्वरों के समान नाम और रूप वाली भिन्न २ व्यक्तियां उत्पन्न होती हैं। नाम और रूप सर्वत्र समान होने से महासृष्टि और महाप्रलय स्वरूप जगत् की आवृति स्वीकार करने में भी शब्दप्रामाण्य आदि का भी कोई विरोध नहीं होता। श्रुति और स्मृति समान नाम और रूप दर्शाती हैं। श्रुति यह है:—'सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः ॥' [ऋ० सं० १०। १९०। ३] पूर्व के समान धाता ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अंतरिक्ष और स्वर्ग उत्पन्न किये)। जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न किये थे उसी प्रकार इस कल्प में भी परमेश्वरने उत्पन्न किये, ऐसा भावार्थ है। इसी प्रकार 'अग्निर्वा अकामयत। अन्नादो देवानां स्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' [तै० ब्रा०

३।१।४।१] मैं देवताओं का अन्नभक्षक होऊं, इस प्रकार अग्नि ने कामना की। उस कृत्तिका के अभिमानी देव अग्नि के लिये आठ कपाल में तैयार करने में आया हुआ हवि अर्पण किया)। इस प्रकार नक्षत्रयज्ञ विधि में जिन अग्नियों ने जिन अग्नियों के अर्पण किया उन दोनों के नाम और रूप समान दिखलाने वाली अन्य अनेक श्रुतियां उदाहरण रूप हैं। स्मृति में भी कहा है:—'ऋषिणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्योददात्यजः॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह। देवादेवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेवच' (ऋषियों के जो नाम हैं और उनका वेद का जो ज्ञान है उसे ही प्रलय के अन्त में उत्पन्न होने पर ब्रह्मा उनको दे देता है। जिस प्रकार एक ऋतु के अनेक स्वरूप वाले चिह्न होते हैं, और उसके वे ही चिह्न उसी ऋतु में फिर देखने में आते हैं, उसी प्रकार युगादि की उत्पत्तियां हैं। जिन जिन के जो जो अभिमानी देव होते हैं वे ही देव वर्तमान देवों के साथ नाम तथा रूप से समान होते हैं) इस प्रकार की स्मृतियां उदाहरण के लिये ग्रहण करनी चाहिये॥ ३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः॥ ३१॥

मध्वादिषु मधु आदि [विद्या] में असम्भवात् [देवादि को अधिकार का] असंभव होने से अनधिकारं [ब्रह्मविद्या में देवादि के] अनधिकार का भाव जैमिनिः जैमिनि [आचार्य मानते हैं]।

यहां पूर्व में जो प्रतिज्ञा की थी कि देवादि का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, उसका फिर विचार करते हैं।

प्रतिपक्षीः—जैमिनि आचार्य ऐसा मानते हैं कि देवादि को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है, क्योंकि मधु आदि विद्या में भी देवों को अधिकार नहीं है। ब्रह्मविद्या और मधु विद्या दोनों एक सी हैं। जब ब्रह्मविद्या में देवादि का अधिकार मानेंगे तो यह भी मानना पड़ेगा कि मधु विद्या में भी उनका अधिकार है। परन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो देवमधु' [छान्दो० ३।१।१] (वस्तुतः यह आदित्य देवों का मधु है), इसमें ऐसा कहा है कि मनुष्यों को आदित्य की मधु के अध्यास से उपासना करनी चाहिये। यदि देवादि को उपासक मानें तो ऐसा प्रश्न होता है कि क्या आदित्य आदित्य की उपासना करे ? आदित्य के आश्रयवाली पांच रोहितादि किरणें अमृत रूप हैं और वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत तथा साध्य ये पांच देव अमृतरूप किरणों का क्रम से उपभोग करते हैं। श्रुति में उपदेश है कि 'स य एतदेवामृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' (जो इसको ही अमृत जानता है, वह वसुओं में का एक होकर अग्नि रूप मुख से इस अमृत का दर्शन करके तृप्त होता है) इस प्रकार यह श्रुति वसु आदि से उपभोग करने योग्य जानने वालों को वसु आदि की महिमा की प्राप्ति होती है, ऐसा सूचित करती है। परन्तु वसु आदि क्या अमृत का उपभोग करने वाले किसी दूसरे वसु आदि को जानें अथवा किसी अन्य वसु आदि की महिमा को प्राप्त करने की इच्छा करें ? इसी प्रकार 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' [छान्दो० ३।१८।२] (अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशा पाद है), 'वायुर्वाव संवर्गः' [छान्दो० ४।३।१] (वस्तुतः वायु संवर्ग है) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छान्दो ३।१९।१] (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इत्यादि देवता संबंधी उपासनाओं में उन्हीं देवों का अधिकार नहीं हो सकता। इसी प्रकार

'इमामेव गोतम भरद्वाजा वयमेव गोतामोऽयं भरद्वाजः' [बृह० २।२।४] (यह ही गोतम भरद्वाज है, यह ही गोतम यह ही भरद्वाज है) इत्यादि ऋषि सम्बन्धी उपासनाओं में उन्हीं ऋषियों का अधिकार नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

देवादि को ब्रह्मविद्या का अधिकार न होने के लिये और क्या प्रमाण है ?

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२॥

च और ज्योतिषि ज्योति में भावात् [प्रयोग के] होने से [शरीर रहित देवादि के अधिकार का अभाव है]।

स्वर्गलोक में रहा हुआ जो यह ज्योति मण्डल दिन रात घूमता हुआ जगत् को प्रकाशता है, उसके लिये आदित्य आदि देवता वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार लोक में प्रसिद्धि है और श्रुति वाक्य में भी प्रसिद्धि है। हृदय आदि शरीर के साथ, चेतन के साथ अथवा कामना के साथ ज्योति मण्डल का सम्बन्ध दिखाना अशक्य है, क्योंकि मृत्तिका आदि के समान उनमें जड़त्व है। इसलिये ऐसा सूचन होता है कि अग्नि, भूमि आदि जैसे जड़ है वैसे ही आदित्य भी जड़ हैं। यदि कहो कि मन्त्र. अर्थवाद, इतिहास, पुराण तथा लोक व्यवहार से देवतादि के शरीर होते हैं, ऐसा जानने में आता है इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि लोक प्रमाण स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। जिनमें विशेष विचारने में नहीं आया ऐसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोक में प्रसिद्ध होता है, ऐसा कहा जाता है। यहाँ प्रत्यक्षादि का कोई एक भी प्रमाण नहीं है। इतिहास और पुराण भी पुरुष के बनाये हुए होने से अन्य प्रमाण की आवश्यकता रखते हैं। अर्थवाद भी

विधि वाक्य के साथ मिलते जुलते होने से स्तुति के लिये हैं। इसलिये अर्थवादों का तात्पर्य भिन्न होने से देवादि के शरीरादि के भाव में उनका कारणत्व देखने में नहीं आता। मंत्र आदि भी श्रुति आदि से जुड़े हुए हैं, वे प्रयोग के साथ सम्वन्ध रखने वाले हैं, इसलिये मन्त्र भी किसी अर्थ में प्रमाण रूप नहीं हैं, ऐसा मीमांसकों का कहना है, इसलिये देवादि का ब्रह्म विद्या के सम्वन्ध में अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

ऊपर के दो सूत्रों में किये हुए आक्षेप का नीचे के सूत्र से समाधान करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तु परन्तु भावं [ब्रह्म विद्या में देवादि के अधिकार के] भाव को बादरायणः वादरायण [आचार्य मानते हैं] अस्ति [और देव शरीरधारी] हैं [यह वात] हि [शास्त्र में] प्रसिद्ध है।

यहाँ जो तु शव्द है, वह यह सूचित करने के लिये है कि ऊपर का आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ का भेद है। बादरायण आचार्य ऐसा मानते हैं कि देवादि का ब्रह्म विद्या में अधिकार है। यद्यपि देवता आदि का मधु आदि विद्या में अन्तर्भाव होने से उनमें देवों का अधिकार नहीं वन सकता, परन्तु शुद्ध ब्रह्म विद्या में हो सकता है, क्योंकि अधिकार के सम्वन्ध में अर्थीत्व, सामर्थ्य और विधि आदि की आवश्यकता होती है। एक विषय में अधिकार का असम्भव हो तो जहाँ सम्भव हो वहाँ भी अधिकार का असम्भव मानना ठीक नहीं है। मनुष्यों में भीं सव ब्राह्मणों को सब यज्ञ करने का अधिकार है, तो भी राजसूय यज्ञ करने का ब्राह्मणों को भी अधिकार नहीं है। इसी

प्रकार का न्याय यहाँ भी समझना चाहिये। ब्रह्मविद्या में देवों का अधिकार है ऐसा निरूपण करने वाले वचन श्रुति और स्मृति दोनों में हैं। श्रुति में कहा है:—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां।' [बृह० १।४।१०] (देवों में जिस जिसको ब्रह्मज्ञान हुआ, वह वह ब्रह्म रूप हुआ इसी प्रकार ऋषियों में तथा मनुष्यों में)। और कहा है:— 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्।' [छान्दो० ८।७।२] (देव और असुरों ने कहा कि जिस आत्मा को जानने से सब लोक तथा सब कामनायें प्राप्त होती हैं, उसको हम खोजेंगे। इसके बाद देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन प्रजापति के पास गये)। इस प्रकार श्रुति में देखने में आता है और स्मृति में भी गन्धर्व और याज्ञवल्क्य के सम्वाद में यही तात्पर्य दिखलाया है।

'ज्योतिषि भावाच्च' [सू० ३२] (और ज्योति में प्रयोग है) इस सूत्र में जो ऐसा कहा है कि देवताओं को अधिकार नहीं है, इसके समाधान में हमारा यह कहना है कि ज्योति आदि के अर्थ वाले आदित्यादि देवता वाचक शब्द चेतना वाले तथा ऐश्वर्य आदि वाले उन २ देवताओं का निरूपण करते हैं, क्योंकि मन्त्र तथा अर्थवाद आदि में इसी अर्थ में उनका प्रयोग है। देवताओं में इस प्रकार का ऐश्वर्य रहा हुआ है कि यद्यपि वे ज्योतिर्मय स्वरूप वाले होते हैं तो भी वे स्वेच्छानुसार भिन्न २ स्वरूप धारण कर सकते हैं, इस प्रकार उनमें सामर्थ्य है। सुब्रह्मण्य अर्थवाद में 'मेधातिथेर्मेष' (हे मेधातिथी के मेष,) इत्यादि वाक्य में ऐसा ही कहा है, जैसे कि 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार।' [षड्विंश० ब्रा० १।१] (इन्द्र ने मेष बनकर

कण्व के पुत्र मेधातिथिको हरण किया) और स्मृति में भी ऐसा ही कहा है :—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' (आदित्य पुरुष होकर कुन्ती के पास गया)। मृत्तिका आदि में चेतन अधिष्ठाता माना है, क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली), 'आपोऽब्रुवन्' (जल बोला)। आदित्य आदि में ज्योति आदि भौतिक वस्तु को तो अचेतन माना है, परन्तु अधिष्ठाता देवतात्मा तो चेतन है, यह मन्त्र अर्थवाद आदिके व्यवहारसे सिद्ध होता है। और ऐसा जो कहा है कि मन्त्र और अर्थवाद का विषय भिन्नहोनेसे देवताओं के विग्रह आदि रूप से प्रकट होने की सामर्थ्य नहीं है, इसका उत्तर यह है कि सद्भाव अथवा असद्भाव का कारण प्रतीति और अप्रतीति है, भिन्न विषय या अभिन्न विषय कारण नहीं है, जैसे कि किसी अन्य अर्थ के लिये निकला हुआ पुरुष मार्ग में पड़े हुए तृण, पत्ते आदि को भी देखता है।

शंका:—यह दृष्टांत विषम है, क्योंकि इस दृष्टांत में तो तृण, पत्ते आदि विषय प्रत्यक्ष होते हैं इसलिये उनके अस्तित्व का प्रतिपादन होता है, परन्तु यहाँ तो अर्थवाद विधि वचन के साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिये उसका विषय स्तुति होने से उसकी प्रवृत्ति किसी भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करने की है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते। महावाक्य जिस विषय की प्रतीत कराता है उससे भिन्न अर्थ की प्रतीति अवांतर वाक्य नहीं करा सक्ता। जैसे कि 'न सुरांपिवेत्' (मदिरा न पिये) इस नकार वाले वाक्य में तीन पदों के सम्बन्ध से मदिरा पान का प्रतिषेध इसी एक ही अर्थ से प्रतीत होता है, परन्तु 'सुरांपिवेत्' (मदिरा पिये), इन दो पदों के सम्बन्ध से मदिरा पान की विधि भी प्रतीत होती है, ऐसा नहीं कह सकते।

इसका उत्तर यह है कि यह दृष्टांत विषम है, क्योंकि मदिरा पान के प्रतिषेध में पद तथा अन्वय का एकत्व होने से भिन्न वाक्य का ग्रहण करना ठीक नहीं है, परन्तु विधि वाक्य और अर्थवाद में रहे हुए पद तो भिन्न अर्थ में पृथक् अन्वय पाकर प्रथम एक विषय का प्रतिपादन करते हैं पश्चात् उसका प्रयोजन दिखलाने के लिये विधि वाक्य की स्तुति करते हैं। जैसे कि 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (ऐश्वर्य की कामना वाले को वायु देव के हेतु श्वेत प्राणी का वलिदान करना चाहिये)। इसमें 'वायव्यं' आदि विधि-वाक्य-वर्ती पदों का विधि के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' (वस्तुतः वायु सब से चपल देव है, यह वायुदेव अपने भाग को अन्य वायु के पास पहुँचाता है और वह वायु ही बलिदान देने वाले को ऐश्वर्य देता है) इस अर्थवाद में रहे हुए पदों का विधि के साथ सम्बन्ध नहीं है। यहां वायु को वलि देना चाहिये अथवा शीघ्र गति वाले देव को वलि देना चाहिये इस प्रकार वायु अथवा गति वाले देव का विधि के साथ सम्बन्ध नहीं है। वायु के स्वभावका निरूपण करके पीछे अन्वय करके इस प्रकार के विशिष्ट देवता का यह कर्म है, इस प्रकार यहां विधि की स्तुति की है; जहां दूसरे वाक्य का अर्थ अन्य प्रमाण का विषय रूप होता है वहां अनुवाद द्वारा अर्थवाद की प्रवृत्ति होती है, परन्तु जहां अन्य प्रमाण से विरुद्ध होता है वहां गुणवाद की प्रवृत्ति होती है। परन्तु अर्थवाद अथवा गुणवाद इन दोनों में से जहां एक की भी प्रवृत्ति नहीं होती वहां किसी दूसरे प्रमाण के अभाव के कारण उसको गुणवाद मानें अथवा अन्य प्रमाण के साथ समानता होने के कारण विद्यमान वाद मानें, ऐसा संशय होता है। ऐसे प्रसंग पर

बुद्धिमान पुरुष को विद्यमान वाद ही का आश्रय लेना चाहिये, गुणवाद का आश्रय नहीं। इसी कारण को ले कर इस मंत्र का निरूपण करने में आया है। इन्द्रादि देवाताओं को हवि देने की प्रेरणा करने वाली विधि, इन्द्र आदि के स्वरूप की अपेक्षा रखती है। स्वरूप से रहित इन्द्रादि को चित्त में आरूढ़ नहीं कर सकते और चित्त में आरूढ़ न हुए ऐसे देवता को हवि नहीं दे सकते। श्रुति में भी ऐसा कहा है:—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वषट् करिष्यन्' [ऐत० ब्रा० ३ । ८ । १] (जिस देवता के लिये हवि का ग्रहण किया हो, वषट्कार करके उसका ध्यान करना चाहिये)। और केवल शब्द ही अर्थ का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ में भेद है। इस मंत्र और अर्थ वाद से इन्द्रादिक का जैसा स्वरूप समझा गया है वैसे स्वरूप का, शब्द प्रमाण को मानने वाला निषेध नहीं कर सकता। इतिहास तथा पुराण भी मंत्र और अर्थवाद के आश्रय हैं, इसलिये देवता विग्रह आदि सिद्ध करने में वे (इतिहास पुराण) समर्थ है। उनका प्रत्यक्षादि प्रमाण मूल है, यह भी संभव है। वस्तुतः जो हम को अप्रत्यक्ष होता है वह भी प्राचीन समय वालों को प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि व्यासादि देवादि से मिलकर प्रत्यक्ष व्यवहार करते हैं, ऐसी स्मृति है। यदि कहो कि वर्तमान काल वालों के समान पूर्व वालों को भी देवादि के साथ व्यवहार करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती, तो ऐसा कहने से जगत् की विचित्रता का प्रतिषेध हो जायगा। वर्तमान के समान अन्य समय में भी सार्वभौम क्षत्रिय नहीं थे ऐसा कहो तो इससे राजसूय आदि की विधि के संबंध में बाध आवेगा, और लोग हमारे समान अन्य समय में भी वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था रहित

थे ऐसा समझा जाय तो ऐसा होने से व्यवस्था करने वाले शास्त्र अनर्थक हो जायंगे। इससे ऐसा सिद्ध होता कि प्राचीन काल वाले धर्म की वृद्धि होने के कारण देवादि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। और स्मृति भी इस प्रकार है:—स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः" [यो० सू० २ । ४४] (स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ संबंध होता है)। अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्ति जिसका फल है ऐसे योग शास्त्र का भी साहस मात्र से निषेध करना ठीक नहीं। श्रुति भी योग का महात्म्य कहती है, जैसे कि 'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' [श्वेता० २ । १२] (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इनका उदय हो और योग के पांच गुण प्रवृत्त हों, और योग से तेजोमय शरीर प्राप्त हो तव उस योगी को रोग जरा, और मृत्यु नहीं होते)। मन्त्र और ब्राह्मण के दर्शन करने वाले ऋषियों के सामर्थ्य की भी हमारे सामर्थ्य के साथ समानता करना ठीक नहीं है। इसलिये इतिहास और पुराण प्रमाण स्वरूप हैं। ऐसा निश्चय करना ठीक नहीं है कि लोक प्रसिद्धि सम्भव हो तो भी आधार रहित है। इसलिये मन्त्रादि से देवादि के शरीर हैं, इत्यादि प्रतीत होना युक्त है, इसलिये अर्थित्व आदि के संभव होने से देवादि का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार होना युक्त है। क्रम से मुक्ति निरूपण करने वाले दर्शन भी इसी प्रकार सूचन करते हैं ॥ ३३ ॥

(९) अपशूद्राधिकरण। सू० ३४–३८

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्र-
वणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

हि जिस कारण से अस्य उसको (जानश्रुति राजा को) तदनादरश्रवणात् उन [हंसों] के अनादर [वचन] सुनने से

शुक् शोक [हुआ] तदाद्रवणात् [इसलिये] उस [शोक] से [रैक्व के पास उसके] आने से सूच्यते [शूद्र शब्द से जानश्रुति का] सूचन किया गया है।

जैसे मनुष्य के अधिकार के नियम का निषेध करके देवादिका विद्याओंमें अधिकार कहा है; इसी प्रकार द्विजाति के अधिकार के नियम के निषेध से शूद्र का भी अधिकार प्राप्त होगा। इस शंका को दूर करने के लिये इस अधिकरण का आरम्भ किया है।

प्रतिपक्षी :—शुद्र को भी ब्रह्मविद्या का अधिकार हो सकता है, क्योंकि शूद्र में अर्थीत्व और सामर्थ्य दोनों ही हैं। और 'तस्माच्छुद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' [तै० सं० ७।१।१।६] इसलिये शुद्र यज्ञ में असमर्थ हैं) और 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' (शूद्र विद्या में असमर्थ है) इस प्रकार का निषेध कहीं देखने में नहीं आता, इसलिये शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार है और कर्म में शूद्र का अधिकार नहीं है, इसका कारण यह है कि उसको अग्निहोत्र में अधिकार नहीं है। परन्तु किसी स्थान पर भी ऐसा नहीं कहा कि शूद्र को विद्या में अधिकार नहीं है। जो मनुष्य आहवनीय आदि से रहित हो वह ब्रह्मविद्या को जान न सके ऐसा नहीं है। शूद्र के अधिकार की पुष्टि करने वाले वाक्य हैं। छान्दोग्य में संवर्ग विद्या में जानश्रुति का प्रपौत्र जो ब्रह्मविद्या के सुनने की इच्छा रखता था, उसको शूद्र शब्द कहकर संबोधन किया है। जैसे, 'अह हारेत्वा सूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' [छान्दो० ४।२।३] (हे शूद्र ! इन गौ आदि को अपने पास ही रहने दे)। और स्मृति में कहा है कि विदुर आदि शूद्रों की योनि में उत्पन्न हुए थे तो भी वे ज्ञान से युक्त थे,

इसलिये ऐसा सिद्ध होता है कि शूद्र को ब्रह्म विद्या में अधिकार है।

सिद्धान्तीः-नहीं, ऐसा नहीं है, शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि जिसने वेद का अध्ययन किया है तथा जो वेद के अर्थ को जानता है उसे वेद विषयक अधिकार है। शूद्र को वेद के पढ़ने का अधिकार नहीं है क्योंकि जिसका उपनयन संस्कार किया गया है उसी को वेद पढ़ने का अधिकार है, और उपनयन का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है। यदि सामर्थ्य न हो तो अर्थित्व अधिकार का कारण नहीं होता। सामर्थ्य भी यदि लौकिक हो तो अधिकार का कारण नहीं होता, क्योंकि शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की ही आवश्यकता है और वेदाध्ययन का निराकरण करने से शास्त्रीय अधिकार का निराकरण हो ही जाता है। 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः।' (शूद्र यज्ञ के योग्य नहीं है) ऐसा जो कहा है वह न्याय संगत होने से शूद्र ब्रह्म विद्या के योग्य नहीं है यही दर्शाता है क्योंकि दोनों स्थान पर एक ही न्याय है।

और संवर्ग विद्या में शूद्र शब्द का जो निर्देश है वह शूद्र के ब्रह्मविद्या के अधिकार में हेतु है ऐसा तू मानता है। परन्तु न्याय का अभाव होने से वह हेतु नहीं हो सकता क्योंकि न्याय पूर्वक उक्ति में ही लिंग का निर्देश किसी बात का द्योतक होता है। परन्तु यहां तो न्याय का ही अभाव है। संवर्ग विद्या में शूद्र शब्द का निर्देश होने से उसी विद्या में शूद्र का अधिकार हो सकता है, अन्य विद्या में नहीं। परन्तु वास्तव में यह शब्द अर्थवादात्मक वाक्य में आया हुआ होने से वह शूद्रको किसी बातका अधिकार नहीं दे सकता। तथा यह शब्द जिसको अधिकार है उसके लिये भी लगा सकते हैं। यदि तू कहे कि यह किस प्रकार हो सकता है

तो उसके सम्बन्ध में कहा है:— कंम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' [छान्दो० ४।१।३] (अरे यह ऐसा है इसको यह रथ वाला रैक्व सा दीखता है ऐसा कहते हो) इस प्रकार हंस के कहने से अपने आत्मा का अनादर सुन कर पौत्रायण जानश्रुति को शोक उत्पन्न हुआ। इस शोक को रैक्व मुनि ने शूद्र शब्द द्वारा निरूपण करके अपने को परोक्षका भी ज्ञान होता है इसका सूचन किया. ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जो जाति से शूद्र है, उसका अधिकार नहीं है। यदि कहो कि शूद्र शब्द से 'शोक हुआ' यह किस प्रकार समझाया गया है तो उसका उत्तर यह है कि जानश्रुति शोक में डूब गया, इस अर्थ में शूद्र शब्द की योजना है। शोक में डूबने के कारण अथवा शोकके कारण रैक्व के पास गया इसलिये शूद्र है। क्योंकि यहां पर यौगिक अर्थ का संभव है और रूढ़ अर्थ असंभव है। इस कथानक में यही अर्थ देखने में आता है॥ ३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥ ३५॥

च और उत्तरत्र उत्तर में (संवर्ग विद्या के पिछले वाक्य में) चैत्ररथेन चैत्ररथ के [साथ कथन रूप] लिङ्गात् हेतु से क्षत्रियत्वगतेः [जानश्रुति के] क्षत्रिय होने के निश्चय से [जाति शूद्र को विद्या का अधिकार नहीं है।

जानश्रुति जाति शूद्र नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण का जहां निरूपण है वहां पिछले भाग में अभिप्रतारी चैत्ररथ क्षत्रिय के साथ उसका निर्देश है, इससे ऐसा सिद्ध होता है कि जानश्रति क्षत्रिय है, क्योंकि उत्तर भाग में जहां संवर्ग विद्या का निरूपण है वहां अन्त में अभिप्रतारी क्षत्रिय चैत्ररथि की स्तुति की है, वहां कहा है कि 'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणंच

कांक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे' [छान्दो० ४।३।५] (शुनक का पुत्र कापेय और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी जब परोसे हुए भोजन को लेकर बैठे थे तब उनके पास एक ब्रह्मचारी भिक्षा मांगने आया)। यहां कापेयके सम्बन्ध से ऐसा जान पड़ता है कि अभिप्रतारी चैत्ररथि है, क्योंकि कापेय के साथ चैत्ररथ का सम्बन्ध जानने में आया है। कहा भी है:—'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्' [ताण्ड्य ब्रा० २०।१२।५] (वस्तुतः कापेय ने चित्ररथ को यज्ञ कराया)। समान वंश वालों के याजक भी समान वंश के होते हैं। श्रुति में कहा है कि 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामकः क्षत्रपतिरजायत' (उसमें से चैत्ररिथ नाम का एक क्षत्रपति जन्मा) क्षत्रपति का सूचन करने से ऐसा सिद्ध होता है कि वह क्षत्रिय ही होना चाहिये। क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ एक ही विद्या में जानश्रुति का संकीर्तन है, इसलिये ऐसा जाना जाता है कि जानश्रुति क्षत्रिय है। विशेष करके बराबर वालों का बराबर वालों के साथ व्यवहार होता है। सूत को भेजना आदि ऐश्वर्य के होने से भी ऐसा सिद्ध होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय है, इसलिये शूद्र को ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है ॥३५॥

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६॥

संस्कारपरामर्शात् [उपनयनादि] संस्कार के कथन से **च** और **तदभावाभिलापात्** [शूद्र को] उनके अभाव के कथन से [जाति शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है]।

ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में संस्कारों की आवश्यकता है और शूद्र को उपनयन आदि का संस्कार का अभाव श्रुति में कहा है, इसलिये शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है। कहा है कि 'तं होपनिन्ये' [श० ब्रा० ११।५।३।१३] (उसको यज्ञोपवीत

दिया । 'अधीहि भगव इति होप ससाद' [छान्दो० ७ । १ । १] (हे भगवन्, पढ़ाओ, ऐसा कहकर उसके पास गया) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' [प्रश्नो० १ । १] (वेद को प्रमाण मानने वाला, वेद में निष्ठा वाला, तथा ब्रह्म की जिज्ञासा वाला ऐसा समझ कर कि यह मुझसे सब कहेंगे, हाथ में समिध लेकर पिप्पलाद मुनि के पास गया) । 'तान् हानुपनीयैव' [छान्दो० ५ । ११ । ७] (उसको उपनयन बिना ही) यहां अधिकार के सम्बन्ध में उपनयन की प्राप्ति का निरूपण किया है और शूद्र को संस्कार का अभाव है । कहा है कि 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जातिः ।' [मनु० १० । ४] (चौथा वर्ण शूद्र उपनयन रहित है), 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' [मनु० १० । १२६] (शूद्र में कोई पाप नहीं और न वह संस्कार के योग्य है), इत्यादि से शूद्र को संस्कार का अभाव कहा है ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

च और तदभावनिर्धारणे उसके (शूद्रत्व) के अभाव के निश्चय से प्रवृत्तेः [गौतम की उपनयन की] प्रवृत्ति से [शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है] ।

और इसलिये भी शूद्र को अधिकार नहीं है कि सत्य बोलने से, शूद्रत्व के अभाव का निश्चय होने से, जाबाल गौतम को उपनयन और उपदेश देने में प्रवृत्त हुए । जैसे कि इस श्रुति में कहा है :—'नैतदब्राह्मणो विवक्तु मर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सात्यादगाः' [छान्दो० ४ । ४ । ५] (अब्राह्मण इस

प्रकार कह नहीं सकता; हे सोम्य, समिध ला, मैं तुझको उपनयन दूँगा, तू सत्य से दूर नहीं गया)।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च॥ ३८ ॥

च और **स्मृतेः** स्मृति से **श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्** [शूद्र को] वेद के सुनने, वेद के पढ़ने और वेद जानने के अर्थ के निषेध से [शूद्र को वेद पूर्वक विद्या का अधिकार नहीं है]

और इसलिये भी शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है कि स्मृति से शूद्र के वेद सुनने, पढ़ने और अर्थ जानने का प्रतिषेध होता है, यानी स्मृति में शूद्र को वेद पढ़ने, वेद सुनने और वेदार्थ के ज्ञान और अनुष्ठान का प्रतिषेध है। वेद सुनने का प्रतिषेध इस प्रकार है:—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' (वेद को पास से सुनने वाले इस शूद्र के कान सीसे और लाख से भरना) और 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' (जो शूद्र है वह वस्तुतः पैरों चलने वाला श्मशान है इसलिये शूद्र के समीप अध्ययन करना न चाहिये)। इस प्रकार जब शूद्र के समीप पढ़ना ही निषिद्ध है तब शूद्र बिना सुने ही वेद का अध्ययन कैसे कर सकता है ? और ऐसा भी कहा है कि वेद के उच्चार से शूद्र की जिह्वा का छेदन होता है और धारण करने से शरीर का भेदन होता है, इसी कारण से शूद्र के वेदार्थ के ज्ञान तथा अनुष्ठान का प्रतिषेध किया है। जैसे कि 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (शूद्र को वेदार्थका ज्ञान न देवे) और 'द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम्' (द्विजातियों को अध्ययन, यज्ञ और दान हैं)। परन्तु विदुर, धर्मव्याध आदि के, जिनको पूर्व कर्म के संस्कार से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, फल की प्राप्ति का प्रतिषेध नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान

निश्चित फल उत्पन्न करता है। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' (चार वर्णोंको सुनावे) इससे इतिहास और पुराणों का (जिसमें ब्रह्मविद्या भी कही हुई है) ज्ञान प्राप्त करने में चारों वर्णों को अधिकार है, ऐसा स्मृति कहती है। परन्तु वेद पूर्वक शूद्रों को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ३८ ॥

(१०) कम्पनाधिकरण।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

कम्पनात् [सर्व जगत की] चेष्टा से [प्राण शब्द द्वारा परब्रह्म का कथन है]।

यहाँ पर अधिकार का विचार समाप्त हुआ, अब यहां वाक्यार्थ के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। 'यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' [काठ० २।६।२] (वह प्रत्यक्ष जगत् जो ब्रह्म में से उत्पन्न हुआ है, प्राण स्वरूप ब्रह्म के अस्तित्व से अपना व्यापार करता हैं, वह उठाये हुए वज्र के समान महान् भय रूप है, जो उसको जानता हैं वह अमृत रूप होता है), यह वाक्य एजृ कम्पने (एजृयानी कांपना) इस धातु के अर्थ को जानने से निरूपण हो सकता है। इस वाक्य में यह सब जगत् प्राण के आश्रय रह कर व्यापार करता है, प्राण महान् भय का कारण रूप उठाये हुए वज्र के समान हैं, उसको जानने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। इसमें प्राण कौन है और भयानक वज्र क्या है इसका ठीक ज्ञान न होने से विचार करने से प्रथम ऐसा प्रतिपक्ष होता है :—

प्रतिपक्षः--प्रसिद्धि से पाँच वृत्ति वाला वायु प्राण है, प्रसिद्धि से ही अशनि इन्द्र का हथियार वज्र है और वायु का

महात्म्य इस प्रकार कहा है—यह सब जगत् पांच वृत्ति वाले प्राण नाम के वायु में रह कर चेष्टा करता है। वायु के निमित्त ही भारी भयानक वज्र उठाया गया है, क्योंकि वायु जब वर्षा करने में प्रवृत्त होता है तब बिजली, गर्जना, वृष्टि और वज्र ये उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है। और वायु के ज्ञान से ही यह अमृतत्व है, इस प्रकार दूसरी श्रुति कहती है; जैसे कि 'वायुरेव-व्यष्टिर्वायुः समष्टिरेव पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' (वायु ही व्यष्टि-विशेष है, वायु ही समष्टि-सामान्य है, जो ऐसा जानता है, वह मृत्यु को जीतता है) इसलिये यहाँ वायु ही समझना ठीक है।

समाधानः—नहीं, यहाँ ब्रह्म समझना चाहिये, क्योंकि पूर्वापर का विचार करने से ऐसा ही सिद्ध होता है। पूर्व और उत्तर ग्रन्थ भागों में ब्रह्म का ही निरूपण है, ऐसा विदित होता है। यहाँ बीच में ही एक दम वायु का निरूपण है, ऐसा क्यों मानना चाहिये ? नहीं मानना चाहिये। 'तदेव शुक्रं तदेव ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाःश्रितः सव तदुनात्येति कश्चन ॥' [काठ० २। ६। १] (वह ही स्वप्रकाश है, वह ही ब्रह्म है, वह ही अमृत कहलाता है, उसमें सब लोक आश्रय लेते है, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता), इस पूर्व भाग में जिस ब्रह्म का ऐसा कथन किया है वह ही ब्रह्म यहाँ भी समीपता से तथा सब जगत् प्राण से चेष्टा करता है, इस कथन से सब लोकों का आश्रय है; ऐसा ज्ञान होने से यहाँ भी उसीका प्रतिपादन है इस प्रकार समझा जाता है। इस प्राण शब्द का भी परमात्मा में ही प्रयोग किया गया है, क्योंकि 'प्राणस्य प्राणम्' [बृह० ४। ४। १८] (प्राण का प्राण) ऐसा देखने में आता है। इस प्रकार की चेष्टा यानी प्रेरकत्व भी परमात्मा के लिये ही युक्त है, वायु मात्र के

लिये युक्त नहीं। क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है कि 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेता-वुपाश्रितौ' [काठ० २। ५। ५] (कोई भी मर्त्य प्राण अथवा अपान से नहीं जीता, परन्तु यह दोनों जिसके आश्रित हैं उस दूसरे से ही वे जीते हैं)। उत्तर भाग में भी इसी प्रकार ब्रह्म का ही कथन है, वायु का नहीं। वहाँ ऐसा कहा है कि वायु सहित सब जगत् के भय का हेतु ब्रह्म है, जैसे कि 'भयादस्या-ग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' [काठ० २। ६। ३] (इसके भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं, इन्द्र और वायु अपना कार्य करते हैं, और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है) इसी ब्रह्म का यहाँ समीपता से और भारी भय, ऊँचा किया हुआ वज्र इस प्रकार भय के हेतु रूप से कथन है, ऐसा समझा जाता है। यह वज्र शब्द भी भय का सामान्य हेतु रूप होने से योजित किया गया है। जैसे, यह ऊँचा किया हुआ वज्र, यदि मैं इसकी आज्ञा का पालन न करूँ तो मेरे ही शिर पर पड़ेगा इस भय से राजा आदि की आज्ञा में मनुष्य नियम पूर्वक चलता है, इसी प्रकार यह अग्नि, वायु, सूर्य आदि जगत् इसी ब्रह्म से भय पाकर विनय पूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, ऐसा वज्र के समान भयकर ब्रह्म है। इसी प्रकार ब्रह्म को सूचन करने वाली यह दूसरी श्रुति है :—'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।' [तैत्ति० ८। १] (इसके भय से वायु चलता है, सूर्य उदय होता है, इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ते हैं) अमृतत्व रूप फल के सुनने से भी यह ब्रह्म ही है, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति है, ऐसा इस मंत्र से कहा है:—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनाय' [श्वेता० ६ । १५] (उसको जान कर ही मृत्यु को उल्लंघन करता हैं, मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है)। वायु के विज्ञान से कहीं २ जो अमृतत्व कहा है, वह आपेक्षिक है, क्योंकि जहाँ वायु का निरूपण किया है वहाँ ही प्रकरण के अन्त में ऐसा कहा है :—'अतोऽन्यदार्त्तम् [बृह० ३ । ४] (इससे अन्य नाश वाला है)। इसलिये वायु आदि नाश वाले हैं और प्रकरण से भी यहाँ परमात्मा का निश्चय होता है, क्योंकि परमात्मा के विषय में इस प्रकार प्रश्न किया है:— 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' [काठ० १ । २ । १४] (जो धर्म से भिन्न है, जो अधर्म से भिन्न है इस कार्य और कारण से भिन्न है, और जिसको तू देखता है, उसको कह) ॥ ३९ ॥

(११) ज्योतिरधिकरण ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

दर्शनात् दर्शन से ज्योतिः ज्योति [शब्द परब्रह्म के लिये है] ।

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छान्दो० ८ । १२ । ३] (यह जीव इस शरीर से निकल कर परं ज्योति को प्राप्त करके अपने रूप को प्राप्त होता है)। इसमें संशय होता है कि ज्योति शब्द का वाच्य आँख का विषय और अन्धकार का नाश करने वाला तेज है अथवा परब्रह्म है ?

प्रतिपक्षी:—ज्योति शब्द का वाच्य प्रसिद्ध तेज है, क्योंकि उसमें ज्योति शब्द रूढ़ है। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' [ब्रह्म सू० १ । १ । २४] (ज्योति [ब्रह्म है] चरण के कथन से)।

इसमें वस्तुतः प्रकरण से ज्योति शब्द अपने अर्थ का त्याग करके ब्रह्म में प्रवृत्त होता है, परन्तु यहाँ (इस चालीसवें सूत्र में) ऊपर के सूत्र के समान अपने अर्थ के त्यागने में कोई कारण नहीं दीखता। ऐसे ही नाड़ी खण्ड में मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति कही है, जैसे कि 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' [छान्दो० ८। ६। ५] (पीछे जब इस शरीर में से इस प्रकार ऊँचा जाता है तब इन्हीं किरणों द्वारा ऊँचा जाता है) इसलिये ज्योति शब्द वाच्य प्रसिद्ध तेज ही है।

सिद्धांतीः—नहीं, ज्योति शब्द वाच्य परब्रह्म ही है, क्योंकि ऐसा ही देखने में आता है। इस प्रकरण में उसका ही दूसरी बार कथन करके अनुसरण करने में आया है क्योंकि 'य आत्माऽपहत पाप्मा' [छान्दो० ८। ७। १] (जो आत्मा पाप रहित है) इस श्रुति में पाप रहितत्व आदि गुण वाले आत्मा की खोज और विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये इस प्रकार प्रकरण के आरम्भ में प्रतिज्ञा की है। आत्मा का अनुसंधान इस प्रकार हैः—'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि [छान्दो० ८। ९। ३] (तुझसे इस आत्मा का ही फिर व्याख्यान करूँगा)। फिर ऐसा कहा है। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छान्दो० ८। १२। १] (शरीर रहित होने से आत्मा को निश्चय प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करता) इस प्रकार ज्योति शब्द का निरूपण शरीर रहितत्व द्वारा किया गया है। ब्रह्म का भाव होने से यहां अशरीरत्व जो कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि श्रुति में कहा हैः—'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' [छान्दो ८। १२। ३] (वह परं ज्योति है, वह उत्तम पुरुष है) इस प्रकार ब्रह्म का ही विशेषण दिया है। और ऐसा जो कहा कि मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति का कथन है, तो वह अन्तिम मोक्ष नहीं है,

क्योंकि आदित्य में से उसका उत्क्रमण होता है। जहां अन्तिम मोक्ष कहा है वहाँ ऐसा कहा है कि मोक्ष के पीछे गति और उत्क्रान्ति दोनों ही सम्भव नहीं हैं ॥ ४० ॥

(१२) अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् भिन्न अर्थत्व के कथन से आकाशः आकाश [परब्रह्म] है।

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा। [छान्दो० ८। १४। १] (वस्तुतः जो आकाश कहनेमें आता है, वह नाम और रूप का वना हुआ है। जो नाम और रूप से रहित है वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) इस प्रकार की श्रुति है। इसमें आकाश परब्रह्म है या प्रसिद्ध भूताकाश हैं, इसका बिचार करते हैं।

पूर्वपक्षः—आकाश का अर्थ भूताकाश ग्रहण करना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि आकाश शब्द का यह ही अर्थ होता है। आकाश अवकाश देने वाला होने से नाम और रूप का स्पष्टीकरण उसमें लगाना ठीक है, क्योंकि केवल ब्रह्म स्रष्टा आदि गुण से रहित हैं।

समाधानः—यहां आकाश शब्द परब्रह्म का ही वाचक है, क्योंकि नाम तथा रूप से भिन्न अर्थ का उपदेश किया गया है। 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (जो नाम और रूप से रहित है वह ब्रह्म है) इस प्रकार नाम और रूप से रहित भूताकाश का उपदेश है। ब्रह्म के सिवाय नाम और रूप रहित दूसरा कोई नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व विकार समूह नाम और रूप से ही विकार वाले होते हैं। निरंकुश ब्रह्म के सिवाय नाम और रूप

का स्पष्ट करने वाला कोई दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मनानु-प्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६ । ३ । २] (इस जीवात्मा में प्रवेश करके मैं नाम और रूप का विस्तार करूंगा) इस प्रकार ब्रह्म कर्ता है, ऐसी श्रुति है। परन्तु, जीव भी नाम और रूप का विस्तार करता है, यह प्रत्यक्ष है, ऐसा कहो तो यद्यपि यह ठीक है तो भी यहाँ पर अभेदता दिखलाई है। नाम और रूप का कर्ता बताने से ऐसा सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्रष्टा आदि रूप है। 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (वह ब्रह्म है, वह अमृत है और वह आत्मा है) इस प्रकार ब्रह्म के विशेषण हैं, 'आकाशस्तल्लिंगात्' [ब्रह्म सू० १ । २२] (आकाश ब्रह्म रूप है, क्योंकि ब्रह्म के विशेषण ही उसमें लागू पड़ते हैं) उसी का यहां विस्तार किया है ॥ ४१ ॥

(१३) सुषुप्त्युत्क्रांत्यधिकरण । सू० ४२-४३

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः सुषुप्ति और मरण में भेदेन भेद [के कथन से यहां असंसारी प्रज्ञात्मा का निरूपण है]।

बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक में 'कतम् आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' [बृह० ४ । ३ । ७] (कौन आत्मा है ? यह जो विज्ञानमय है, प्राण और बुद्धि से भिन्न है, ज्योति रूप और पूर्ण है)। इस प्रकार प्रथम आरंभ करके फिर आत्मा के संबन्ध में विस्तार किया है। यहां इस प्रकार का संशय होता है कि यह वाक्य संसारी के स्वरूप का निरूपण करता है या आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करता है।

प्रतिपक्षी:—मेरा कहना यह है कि आत्मा के संसारी स्वरूप का ही इसमें निर्देश है, उपक्रम और उपसंहार से यही सिद्ध

होता है। उपक्रम में जीव के लक्षण इस प्रकार बताये हैं:— 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (जो यह विज्ञानमय प्राणों में है।), और उपसंहार में कहा है:—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' [बृह० ४। ४। २२] (वह महान् जन्म रहित आत्मा यह है, जो कि प्राणों में विज्ञानमय है)। इसमें भी जीव का त्याग नहीं किया और मध्य में भी जाग्रत आदि अवस्थाओं के निरूपण से उसका ही विस्तार किया है।

सिद्धांती:—यह वाक्य परमेश्वर का उपदेश करने के लिये ही है, केवल जीव का उपदेश करने के निमित्त नहीं है। क्योंकि, सुषुप्ति और मरण में जीव से परमेश्वर भिन्न है ऐसा कथन है। प्रथम सुषुप्ति में जीव से परमेश्वर को भिन्न कहा है, जैसा कि:— 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद न चान्तरम्।' [बृह० ४। ३। २१] (यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से अभिन्न हुआ बाहर और भीतर किसी को नहीं जानता)। यहां पुरुष शब्द जीव वाचक है, क्योंकि वह जानने वाला होने से, उसमें सुषुप्ति में बाहर और भीतर के न जानने का प्रसंग सम्भव है। परमेश्वर प्राज्ञ रूप हैं, वह जाननारूप प्रज्ञा से कभी अलग नहीं होता। इसी प्रकार मरण के विषे कहा है:—'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' [बृह० ४। ३। ३५] (यह शारीर आत्मा प्राज्ञ आत्मा के सहारे से घोर शब्द करता हुआ जाता है)। इस प्रकार यह श्रुति जीव से भिन्न परात्मा का कथन करती है। यहां शारीर जीव वाचक है, क्योंकि जीव शरीर का स्वामी है। प्राज्ञ शब्द परमेश्वर का वाचक है तथा सुषुप्ति और मरण में परमेश्वर को जीव से भिन्न कहा है, इसलिये यहां परमेश्वर का ही कथन है, ऐसा समझा जाता है।

और यह जो कहा है कि आदि, अन्त और मध्य में शारीर के स्वरूप का ही वर्णन है, इसका उतर यह है कि प्रथम उपक्रम में यह जो कहा है कि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (जो यह प्राण में विज्ञानमय है), उसमें संसारी स्वरूप का कथन नहीं है, किन्तु संसारी स्वरूप का अनुवाद करके परब्रह्म के साथ उसकी एकता का कथन है। क्योंकि, 'ध्यायतीव लेलायतीव' (ध्यान करते हुए के समान, चलते हुए के समान) इत्यादि उत्तर ग्रन्थ की प्रवृति संसारी धर्म का खण्डन करने के निमित्त जान पड़ती है। जैसा उपक्रम किया है इसी प्रकार उपसंहार किया है। जैसे, 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (वह यह महान् जन्म रहित आत्मा जो यह प्राण में विज्ञानमय है) यहां ऐसा अर्थ है कि जो यह विज्ञानमय, प्राण से भिन्न संसारी मालूम होता है, वह महान् जन्म रहित आत्मा परमेश्वर ही हमने प्रतिपादन किया है। मध्य में जाग्रत आदि अवस्थाओं के निरूपण से जो संसारी स्वरूप का कथन मानते हैं, वह ऐसा है जैसे कि पूर्व दिशा में जाने वाला पुरुष पश्चिम को जाय। जाग्रत आदि अवस्थाओं के निरूपण करने से अवस्थाओं का अथवा संसारित्व का कथन नहीं है, किन्तु अवस्थाओं से रहित और संसार से रहित का कथन है। क्योंकि 'अत उर्ध्व विमोक्षायैव ब्रूहि' (इसके पीछे मोक्ष के लिये कहो) इस प्रकार स्थान स्थान पर पूछा है; और इसी प्रकार स्थान स्थान पर उत्तर भी दिया है, जैसे कि 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः' [बृह० ४। २। १४, १५] (वह उससे यानी भोग से युक्त नहीं है, क्योंकि यह आत्मा संग रहित है)। इसी प्रकार यह भी कहा है:—'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' [बृह० ४।३।१२]

(आत्मतत्त्व पुण्य और पाप से अस्पृष्ट है, क्योंकि तब सुषुप्ति में हृदय के सब शोकों से रहित होता है)। इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि यह वाक्य असंसारी के स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये ही है ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः पति आदि शब्दों से [सिद्ध होता है कि यहाँ असंसारी स्वरूप का ही निरूपण है]।

इस वाक्य में पति आदि शब्द असंसारी स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं, तथा संसारी स्वभाव का प्रतिषेध करते हैं। इससे भी यह ही समझना चाहिये कि यह वाक्य असंसारी स्वरूप के प्रतिपादन करने के लिये है। 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपत्तिः' (सबसे स्वतन्त्र, सबका ईश्वर, सबका अधिपति) इस प्रकार के शब्द असंसारी का प्रतिपादन करते हैं। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' (वह सुभ कर्म से बड़ा और अशुभ कर्म से छोटा नहीं होता) इस प्रकार के शब्द संसारी स्वभाव का प्रतिषेध करते हैं। इसलिये असंसारी परमेश्वर का ही यहां कथन है ऐसा समझा जाता है ॥ ४३ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य भाषानुवाद
के प्रथम अध्याय का तृतीय पाद
समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय चौथा पाद ।

(१) आनुमानिकाधिकरण । सू० १-७

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

आनुमानिकम् [प्रधान] अनुमान गम्य [होने पर] अपि भी एकेषाम् एक [शाखा] में [उसका अव्यक्त शब्द द्वारा प्रतिपादन किया हुआ होने से वह प्रधान श्रुतिप्रतिपादित है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [वह कहना सम्भव] नहीं है शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः शरीर के रूपक के वर्णन के ग्रहण से च और दर्शयति [इस रूपक को श्रुति] दिखाती है।

ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म के लक्षण इस प्रकार कहे हैं:—'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० १ । १ । २] (इस जगत् के जन्म आदि जिस सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है) । ये लक्षण प्रधान के भी है, ऐसी आशंका करके इस शंका का इस प्रकार निराकरण किया है कि प्रधान अशब्द होने से यानी श्रुति प्रतिपादित न होने से जगत् का कारण नहीं है। निराकरण इस सूत्र से किया है :—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ब्र० १ । १ । ५] (प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि वह अशब्द है यानी श्रुति प्रतिपादित नहीं है। ईक्षति से यानी ब्रह्म को ईक्षण करने वाला कहा है इसलिये प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है) । वेदान्त वाक्य सामान्य रीति से ब्रह्म को जगत् का कारण बताते हैं, प्रधान को नहीं वताते, इस प्रकार ग्रन्थ के पिछले भाग में विस्तार से विवेचन किया गया है। अब यह आशंका

(आत्मतत्त्व पुण्य और पाप से अस्पृष्ट है, क्योंकि तव सुषुप्ति में हृदय के सब शोकों से रहित होता है)। इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि यह वाक्य असंसारी के स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये ही है ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः पति आदि शब्दों से [सिद्ध होता है कि यहाँ असंसारी स्वरूप का ही निरूपण है]।

इस वाक्य में पति आदि शब्द असंसारी स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं, तथा संसारी स्वभाव का प्रतिषेध करते हैं। इससे भी यह ही समझना चाहिये कि यह वाक्य असंसारी स्वरूप के प्रतिपादन करने के लिये है। 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपत्तिः' (सबसे स्वतन्त्र, सबका ईश्वर, सबका अधिपति) इस प्रकार के शब्द असंसारी का प्रतिपादन करते हैं। 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' (वह सुभ कर्म से वड़ा और अशुभ कर्म से छोटा नहीं होता) इस प्रकार के शब्द संसारी स्वभाव का प्रतिषेध करते हैं। इसलिये असंसारी परमेश्वर का ही यहां कथन है ऐसा समझा जाता है ॥ ४३ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य भाषानुवाद
के प्रथम अध्याय का तृतीय पाद
समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय चौथा पाद ।

(१) आनुमानिकाधिकरण । सू० १-७

**आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-
रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥**

आनुमानिकम् [प्रधान] अनुमान गम्य [होने पर] अपि भी एकेषाम् एक [शाखा] में [उसका अव्यक्त शब्द द्वारा प्रतिपादन किया हुआ होने से वह प्रधान श्रुतिप्रतिपादित है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [वह कहना सम्भव] नहीं है शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः शरीर के रूपक के वर्णन के ग्रहण से च और दर्शयति [इस रूपक को श्रुति] दिखाती है।

ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म के लक्षण इस प्रकार कहे हैं:—'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० १ । १ । २] (इस जगत् के जन्म आदि जिस सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है) । ये लक्षण प्रधान के भी है, ऐसी आशंका करके इस शंका का इस प्रकार निराकरण किया है कि प्रधान अशब्द होने से यानी श्रुति प्रतिपादित न होने से जगत् का कारण नहीं है। निराकरण इस सूत्र से किया है :—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ब्र० १ । १ । ५] (प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि वह अशब्द है यानी श्रुति प्रतिपादित नहीं है। ईक्षति से यानी ब्रह्म को ईक्षण करने वाला कहा है इसलिये प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है) । वेदान्त वाक्य सामान्य रीति से ब्रह्म को जगत् का कारण बताते हैं, प्रधान को नहीं बताते, इस प्रकार ग्रन्थ के पिछले भाग में विस्तार से विवेचन किया गया है। अब यह आशंका

होती है कि प्रधान अशब्द है, ऐसा जो कहा है, वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कितनी ही शाखाओं में प्रधान का बोध कराने वाले वाक्य सुनने में आते हैं। इसलिये कपिल आदि बड़े २ ऋषियों ने प्रधान को ही जगत् का वेदसिद्ध कारण माना है, ऐसा प्रसंग आता है। इसलिये जहाँ तक ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जाय कि वे शब्द अन्य के वाचक हैं तब तक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है, ऐसा जो कहा है, वह भी दृढ न होगा। इसलिये वे शब्द अन्य वाचक हैं, ऐसा दर्शाने के निमित्त आगे के ग्रन्थ की रचना है।

प्रतिपक्षीः—आनुमानिक यानी अनुमान से निरूपण किया गया प्रधान कितनी ही शाखा वालों ने श्रुति प्रतिपादित माना है, जैसे कि 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' [काठ० १। ३। ११] (महत् से पर अव्यक्त और अव्यक्त से पर पुरुष है)। इसमें जिन नामों से और जिस क्रम से महत्, अव्यक्त और पुरुष इनके स्मृति में वर्णन हैं उन्हीं का ज्ञान होता है।

इसमें अव्यक्त शब्द से स्मृतिप्रसिद्ध प्रधान ही का कथन है, क्योंकि वे शब्द स्मृति में प्रसिद्ध हैं। और शब्दादि न होने से, जो व्यक्त नहीं वह ही अव्यक्त है, ऐसा अर्थ होना संभव हैं। श्रुति प्रतिपादित होने से ऐसा कहना युक्त नहीं है कि प्रधान अशब्द है, क्योंकि श्रुति, स्मृति और न्याय (युक्ति) से प्रधान ही जगत् का कारण है।

सिद्धान्ती :—ऐसा नहीं है, क्योंकि कठोपनिषद् का यह वाक्य स्मृति में प्रसिद्ध महत् और अव्यक्त के अस्तित्व का बोध नहीं कराता। जो त्रिगुणात्मक प्रधान जगत् के कारण रूप से स्मृति में प्रसिद्ध है उसीका यहां पर वर्णन है ऐसा प्रतीत नहीं होता। यहां तो अव्यक्त ऐसे शब्द मात्र का ज्ञान होता है

और वह शब्द जो व्यक्त नहीं वह अव्यक्त, ऐसा योगिक शब्द होने से सूक्ष्म, सुदुर्लक्ष्य यानी कठिनाई से लक्ष करने योग्य अन्य पदार्थ के लिये प्रयोग में लाया गया है। यह शब्द किसी अर्थ में रूढ़ नहीं है। प्रधानवादियों की जो रूढ़ि है वह उनकी ही पारिभाषिक होने से वेदार्थ के निरूपण करने में कारण रूप नहीं होती। जब तक, क्रम मात्र की समानता से पदार्थों की समानता का बोध नहीं होता जब तक उनका समानत्व अन्य प्रकार से निश्चित नहीं होता; जैसे घोड़े के स्थान पर बैल जोत कर यह कहा जाय की यह घोड़ा है तो कोई विद्वान् इसे नहीं मानेगा। प्रकरण को देखते हुए यहाँ प्रतिपक्षी के माने हुए प्रधान की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहां रूपक से वर्णन किये हुए शरीर का ग्रहण है। वस्तुतः यहां पर रथ के रूपक से वर्णन किये हुए शरीर का ही अव्यक्त शब्द से ग्रहण किया गया है। प्रकरण से और परिशेष से ऐसा ही सिद्ध होता है, कारण कि पिछला सब ही ग्रन्थ आत्मा, शरीर आदिकों की रथी, रथ आदि के साथ रूपक की कल्पना दर्शाता है, जैसे कि 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धितु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥' [काठ० १ । ३ । ३, ४] (आत्मा को रथी जान और शरीर को रथ जान। बुद्धि को सारथी और मन को लगाम जान। इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और विषयों को उनके मार्ग कहते हैं, देह इन्द्रिय और मन से युक्त को विद्वान् भोक्ता कहते हैं) यदि वे इन्द्रिय आदिक वश नहीं होते तो संसार को प्राप्त होता है, परन्तु जब वे वश में होते हैं तो वह मार्ग से पार विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है। ऐसा दिखला कर वह विष्णु

का परम पद कौन सा है, ऐसी आकांक्षा होने पर दिखलाया है कि उन्हीं प्रकृत इन्द्रिय आदि से पर जो परमात्मा है वह ही मार्ग से पार विष्णु का परम पद है। जैसे कि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धे रात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥' [काठ० १। ३। १०, ११] (इन्द्रियों से पर अर्थ हैं, अर्थों से पर मन है, मन से पर बुद्धि और बुद्धि से पर आत्मा महत् है, महत् से पर अव्यक्त है और अव्यक्त से पर पुरुष है, पुरुष से पर कोई नहीं है, वह अंतिम है और परा गति है)। इसमें इन्द्रिय आदि, जो पूर्व के रथ के रूपक में अश्व आदि के समान वर्णन की गई हैं, उनका ही यहाँ ग्रहण किया गया है। क्योंकि ऐसा न हो तो प्रकृत (कहे हुए) की हानि और अप्रकृत (न कहे हुए) की प्रक्रिया (कथन) हो जाय। उनमें से इन्द्रिय, और मन बुद्धि का पूर्व में और यहां पर समान शब्दों से ही निर्देश है। अर्थ यानी शब्दादि विषय जो इन्द्रिय रूप घोड़ों के मार्ग बताये हैं वे इन्द्रियों से पर हैं, क्योंकि श्रुति में इस प्रकार प्रसिद्ध है:—'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम्' [बृह० ३। २] (इन्द्रियां बंधन करने वाली हैं और विषय अधिक बंधन करने वाले हैं) और विषयों से पर मन है, क्योंकि इन्द्रियों और विषयों का व्यवहार मन के अधीन है। मन से पर बुद्धि है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही भोग्य पदार्थ भोक्ता के पास आते हैं। बुद्धि से पर वह आत्मा ही है जिसको रथी कथन किया है। आत्म शब्द से ऐसा सूचित किया है कि जो भोक्ता और भोग के उपकरण से पर है, और स्वामी होने से महान् है, यह कहना भी युक्त है। अथवा 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते'

(उसको यानी ब्रह्मदेव की बुद्धि को, मन महान्, मति, ब्रह्मा, पुर, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, संवित्, चिति और स्मृति कहते हैं) इस प्रकार की स्मृति और 'यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वंयो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' [श्वेता० ६ । १८] (जो पूर्व में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके पास वेदों को भेजता है, उसके लिये) इस प्रकार की श्रुति से प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ की जो बुद्धि है वह बुद्धियों में पर है, और उसी को यहां महान् आत्मा कहा है और पूर्व में कही हुई ब्रह्मा की बुद्धि ही यहां पृथक् बताई है, क्योंकि वह भी हमारी बुद्धि से पर है; ऐसा समझा जाता है। परन्तु इस पक्ष में परमात्म विषयक पीछे आने वाले जिस पुरुष शब्द का ग्रहण है उससे जो आत्मा रथी है उसका ग्रहण समझना चाहिये। क्योंकि परमात्मा और विज्ञानात्मा का वस्तुतः भेद नहीं है। इस प्रकार कहते हुए अब अकेला शरीर ही कहने को शेष रहता है। इन्द्रिय आदि अन्य प्रकृत पदार्थों को परम पद दर्शन कराने की इच्छा से श्रुति क्रम से वर्णन करती हुई अन्त में शेष रहा यहां जो अव्यक्त शब्द है उसके द्वारा प्रकृत शरीर को ही शेष रहा हुआ दिखलाती है, ऐसा समझा जाता है। वस्तुतः शरीरादि को रथ आदि के रूपक की कल्पनायें, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदना से संयुक्त, अविद्या वाले भोक्ता की संसार गति और मोक्ष गति का निरूपण करके प्रत्यगात्मरूप ब्रह्म को प्राप्त कराती हैं, ऐसा यहाँ कथन है। इसी प्रकार विष्णु के परम पद को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, ऐसा इस श्रुति में कहा है—'एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' [काठ १ । ३ । १२] (यह आत्मा सब प्राणियों में गूढ़ है, यह प्रकाशता नहीं है, परन्तु सूक्ष्म एकाग्र बुद्धि से सूक्ष्म

दर्शियों से देखा जाता है) ऐसा कह कर उसकी प्राप्ति का उपाय इस प्रकार दर्शाया है:—'यच्छेद्वांमनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' [काठ० १ । ३ । १३] (प्राज्ञ पुरुष वाणी को मन में नियत करे, मन को ज्ञान में, ज्ञान को महान् आत्मा में और महान् आत्मा को शान्त आत्मा में नियत करे)। इसका तात्पर्य यह है कि वाणी को मन में नियत करे यानी वाक् आदि बाह्य इन्द्रियों के व्यापार को त्याग कर मन मात्र से रहे। विषयों के विकल्प की तरफ जाने वाले ऐसे मन को विकल्प रूपी दोष दर्शन के लिये ज्ञान शब्द से कही हुई निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि से धारण करे। उस बुद्धि को भी महान् आत्मा जो भोक्ता है उस में अथवा एकाग्र बुद्धि में सूक्ष्मता प्राप्त करने के लिये धारण करे और महान् आत्मा को प्रकरणभूत शाँत आत्मा, पर पर्यवसान में स्थापित करे। इसलिये इस प्रकार पूर्वापर का विचार करते हुए प्रतिपक्षी के कल्पे हुए प्रधान का यहाँ अवकाश नहीं है ।। १ ।।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।। २ ।।

तु परन्तु सूक्ष्मं [अव्यक्त शब्द से स्थूल शरीर का हेतु रूप] सूक्ष्म [ग्रहण किया जाता है] तदर्हत्वात् उसके योग्य होने से।

पूर्व के सूत्र से ऐसा निरूपण किया गया है कि अव्यक्त शब्द शरीर का वाचक है, प्रधान का वाचक नहीं है। इस में यह शंका होती है कि अव्यक्त शब्द से शरीर का ग्रहण किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि शरीर तो स्थूल स्वरूप है इसलिये प्रत्यक्ष स्वरूप होने से व्यक्त रूप है और अव्यक्त शब्द का अर्थ यह है कि जो वस्तु स्पष्ट नहीं है, वह अव्यक्त है। इसका उत्तर

यह है कि यहां कारणात्मक सूक्ष्म शरीर का निरूपण है। अव्यक्त शब्द का अर्थ सूक्ष्म शरीर ग्रहण करना ही ठीक है। यद्यपि इस स्थूल शरीर को अव्यक्त रूप कहना योग्य नहीं है तो भी इस स्थूल की स्थिति सूक्ष्म भूतों द्वारा है, इसलिये अव्यक्त शब्द से कारण रूप शरीर का ग्रहण करना योग्य है। कई वार ऐसा होता है कि प्रकृति वाचक मूल शब्द द्वारा उसके विकारों का ग्रहण करने में आता है जैसे कि 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम् [ऋ०सं० ९।४६।४] (गाय में यानी गाय के विकार दूध आदि में तुमको सोमरस मिलाना चाहिये), श्रुति में भी कहा है 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' [बृ० १।४।७।] (तव यह सव जगत् अव्याकृत था)। यहां ऐसा कहा है कि यह जगत् जो नाम तथा रूप द्वारा परिच्छेद वाला है, वह पूर्व की अवस्था में विकार रूप नाम तथा रूप से रहित था यानो वीजावस्था में था, इसलिये उसका निरूपण अव्यक्त शब्द द्वारा हो सकता है ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

तदधीनत्वात् इस [अवस्था] के [परमात्मा के] आधीनता से अर्थवत् [वह] सार्थक है।

प्रतिपक्षीः—जिस में नाम रूप भिन्न २ नहीं हुए हैं, ऐसी पूर्वावस्था में रहा हुआ यह बीज स्वरूप जगत् अव्यक्त शब्द से कथन करने योग्य है, ऐसा माना जाय तो बीज स्वरूप से शरीर भी अव्यक्त शब्द से कथन करने योग्य है, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा मानने से तो उसी प्रधान कारण वाद का प्रसंग आवेगा, क्योंकि इस जगत् की पूर्वावस्था को ही प्रधान माना है।

सिद्धान्तीः—यदि हम जगत् की किसी एक प्राक् अवस्था को स्वतंत्र कारण मानें और इस प्रकार का प्रसंग लावें तो

प्रधान कारणवाद का प्रसंग आ सकता है, किन्तु हमारा मानना इस प्रकार है कि जगत की प्राक् अवस्था परमेश्वर के अधीन है, स्वतंत्र नहीं है। ऐसी अस्वतन्त्र जगत् की अवस्था माननी योग्य है और वह ही अवस्था सार्थक है। यदि उस अवस्था को स्वतन्त्र मानेंगे तो परमेश्वर का स्रष्टापना सिद्ध न होगा, क्योंकि शक्ति रहित परमात्मा की किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और मुक्त पुरुषों की फिर उत्पत्ति नहीं होती, इस का कारण यह है कि आत्म ज्ञान के उदय होने से उन के वीज शक्ति का नाश हो जाता है। वीज शक्ति अविद्या वाचक है। अव्यक्त शब्द से उसी का निरूपण करने में आता है। वह शक्ति परमेश्वर के अधीन, मायायुक्त और महा सुषुप्ति रूप है। आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव उस अवस्था का आश्रय करते हैं। उस माया रूप शक्ति का ही नाम अव्यक्त है। कितने ही स्थानों पर इस शक्ति को आकाश के नाम से निरूपण किया है। श्रुति में कहा है:—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' [बृह० ३ । ८ । ११] (हे गार्गी, वस्तुतः इस विनाश रहित में आकाश ओत प्रोत है)। कितने ही स्थानों पर अक्षर शब्द द्वारा इस शक्ति का कथन किया है, जैसे कि 'अक्षरात्परतः परः' [मु० २ । १ । २] (वह महान् अक्षर से भी पर है)। इसी शक्ति का कितने ही स्थानों पर माया शब्द द्वारा कथन किया है, जैसे कि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्' [श्वे० ४ । १०] (माया को प्रकृति रूप जान और मायी यानी माया के अधिपत्ति को महेश्वर जान)। इसी माया को अव्यक्त स्वरूप कहते हैं, क्योंकि वह तत्त्व रूप है अथवा उससे भिन्न है, इस प्रकार उस का स्वरूप निरूपण करना अशक्य है। 'अव्यक्तं महतः परम्' (महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है)

यह ऐसा दर्शाता है कि महत् की उत्पत्ति अव्यक्त से है, हिरण्यगर्भ सम्बन्धी बुद्धि महत् रूप है, इसी प्रकार जीव भी महत् रूप है ऐसा मानें तो भी जीवभाव अव्यक्त के अधीन होने से महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है, ऐसा कहा है, क्योंकि अविद्या अव्यक्त रूप है और अविद्या से ही जीव का सब व्यवहार हमेशा चालू रहता है। अव्यक्त महत् से श्रेष्ठ है, इसकी शरीर के साथ समानरूपता है, इसलिये अव्यक्त के विकार रूप शरीर में अव्यक्त की कल्पना की गई है। शरीर के समान इन्द्रियादि की भी अव्यक्त के विकार के साथ एकरूपता है इसलिये शरीर अव्यक्त के साथ समान स्वरूपता वाला होने से अव्यक्त रूप से शरीर का ग्रहण करने में आया है। इसी प्रकार शरीर की इन्द्रियों का ग्रहण स्व शब्द द्वारा करने में आता है और उन का स्व शब्द में ही समावेश होता है।

कोई २ इन सूत्रों का ऐसा व्याख्यान करते हैं—शरीर दो हैं, स्थूल और सूक्ष्म। जो दृश्य शरीर है वह स्थूल है, और 'तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' [ब्र० सू० ३। १। १] इस सूत्र से सूक्ष्म शरीर का वर्णन आगे किया जायगा। ये दोनों समान होने से पूर्व में रथ रूप से उनकी कल्पना की है। यहां पर अव्यक्त शब्द से सूक्ष्म शरीर ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अव्यक्त शब्द से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण करना ही युक्त हैं। बन्ध और मोक्ष का व्यापार इस अव्यक्त के अधीन है, इसलिये जीव से अव्यक्त की श्रेष्ठता है; जैसे कि इन्द्रियों का व्यापार पदार्थों के अधीन होने से इन्द्रियों से पदार्थों की श्रेष्ठता है।

इनसे पूछना चाहिये कि सूक्ष्म और स्थूल दोनों को समान समझ कर रथ रूप से कल्पना की है, इसलिये दोनों शरीर

प्रकृत हैं और उन दोनों का वर्णन अपेक्षित है तो इस स्थान पर सूक्ष्म शरीर का ग्रहण क्यों किया हैं ? और स्थूल शरीर का ग्रहण क्यों नहीं किया ?

यदि वे कहें कि हम तो वेद का अर्थ करने में ही समर्थ हैं, वेद सम्बन्धी वादविवाद करने में समर्थ नहीं हैं। वेद अव्यक्त पद से सूक्ष्म शरीर ही का प्रतिपादन करने में समर्थ है स्थूल का नहीं, क्योंकि स्थूल शरीर व्यक्त है; तो इस पर हमारा उत्तर यह है कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ की प्राप्ति एकवाक्यता के अधीन है। पहिले और पिछले दोनों वेदवचनों की एकवाक्यता किये विना किसी अर्थ का भी प्रतिपादन नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा करें तो प्रकृत अर्थ का नाश और अप्रकृत अर्थ का प्रतिपादन करने का दोष प्राप्त हो जायगा। और एकवाक्यता के लिये एक वाक्य को दूसरे वाक्य के अर्थ की आकांक्षा न हो तो दोनों की एकवाक्यता नहीं हो सकती। यहाँ पर पूर्व वाक्य में स्थूल और सूक्ष्म शरीर का कथन होने से दोनों प्रकार के शरीर आगे के वाक्य में लेने चाहिये, क्योंकि दोनों स्थान पर आकांक्षा समान है। ऐसा होते हुए भी दोनों का सम्बन्ध न मानोगे तो दोनों की एकवाक्यता में वाध आवेगा, फिर वेदवाक्य के अर्थ का बोध ही किस प्रकार होगा ? इसी प्रकार यह मानना भी ठीक नहीं है कि सूक्ष्म शरीर का शोधन तो कठिनाई से होता है, इस लिये यहाँ सूक्ष्म शरीर का ग्रहण है और स्थूल शरीर का यहाँ ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि उसमें दुर्गन्धता देखने में आती है और सहज ही में उसका शोधन (ज्ञान) हो सकता है। यहाँ किसी का ज्ञान कराना विवक्षित नहीं है और यहां किसी के शोधन सम्बन्धी किंचित् भी वर्णन नहीं है, परन्तु विष्णु का परमपद क्या है, इसी का वर्णन है, क्योंकि इसी पदका पूर्व वाक्य में

निर्देश है। अमुक श्रेष्ठ है और इस श्रेष्ठ से अमुक अधिक श्रेष्ठ है इस प्रकार कह कर श्रुति ने यह कहा है कि पुरुष से अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है।

यह स्थूल और सूक्ष्म सम्बन्धी वर्णन चाहे जैसा हो परन्तु यह सिद्ध हो जाने पर कि प्रधान अनुमान द्वारा निरूपित है हमको कुछ और सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। स्थूल सूक्ष्म के सम्बन्ध में तुम चाहे जो कुछ मानो उससे हमारे सिद्धांत में कुछ हानि नहीं होती ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

च और ज्ञेयत्वावचनात् ज्ञेयत्व के कथन के अभाव से [अव्यक्त शब्द से प्रधान का ग्रहण नहीं है]।

गुण और पुरुष के भेद के जानने से मोक्ष होता है, ऐसा कहते हुए सांख्य दर्शन वाले प्रधान को ज्ञेय रूप निरूपण करते हैं। गुण के स्वरूप को जाने बिना यह जानने में नहीं आता कि गुण और पुरुष में क्या भेद है। किसी स्थान पर विशेष ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त सांख्य वाले प्रधान को ज्ञेय रूप निरूपण करते हैं, परन्तु यहाँ अव्यक्तको ज्ञेय रूप से नहीं कहा है। सब स्थानों पर अव्यक्त शब्द मात्र कहा है, परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं कहा कि अव्यक्त जानने योग्य तथा उपासना करने योग्य है। जिस पदार्थ को जानने का उपदेश न हो, उस पदार्थ को जानने के लिये प्रयास करना ठीक नहीं है। इसलिये अव्यक्त शब्द से प्रधान का कथन कभी भी नहीं हो सकता। हमको तो यही ठीक मालूम होता है कि रथ की उपमा वाले शरीरादि के अनुसार विष्णु का परमपद ही दर्शनके निमित्त अव्यक्त का निरूपण किया गया है ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

वदति [श्रुति प्रधान को ज्ञेयत्व द्वारा] कहती है इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [यह कथन ठीक] नहीं है, हि क्योंकि प्रकरणात् [ब्रह्म के] प्रकरण से प्राज्ञः [इस वाक्य में] ब्रह्म [प्रतिपादन किया गया है, प्रधान नहीं] ।

सांख्य मत वाले कहते हैं कि 'ज्ञेयत्वावचनात्' (श्रुति में प्रधान के ज्ञेयत्व का स्वीकार नहीं है), ऐसा कहा है यह ठीक नहीं है । क्योंकि अव्यक्त शब्द से निरूपण किये गये प्रधान का ज्ञेय रूप से वर्णन श्रुति में भी हैं; जैसे कि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते ॥' [काठ० २ । ३ । १५] (वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय, इसी प्रकार रस रहित, नित्य, गन्ध रहित, अनादि, अनन्त महत्से पर और ध्रुव है इस प्रकार जो अधिकारी पुरुष इसे जानता है वह मृत्यु के मुख से छूट जाता है) । जिस प्रकार शब्दादि से रहित तथा महत् से पर प्रधान का स्मृति में निरूपण किया है इसी प्रकार श्रुति में भी ज्ञेयत्व से प्रधान का ही निरूपण किया है, इसलिये यहाँ पर भी प्रधान को ज्ञेय रूप जानना चाहिये ।

इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर प्रधान को ज्ञेय अर्थात् प्राप्य रूप नहीं कहा है, किन्तु प्राज्ञ परमात्मा का ही ज्ञेय–प्राप्य रूप से वर्णन करने में आया है । इसका कारण यह है कि यहाँ प्राज्ञपरमात्मा का ही विषय है, और यहाँ प्राज्ञपरमात्मा का ही विस्तार पूर्वक निरूपण किया है । यहाँ पर इस प्रकार कथन किया है:—'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः' (पुरुष से कोई पर नहीं है, वह ही परिसीमा है, वह ही परम

गति है), और 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽत्मा न प्रकाशते, (यह पुरुष प्राणी मात्र में गूढ रूप से रहा हुआ है, इसलिये वह दीखता नहीं)। इस प्रकार आत्मा को दुर्ज्ञेय कहकर आत्मा का ही ज्ञेयत्व सूचन किया है। इसी प्रकार 'यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञः' (वाणी तथा मन को प्राज्ञ आत्मा में लय करे) इस प्रकार आत्मा के ज्ञान के लिये ही वाणी आदि के संयम करने का विधान किया है, क्योंकि आत्म ज्ञान से ही मृत्यु के मुख से छूटना रूप फल होता है। केवल प्रधान के जानने से मृत्यु के मुख से छूट जाते हैं, ऐसा सांख्य वादी भी नहीं कह सकते। वे भी ऐसा कहते हैं कि चेतन रूप आत्मा के जानने से ही मृत्यु के मुख से छूटना होता है। सर्व वेदान्त में अशब्दादि धर्म से प्राज्ञ आत्मा का ही निरूपण किया गया है। इसलिये यहाँ प्रधान का ज्ञेय अथवा अव्यक्त रूप से निरूपण नहीं किया गया है ॥ ५ ॥

त्रयाणामेवं चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

च और त्रयाणाम् तीनों का (अग्नि जीव और ब्रह्म का) एव ही प्रश्नः प्रश्न च और उपन्यासः निरूपण [भी] एवम् इसी प्रकार [है इसलिये अव्यक्त प्रधान वाचक नहीं है]।

पूर्व सूत्र से यह तो सिद्ध हो गया कि यहां पर प्रधान ज्ञेय अथवा वाच्य नहीं है, क्योंकि अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीनों का ही इस स्थान पर निरूपण किया गया हैं। और कठवल्ली में यम ने भी वरदान द्वारा उन तीन वस्तुओं का ही वर्णन किया हैं। अब यह शंका होती है कि इन तीन के सिवाय किसी अन्य की भी सूचना की है या नहीं ? प्रथम 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' [काठ० १ । १ । १३] (हे यम, स्वर्ग प्राप्ति के साधन रूप

अग्नि के विषय में आप जानते हो, इसलिये मुझ श्रद्धालु से उसका कथन करो) इस प्रकार अग्नि सम्बन्धी प्रश्न किया है। दूसरा जीव सम्बन्धी यह प्रश्न है:—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥' [काठ० १।१।२०] (नचिकेता ने कहा कोई २ ऐसा कहते हैं कि मनुष्य के मरने के पीछे आत्मा का अस्तित्व है और कोई कहते हैं कि अस्तित्व नहीं है, इसलिये शंका होती है। मैं आपके उपदेश से यह जानू, ऐसा करो, वरों में यह मेरा तीसरा वर है) और परमात्मा सम्बन्धी यह प्रश्न पूछा है कि 'अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रा स्मात्कृता-कृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसितद्वद ॥' [काठ० १।२।१४] (धर्म से अन्य, अधर्म से अन्य, इस कार्य और कारण से अन्य, भूत से अन्य, भविष्यत् से अन्य जो तू देखता है, उसको कह)। अग्नि सम्बन्धी पूछे हुए प्रश्न का उत्तर यह है:—'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्ट का यावतीर्वा यथा वा' [काठ० १।१।१५] (लोकों के कारण रूप उस अग्नि को उससे कहा तथा उसमें ईंटें कितनी होती हैं और किस प्रकार रखी जाती हैं यह बताया) जीव सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर यमराज से इस प्रकार मिला था:–'हंत त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनु-संयन्ति यथा कर्म यथाश्रुतम् ॥' [काठ० २।५।६।७] (अब मैं तुझ से सनातन ब्रह्म फिर कहूँगा, गोप्य – गुप्त रखने के योग्य है और, हे गौतम, उसके जानने से संसार का सम्बन्ध किस प्रकार टूट जाता है और किस प्रकार उसको न जानने से अज्ञानी मृत्यु को प्राप्त होकर फिर-फिर शरीर को धारण करता।

है, वह सव सुन। मृत्यु के पीछे कितने ही अज्ञानी देह धारण करने के निमित्त जन्म ग्रहण करते हैं, दूसरे कितने ही अत्यन्त पापी वृक्षादि स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं। इस लोक में जैसे कर्म किये जाते हैं और जिस प्रकार का सच्चा या झूँठा ज्ञान प्राप्त किया होता है, उसके अनुसार जीव को शरीर की प्राप्ति होती है), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [काठ० १।२।१८] (विद्वान् कभी न जन्मता है न मरता है) इत्यादि में वहुत विस्तार से परमात्मा का निरूपण किया है। प्रधान सम्वन्धी प्रश्न यहां कहीं पूछने में नहीं आया। जव पूछने में ही नहीं आया तो पीछे उसके सम्वन्ध में उत्तर कहां से हो ?

पूर्वपक्षी:—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति' (मनुष्य के मरने के पीछे जो संशय होता है कि आत्मा का अस्तित्व है) इस प्रकार आत्मा सम्वन्धी प्रश्न पूछने में आया है। अव 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (धर्म से अन्य अधर्म से अन्य) इसका समावेश क्या आत्मा सम्वन्धी प्रश्न में है अथवा इससे कोई दूसरा प्रश्न पूछने में आया है ? यहां क्या समझना चाहिये ? यदि तुम ऐसा कहो कि इस प्रश्न को फिर दूसरी वार पूछा है तो पीछे के आत्मा सम्वन्धी जो दो प्रश्न हैं, वे एक रूप ही हो जांयगे और ऐसा होने से अग्नि सम्वन्धी और आत्मा सम्वन्धी ऐसे दो प्रश्न ही रह जांयगे और यहां तीन प्रश्न पूछे गये हैं इसलिये ऐसा नहीं कह सकते कि दो ही प्रश्न हैं। यदि कहो कि आगे एक नवीन ही प्रश्न किया गया है तो वर देने में जो प्रश्न किये है, उनसे भिन्न प्रश्न करने में यदि दोष नहीं है, तो ऐसा प्रश्न न पूछने पर भी प्रधान की सूचना करने में कोई दोष न होना चाहिये।

सिद्धान्ती:--यहां पर वर देने के सिवाय हम किसी अन्य प्रश्न की कल्पना नहीं करते; क्योंकि यहां वर देने का जैसा क्रम है उसके अनुसार ही उत्तर दिया गया है। वरदान देने के क्रम के अनुसार मृत्यु तथा नचिकेता के संवाद रूप से ही कठवल्ली की समाप्ति पर्यन्त वचन प्रवृत्ति देखने में आती है। पिता के भेजे हुए नचिकेता से मृत्यु ने तीन वरदान मांगने को कहा था। उनमें से प्रथम वरदान से नचिकेता ने यह मांगा कि पिता मुझ पर प्रसन्न हो। दूसरे वरदान से अग्नि विद्या और तीसरे वरदान से ब्रह्मविद्या माँगी। 'ये यं प्रेते' इस प्रकार का प्रश्न वरदानों में तीसरा वरदान था इस प्रकार श्रुति में कहा है। अन्यत्र 'धर्मात्' इत्यादि वचन इन तीनों प्रश्नों से भिन्न अन्य प्रश्न रूप समझा जाय तो वरदान देने से भिन्न प्रश्न की कल्पना होगी तथा ऐसा करने से श्रुति के वचन में बाध आवेगा।

प्रतिपक्षी:—जिस प्रश्न का आगे उत्तर है उससे यह प्रश्न भिन्न है, इसलिये वह एक नवीन ही प्रश्न होना चाहिये। प्रथम प्रश्न जीव सम्बन्धी है क्योंकि उसमें पूछा है कि मनुष्य के मर जाने के पीछे आत्मा का अस्तित्व है या नहीं। जीव धर्मादि का विषय होने से 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रकार का प्रश्न उसके लिये नहीं हो सकता। परन्तु प्राज्ञ आत्मा धर्मादि से परे होने से 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रकार जो प्रश्न किया है, वह उसके लिये युक्त है। प्रश्नों की छाया यानी भाषा आदि भी देखते हुए ये दोनों प्रश्न एक से प्रतीत नहीं होते। प्रथम प्रश्न तो (जीव के) अस्तित्व और नास्तित्व सम्बन्धी है और पिछला प्रश्न उस वस्तु के सम्बन्ध में है जो धर्मादि से परे है। वैसे ही, दोनों प्रश्न

एक ही है ऐसा ज्ञान न होने के कारण दोनों प्रश्न भिन्न हैं, इसलिये पहिला प्रश्न ही आगे नहीं चलता।

सिद्धान्ती:—तेरा यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि जीव और प्राज्ञ का एक ही लक्षण है। यदि प्राज्ञ से जीव भिन्न होता तो पूछने के विषय के भेद से प्रश्न का भी भेद होता परन्तु इस प्रकार का भेद नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि अनेक श्रुतियों से जीवात्मा और परमात्मा की एकता सिद्ध की गई है। 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है:—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (विद्वान् न जन्मता है और न मरण को प्राप्त होता है), इस प्रकार जन्म मरण के अभाव से जीव और परमेश्वर का अभेद है, ऐसा दिखलाया है। जीव ईश्वर का अभेद होने से ही जन्म मरण का अभाव हो सकता है। शरीर के संसर्ग से ही जीवात्मा के जन्म मरण का प्रसङ्ग आता है, किन्तु परमात्मा का नहीं आता। श्रुति में कहा है:—'स्वप्नान्त जागरितान्तं चौभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [काठ० २।४।४] (जिस आत्मा से पुरुष स्वप्न में क्या होता है और जाग्रत में क्या होता है, इन दोनों को जानता है, उस आत्मा को महान् और सर्वत्र व्यापक मान कर विवेकी पुरुष शोक को प्राप्त नहीं होता)। इस प्रकार स्वप्न तथा जाग्रत अवस्था को देखने वाले जीव को महत्व तथा विभुत्व रूप जानने से शोक का नाश होता है। यह श्रुति ऐसा सूचन करती है कि प्राज्ञ से जीव को भिन्न न देखना चाहिये। वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि प्राज्ञ के ज्ञान से शोक का नाश होता है। कठ के आरम्भ में कहा है:—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [काठ० २।४।१०] (जो यहां है यानी जीवोपाधि में है, वह ही वहां

यानी ईशोपाधि में हैं; इसी प्रकार जो वहाँ यानी ईशोपाधि में हैं वह ही यहाँ यानी जीवोपाधि में है। जो इसमें भिन्नता देखता है, वह एक मृत्यु के पीछे दूसरे मृत्यु को प्राप्त होता है) इस प्रकार जीव और प्राज्ञ की भेद दृष्टि का श्रुति निषेध करती है। प्रथम नचिकेता ने जीव सम्बन्धी अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न किया है। पीछे मृत्यु ने कहा है:—'हे नचिकेता, तू इसके सिवाय दूसरा वर मांग।' इस प्रकार यम ने नचिकेता को अनेक प्रकार का लोभ दिया। परन्तु जब वह चलायमान न हुआ तब यम ने अभ्युदय और मोक्ष का विभाग करके विद्या और अविद्या का विभाग समझा कर इस प्रकार कहा:—'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये नावा कामा बहवोऽलोलुपन्त' [काठ० १।२।४] (हे नचिकेता, मैं समझता हूँ कि तू ज्ञान की अभिलाषा वाला है, क्योंकि अनेक कामनाओं से भी तू प्रलोभित नहीं हुआ)। इस प्रकार यम ने नचिकेता की प्रशंसा करके फिर उसके पूछे हुए प्रश्न की प्रशंसा करते हुए कहा:—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥' [काठ० १।२।१२] (जिस आत्मा को देखना दुर्लभ है, जो गूढ है और सब में रहा है, जो बुद्धि रूपी गुफा में रहा हुआ है, श्रम उत्पन्न करने वाले कार्य कारण रूप अनर्थ में रहा हुआ है, जो अनन्त है, ऐसे आत्मा का चित्त के निदिध्यासन द्वारा साक्षात् करके धीर पुरुष हर्ष तथा शोक को त्याग करता है)। इस प्रकार इस श्रुति से ऐसा सिद्ध होता है कि यम ने भी जीव तथा प्राज्ञ का अभेद दर्शाया है। जिस प्रश्न के करने से मृत्यु ने नचिकेता की महान् प्रशंसा की थी, प्रशंसा प्राप्त करने के बाद यदि उस प्रश्न का त्याग करके वह दूसरा प्रश्न पूछता तो मृत्यु ने जो प्रशंसा की थी वह

योग्य न कही जाती। इसलिये सिद्ध होता है कि 'ये यंप्रेते' ऐसा जो प्रश्न है उसका ही शेष 'अन्यत्र धर्मात्' है। तेरा कहना यह है कि प्रश्न की छाया में भिन्नता है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रश्न के सम्बन्ध में ही आगे विशेष पूछने में आया है। प्रथम देहादि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व पूछने में आया है, पीछे उसी आत्मा का असंसारित्व पूछा गया है। जब तक अविद्या का नाश नहीं होता तब तक धर्मादि के विषय रूप जीव के जीवत्व का नाश नहीं होता। जब जीव के जीवत्व की निवृत्ति होती है तब 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों से आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा चाहे अविद्या युक्त हो, चाहे विद्या युक्त हो, मूल आत्म वस्तु के सम्बंध में कुछ भी भिन्नता नहीं होती। जिस प्रकार कोई पुरुष अंधेरे में पड़ी हुई किसी एक रस्सी को सर्प रूप माने, और डर कर कांपता हुआ वहां से भागे। दूसरा मनुष्य वहां आकर कहे कि भाई, तू डर मत, यह सर्प नहीं है, रस्सी है। तब पहिले डरा हुआ पुरुष उसके वाक्य को सुनकर सर्प से उत्पन्न हुए भय का त्याग करता है और कांपने और भागने का भी त्याग करता है। इस प्रकार जब मनुष्य की बुद्धि में सर्प की भ्रांति होती है और जब सर्प की भ्रांति का नाश हो जाता है, इन दोनों अवस्थाओं में वस्तुत्व में कुछ भी भिन्नता नहीं होती। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। इसलिये 'न जायते म्रियतेवा' यह श्रुति का वचन आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर है। परन्तु यह सूत्र अविद्या कल्पित जीव और प्राज्ञ के भेदकी अपेक्षा से है, ऐसा जानना चाहिये। अर्थात्, यहां पर यद्यपि दोनों वाक्यों में आत्मा सम्बन्धी एक ही प्रश्न पूछा है तो भी प्रश्न का पूर्व भाग जीव सम्बन्धी ही है ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि देह

से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी वहां संशय किया है तथा जीव के कर्तृत्वादि संसारी स्वभाव का प्रतिषेध नहीं किया है। परन्तु प्रश्न का उत्तर भाग परमात्मा सम्बन्धी है क्योंकि वह धर्मादि से अतीत है ऐसा वहां उल्लेख है। इसलिये, यहां अग्नि, जीव और परमात्मा की कल्पना योग्य है, प्रधान की नहीं। प्रधान की कल्पना में न वरदान की प्राप्ति है न प्रश्न है और न उसका उत्तर, यह विषमता है ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

च और महद्वत् [श्रुति के] महत् [शब्द] के समान [श्रुति का अव्यक्त शब्द भी प्रधान का वोधक नहीं है]।

सांख्यवादी जैसे महत् शब्द की प्रथम उत्पन्न हुई सत्ता मात्र के अर्थ में योजना करते हैं इस प्रकार वेद में कहीं भी प्रतिपादन नहीं किया है। श्रुति में कहा है:—'बुद्धेरात्मा महान् परः' [काठ० १।३।१०] (बुद्धि से महान् आत्मा पर है) 'महान्तं विभुमात्मानम्' [काठ० १।२।२२] (महान् विभु आत्मा को) 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' [श्वेता० ३।८] (मैं इस महान् पुरुष को जानता हूं) इत्यादि श्रुतियों में हेतु रूप से आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है और ऐसा कहीं नहीं है कि अव्यक्त शब्द को प्रधान रूप से कहा हो। इससे सिद्ध होता है कि अनुमानसिद्ध प्रधान वेदप्रतिपादित नहीं है ॥ ७ ॥

(२) चमसाधिकरण। सू० ८-१०

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

चमसवत् चमस के समान अविशेषात् विशेष [निश्चय के कारण] के अभाव से [नियम पूर्वक ऐसा नहीं कह सकते कि श्रुति में अजा शब्द प्रधान का वोधक है।]

प्रधानवादी कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है कि प्रधान वेदप्रतिपादित नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रुति में ऐसा कहा है:—'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' [श्वेता० ४ । ५] (जन्म से रहित ऐसा एक अज (आत्मा) अपने भोग के निमित्त रक्त, शुक्ल तथा कृष्ण वर्ण वाली, जन्म से रहित ऐसी एक अजा (माया) के समीप जाता है और अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करता है। जन्म रहित ऐसा अन्य अज (जीव) भोग भोगने के पीछे इस माया को त्याग देता है) इस मंत्र में रक्त, शुक्ल तथा कृष्ण शब्दों से रज, सत्त्व और तम का निरूपण किया है। रक्त रज रूप है, क्योंकि वह रंजन (राग) करता है, शुक्ल सत्त्व रूप है क्योंकि वह प्रकाश वाचक है। कृष्ण तम रूप है, क्योंकि वह आवरण वाचक है। गुणों की साम्यावस्था का अवयवों के धर्मों से निर्देश किया हुआ होने से उसको यहां रक्त शुक्ल और कृष्ण कहा है। जिसका जन्म न हुआ हो, वह अजा कहलाती है। सांख्य मत के अनुसार मूल प्रकृति विकार से रहित है। अजा शब्द का लौकिक अर्थ बकरी है, परन्तु रूढ़ि प्रतिपादित शब्द का आश्रय लेना योग्य नहीं है, क्योंकि विषय विद्या सम्बन्धी है। यह अजा रूप प्रकृति ही गुण वाली अनेक प्रजाओं को उत्पन्न करती है। एक पुरुष इस अजा रूप प्रकृति को भोगता है, उस पर प्रीति रखता है और उसके पास रह कर उसका सेवन करता है। अविवेक के कारण मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, ऐसा मानता है और संसार को प्राप्त होता है तथा दूसरा पुरुष विवेक-ज्ञान के उत्पन्न होने से विरक्त होकर इस प्रकृति का भोग करके उसका त्याग करता है यानी वह भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त

करता है। इस प्रकार सांख्य की प्रधानादि की कल्पना युक्त है।

इसका उत्तर यह है कि तेरा यह कथन ठीक नहीं है, इस मन्त्र से सांख्यवाद श्रुतिसंमत है ऐसा कहना युक्त नहीं है। यह मन्त्र स्वतन्त्रता से किसी वाद को भी ग्रहण नहीं करता। कुछ न कुछ कल्पना करके अजात्व आदि किसी वस्तु में प्रतिपादित किये जा सकते हैं। इससे यहां पर सांख्य वाद ही अभिप्रेत है ऐसा निश्चित होने के लिये यहां कोई विशेष कारण नहीं मिलता। जैसे नीचे की श्रुति में चमस पात्र के सम्बन्ध में आया है—'अर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नः' [बृह० २। २। ३] (जिसका मुख नीचे और पेंदा ऊपर किया गया है ऐसा पात्र)। इस मन्त्र में चमस नाम का पात्र स्वतन्त्र रीति से माना हो, ऐसा समझना ठीक नहीं है, कोई भी सामान्य पात्र जिसका मुख नीचा हो और पेंदा ऊपर हो, ऐसा मान सकते हैं इसी प्रकार यहां 'अजामेकां' इत्यादि मंत्र में अजा शब्द सामान्य रीति से निरूपण किया गया है। यहां ऐसा समझना ठीक नहीं है कि अजा शब्द से प्रधान का ही निरूपण है ॥ ८ ॥

यदि कहो कि ऊपर के वाक्य का इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः ।, (जिसका ऊपर मुख और नीचे पेंदा होता है ऐसा चमस सिर है) यह वाक्य शेष है। इससे पदार्थ विशेष को चमस कहते हैं ऐसा जान सकते हैं, परन्तु प्रकृत वाक्य में अजा क्या है यह कैसे जाना जाय ? इसका उत्तर देते हैं—

ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

तु निश्चय ज्योतिरूपक्रमा ज्योति (तेज) जिसमें मुख्य है, वह [यह अजा है, ऐसा जानना] हि क्योंकि एके एक [शाखा वाले] तथा इसी प्रकार अधीयते अध्ययन करते हैं।

यहाँ पर अजा का निरूपण इस प्रकार है :—परमेश्वर से जिसकी उत्पत्ति है, जिसमें ज्योति मुख्य है, जो तेज, जल तथा अन्न के लक्षण वाला है, तथा जो चार प्रकार के भूत समूह की प्रकृति है, उस अजा का इस स्थान पर ग्रहण है, यहाँ पर 'तु' शब्द लगाया है उसका अर्थ निश्चय है। तीन भूत लक्षण वाली अजा का इस जगह निरूपण है, तीन गुणों के लक्षण वाली अजा का यहाँ निरूपण नहीं है। यदि कहो कि तीन भूत लक्षण वाली अजा यहाँ कैसे समझी जाय, तो उसका उत्तर यह है कि तेज, जल तथा अन्न की उत्पत्ति परमेश्वर से है। एक शाखा वाले इस प्रकार मानकर ऐसा समझते हैं कि उन तेज आदि के ही रोहितादि रूप हैं; जैसे कि श्रुति में कहा है :—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्द्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य (अग्नि में रोहित रूप तेज का है, शुक्ल रूप जल का है और कृष्ण रूप अन्न का है) रोहित आदि शब्द से तेज, और अन्न का ग्रहण हो सकता है। रोहितादि शब्दों का मुख्य अर्थ रूप विशेष है और गुणों के अर्थ में गौण रूप से लागू पड़ता है। असंदिग्ध वचन से संदिग्ध वचन का निर्णय करना युक्त है। 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म' [श्वेता० १ । १] (ब्रह्मवादी कहते हैं, क्या ब्रह्म कारण है) यहाँ इस पकार उपक्रम करके 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम् [श्वेता० १ । ३] (ध्यान योग में गये हुए उन्होंने देवात्म की शक्ति अपने गुणों से ढकी हुई देखी) इस प्रकार परमेश्वर की शक्ति से सब जगत् हुआ है, ऐसा श्रुति के वचन से विदित होता है। श्रुति के उपक्रम में कहा है :—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [श्वेता० ४ । १०] (माया को प्रकृति जान और माया वाले को महेश्वर जान) और कहा है:— यो योनिं योनिमधितिष्ठ-

त्येकः [श्वेता० ४ । ११] (जो एक होने पर भी प्रथम योनि तथा अन्य योनियों का अधिष्ठाता है)। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि इस शक्ति से स्वतन्त्र कोई भी प्रकृति के प्रधान के नाम से अजामंत्र से कही गई हो। अव्याकृत नाम तथा रूप वाली यह ही दैवी शक्ति है। यह शक्ति नाम और रूप से भी प्रथम रही हुई है, ऐसा वेद में कहा है। उसके विकार तीन रूप वाले होने से उसका स्वरूप तीन रूप वाला कहा है ॥ ९ ॥

तेज, जल और अन्न इन तीन लक्षणों से तीन रूप वाली अजा की प्रतीति किस प्रकार होती है ? क्योंकि तेज, जल और अन्न में अजा की कोई आकृति नहीं है और तेज, जल और अन्न का जन्म श्रुति में सुनने में आता है इसलिये उनमें जन्म से रहित अजा शब्द लग नहीं सकता। इसके उत्तर में आगे का सूत्र कहते हैं:—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

च और मध्वादिवत् [आदित्यादिक में] मधु आदि के समान कल्पनोपदेशात् कल्पना का उपदेश होने से अविरोधः अविरोध [है]।

यह 'अजा' शब्द अजा की आकृति को लागू नहीं पड़ता और यौगिक भी नहीं है। तो कैसा हैं ? इसमें कल्पना का उपदेश है, यानी तेज, जल और अन्न लक्षण वाली चराचर योनियों में अजा की साहश्य कल्पना उपदेश की गई है। जैसे लोक में दैवयोग से कोई अजा (बकरी) लाल, सफेद और काले रंग वाली, बहुत से समान रंग के बच्चों वाली हो और कोई अज [बकरा] इस पर प्रेम करता हुआ इसके पास शयन करता हो और भोग भोगने के पीछे उसका त्याग कर चुका हो; इसी

प्रकार यह भूत प्रकृति भी तेज. जल और अन्न लक्षण रूप तीन रंग वाली, बहुत से समान रूप वाले चराचर लक्षण वाले विकार समूह को जन्म देती है। अविद्वान् जीव इसका उपभोग करता है और विद्वान् इसका त्याग करता है। और यह शंका भी न करनी चाहिये कि एक जीव इसके पास शयन करता है और दूसरा इसका त्याग करता है इससे पारमार्थिक भेद प्राप्त होता है, जैसा कि साँख्य को इष्ट है। क्योंकि यहां जीव का भेद प्रतिपादन करने की इच्छा नहीं है किन्तु बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था प्रतिपादन करने की इच्छा है। प्रसिद्ध भेद को स्वीकार न करके यहां बंध और मोक्ष की व्यवस्था प्रतिपादन की गई है। भेद तो उपाधि के कारण है और मिथ्या ज्ञान से कल्पा हुआ है, पारमार्थिक भेद नहीं है। क्योंकि, 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा' (एक देव सब भूतों में गूढ़ है, सब में व्यापा हुआ है और सब भूतों का अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। जैसे आदित्य मधु नहीं है तो भी उसको मधु कहा है (छान्दो० ३ । १) जैसे वाणी धेनु नहीं है तो भी उसको धेनु कहा है (बृह० ५ । ८) और द्युलोक आदि अग्नि नहीं है तो भी अग्नि कहा है (बृह० ८ । २९), इत्यादि कल्पनायें जिस प्रकार की गई हैं, इसी प्रकार भूत प्रकृति अजा नहीं है तो भी उसको अजा कल्पा है, ऐसा अर्थ है। इसलिये तेज, जल और अन्न के लिये अजा शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं है ॥ १० ॥

(३) संख्योपसंग्रहाधिकरण । सू० ११–१३

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

संख्योपसंग्रहात् संख्या के उपसंग्रह से अपि भी न [प्रधान

वैदिक] नहीं है नानाभावात नाना धर्म से च और अतिरेकात् विशेष से।

इस प्रकार अजा मंत्र में सांख्य का खण्डन किया अब दूसरे मंत्र से सांख्य खड़ा होता है:—'यस्मिन् पञ्च-पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोमृतम्' [बृह० ४। ४। १७] (जिसमें पांच पांच जन और आकाश स्थित है उसी आत्मा को अमृत ब्रह्म मानता हूँ, मैं ऐसा जानता हूँ इसलिए मैं अमृत हूँ) इस मन्त्र में 'पञ्च पञ्चजनाः (पांच पांच जन) इस प्रकार पांच को संख्या लगाते हुए भी दूसरी पांच की संख्या का श्रवण है, क्योंकि पांच शब्द दो बार देखने में आता है। पांच पंजे (५ × ५) पच्चीस होते हैं। सांख्य वाले पच्चीस ही तत्त्व मानते हैं, जैसे कि 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' [सांख्यका० ३] (मूल प्रकृति जो किसी को विकृति नहीं है, महदादि सात, ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष जो प्रकृति अथवा विकृति दोनों नहीं है)। श्रुति प्रसिद्ध पच्चीस संख्या से और स्मृति प्रसिद्ध पच्चीस तत्त्वों के संग्रह से यह सिद्ध होता है कि प्रधानादि श्रुति प्रतिपादित हैं।

इसके विषय में कहना चाहिए कि संख्या के संग्रह से भी ऐसी आशा न करनी चाहिये कि प्रधान आदि श्रुति प्रतिपादित हैं। क्योंकि, ये पच्चोस तत्त्व भिन्न हैं। इनमें पांच-पांच का कोई साधारण धर्म नहीं है कि जिससे पच्चीस को संख्या में पांच पांच की संख्या रहती हो क्योंकि एक आधार विना पृथक् भूतों में दूसरी संख्या का समावेश नहीं होता। यदि कहो कि अवयव

द्वारा पच्चीस संख्या ही समझी जाती हैं जैसे 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' (पांच और सात वर्ष मेघ नहीं वर्षा) इसमें बारह वर्ष की अनावृष्टि कही है, तो यह ठीक नहीं है। इस पक्षमें यही दोष है कि इसमें लक्षणा का आश्रय करना पड़ता है। यहां पीछे के पांच शब्द और जन शब्द साथ जुड़े हुए हैं, इससे पंचजन ऐसा शब्द हुआ है, क्योंकि पारिभाषिक स्वर द्वारा यह एक ही पद है, ऐसा निश्चय होता है। जैसे अन्य स्थल पर श्रुति में कहा है 'पंचानां त्वा पंच जनानाम्' [तै० १।६।२।२] (तुझे पांच पांच जनों का) इसमें एक पद, एक स्वर और एक विभक्ति है, ऐसा निश्चय होता है। इसलिये यह समस्त पद होने से पांच पांच ऐसा द्विरुक्ति का दोष नहीं लगता। इसी प्रकार पांच पांच कहने से दश का ग्रहण भी नहीं होता, पांच पांच की संख्या में एक पांच की संख्या दूसरी पांच की संख्या का विशेषण हो, ऐसा नहीं है। गौण का मुख्य के साथ संयोग बन नहीं सकता।

प्रतिपक्षी:--पाँच की संख्या वाले जन दूसरे पांच का विशेषण हो तो पच्चीस संख्या बन सके जैसे 'पांच पांच की गड्डी ला' ऐसा कहने से पच्चीस हो सकते हैं, इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

समाधानः—ऐसा नहीं बन सकता। जो पांच गड्डी इस शब्द का समाहार द्वन्द्व समास लें तो संख्या के भेद के ग्रहण करने से पाँच गड्डी पाँच बार ऐसा विशेषण हो तो पच्चीस हों। यहाँ प्रथम से ही पंचजनाः ऐसे भेद का ग्रहण है, इसलिये कितने ऐसे विशेषण की आकांक्षा नहीं है। पाँच शब्द पांच जन का विशेषण नहीं होता और विशेषण माने तो वह पांच संख्या का ही है ऐसा मानना पड़ेगा और उसमें दोष बता चुके हैं।

इसलिये पांच पांच जन, इससे पच्चीस तत्त्व इष्ट नहीं है, क्योंकि तत्त्वों की संख्या पच्चीस से अधिक है, इसलिये पच्चीस तत्त्व का अभिप्राय नहीं लिया जा सकता। पच्चीस की संख्या में आत्मा और आकाश ये दो तत्त्व अधिक होते हैं। यहाँ आत्मा को प्रतिष्ठा का आधार बताया है। यस्मिन् (जिसमें) इस सप्तमी से आत्मा का निरूपण किया गया है और अन्त में कहा है कि उसको मैं आत्मा मानता हूँ। आत्मा चेतन पुरुष रूप है। यह आत्मा पच्चीस तत्त्वों के भीतर रहा हुआ है, इसलिये उनमें आधार और आधेय की भावना से यदि भिन्न अर्थ माना जाय तो पच्चीस तत्त्वों की संख्या में अधिकता होगी, जो सांख्य मत से विरुद्ध है। और मन्त्र में कहा है कि 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' (और आकाश प्रतिष्ठित है) ऐसे आकाश को पच्चीस के भीतर गिनें तो उसको पृथक् गिनना योग्य नहीं है। भिन्न मानने का दोष प्रथम कह चुके हैं। जहाँ श्रुति में मात्र संख्या का निरूपण किया है वहाँ निरूपण न किये पच्चीस तत्त्वों के संग्रह की प्रतीति किस प्रकार हो सके? क्योंकि जन शब्द का अर्थ तत्त्व नहीं होता। यदि कहो कि अर्थ भिन्न मानने पर भी जब संख्या की प्रतीति नहीं होती तो 'पंच पंच जनाः' क्यों कहा है? उसका उत्तर यह है कि दिशा और संख्या वाचक शब्द संज्ञा वाचक शब्दों के साथ जोड़ने में आते हैं जैसे कि 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' [पा० सू० २।१।५०] इस रीति से पंच शब्द का जन शब्द के साथ समास हुआ है। इसलिये रूढि द्वारा किसी पंच जन संज्ञा का निरूपण किया गया है, परन्तु सांख्य के अभिप्राय का निरूपण नहीं है वे संख्या में कितने हैं, यह दिखाने के लिये फिर पांच संख्या का निरूपण किया गया है। पाँच की संज्ञा वाला जो

कोई है, वह पाँच है; जैसे कि कहा जाता है कि सप्त ऋषि सात हैं ॥ ११ ॥

वे पंचजन संज्ञक कौन है, इसके उत्तर में कहते हैं :—

प्राणदयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

वाक्यशेषात् वाक्यशेष से प्राणादयः प्राणादि [पाँच जन हैं] ।

'यस्मिन् पंच पञ्चजनाः' (जिसमें पांच पांच जन) इत्यादि के पिछले मन्त्र में ब्रह्म स्वरूप का निरूपण करने के लिये प्राणादि का कथन किया है :—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनोविदुः' (जो प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न के अन्न और मन के मन को जानते हैं ।) यहां वाक्य शेष में आये हुए वे (प्राणादि) सन्निधान से पाँच जन रूप कहे गये हैं ।

शंका : इन प्राणादि में ही जन शब्द का प्रयोग किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर :—तब जन शब्द का प्रयोग तत्त्व में किस प्रकार हो सकता है ? प्रसिद्धि का उल्लंघन दोनों पक्षों में समान होने से वाक्य शेष के बल से प्राणादि का ग्रहण करना ही ठीक है । और मनुष्य के साथ सम्वन्ध होने से प्राणादि में जन शब्द का प्रयोग होता है । और 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म पुरुषाः' [छान्दो० ३ । १३ । ६] (वे ये पाँच ब्रह्म पुरुष हैं), इसमें जन वाचक पुरुष शब्द का प्राण के लिये प्रयोग किया गया है । वैसे ही 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' [छान्दो० ७ । १५ । १] (प्राण पिता है, प्राण माता है) ऐसा ब्राह्मण भाग में कहा है । और समास के वल से यहाँ जन शब्द समुदाय वाचक लेने में विरोध नहीं है ।

शंका :—जन शब्द का अर्थ मनुष्य न लेते हुए समुदाय ऐसा रूढ अर्थ क्यों लेते हो ?

उत्तर :—उद्भिद आदि शब्दों के समान रूढ अर्थ लेना यहां विशेष योग्य है। जब प्रसिद्ध अर्थ के समीप में अप्रसिद्ध अर्थ वाले शब्द का प्रयोग हो तो पास के सम्बन्ध से वह उसी अर्थ वाला होता है, ऐसा नियम है! जैसे 'उद्भिदा यजेत' (उद्भिद से यज्ञ करे), 'यूपं छिनत्ति' (वृक्ष को छेदता है) और 'वेदिं करोति' (वेदि करता है) इसी प्रकार यह पंच जन शब्द भी समास के अर्थ से संज्ञा भाव को प्राप्त करके संज्ञी की आकांक्षा वाला होकर वाक्य शेष में कहे हुए प्राणादि के लिये है ऐसा निश्चय होता है। कोई तो इसका देव, पितृ, गन्धर्व, असुर और राक्षस ऐसा व्याख्यान करते हैं। दूसरों ने चार वर्ण और पांचवें निषाद का ग्रहण किया है। और कहीं 'यत् पाञ्च जन्यया विशा' [ऋ० सं० ८। ५३। ७] (उस पंचजन की प्रजा यानी पुरुष ने) इस प्रकार पंच जन शब्द का प्रजा के अर्थ में प्रयोग देखने में आता है। इसके ग्रहण करने में भी कुछ विरोध नहीं है आचार्य जो ऐसा कहते हैं कि 'प्राणदयो वाक्य शेषात्' इससे उनका अभिप्राय यह ही है कि यहाँ पच्चीस तत्त्वों की प्रतीति नहीं होती ॥ १२ ॥

शंका:—माध्यंदिनी शाखा वाले अन्न को प्राण आदि में शामिल करते हैं, इसलिये पंच जनसे प्राणादि का निरूपण हो सकता है, परंतु कण्व शाखावाले पंचजन शब्द से प्राणादि का ग्रहण किस प्रकार कर सकते हैं जब कि वे तो अन्न को प्राणादि में शामिल नहीं करते।

.इसके उत्तर में नीचे का सूत्र पढ़ते हैं :—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

एकेषाम् कण्व शाखा वालों में अन्ने अन्न [शब्द] असति न होने पर ज्योतिषा ज्योति [शब्द] से [पांच की संख्या पूरी होती है]।

कण्व शाखा वालों के पाठ में अन्न शब्द नहीं है तो भी ज्योति शब्द से उनकी पांच की संख्या पूरी हो जाती है; क्योंकि, वे भी 'यस्मिन् पंच पंच जनाः' (जिसमें पांच पांच जन) इत्यादि से पूर्व मन्त्र में ब्रह्म स्वरूप का निरूपण करने के लिये ही ज्योति का अध्ययन करते हैं। जैसे कि 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (ज्योतियों के ज्योति के समान देव है)।

शंका :—दोनों ही एक ज्योति को समान रीति से पढ़ते हैं, तो फिर एक ही मंत्र में आई हुई पांच की संख्या से कोई तो इसका ग्रहण करते हैं और कोई नहीं करते, ऐसा क्यों है ?

समाधान :—अपेक्षा के भेद से ऐसा होता है। माध्यंदिनी शाखा वालों को एक ही मन्त्र में पढ़े हुए प्राणादि से पाँच जन प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये उनको दूसरे मन्त्र में पढ़े हुए ज्योति शब्द की अपेक्षा नहीं है और कण्व शाखा वालों को पांच की संख्या प्राप्त नहीं होती इसलिये उनको अपेक्षा रहती है। अपेक्षा के भेद से समान मन्त्र में ही पढ़े हुए ज्योति का ग्रहण होता भी है और नहीं भी होता। जैसे एक ही अतिरात्र यज्ञ में वचन के भेद से शोडशी पात्र का ग्रहण होता भी है और नहीं भी होता। इस प्रकार प्रधान संबंधी कथन श्रुति में कहीं भी नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ। स्मृति और न्याय में जो प्रधान का ग्रहण है, उसका खडन आगे करने में आवेगा॥ १३॥

(४) कारणत्वाधिकरण । सू० १४-१५

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

आकाशादिषु आकाश आदि का कारणत्वेन कारण [ब्रह्म] है इसमें श्रुति का अविरोध है। यथाव्यपदिष्टोक्तेः क्योंकि जैसा उसका वर्णन [एक श्रुति में है] वैसा ही उसका वर्णन [अन्य श्रुति में] मिलता है।

ब्रह्म के लक्षणों का प्रतिपादन किया, ब्रह्म सम्बन्धी वेदान्त वाक्यों की सर्वत्र समानता है यह भी प्रतिपादन किया, और प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है यह भी प्रतिपादन किया। इसमें यह दूसरी शंका होती है कि ब्रह्म उत्पत्ति आदि का कारण है और सब वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य एक ब्रह्म ही से है, यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति में इस संबंध में विरोध देखने में आता है। प्रत्येक वेदान्त वचन क्रम आदि के भेद को मान कर भिन्न २ सृष्टि मानता है, जैसे कि श्रुति में कहा है :— 'आत्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१] (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ); कहीं तेज को आदि कहा है, जैसे कि 'तत्तेजोऽसृजत' [छान्दो० ६ । २ । ३] (उसने तेज को उत्पन्न किया) कहीं प्राण को आदि कहा है, जैसे कि 'स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धाम्' [प्र० ६ । ४] (उसने प्राण को उत्पन्न किया, प्राण से श्रद्धा को उत्पन्न किया); कहीं बिना क्रम ही लोकों की उत्पत्ति कही है, जैसे कि 'स इमांल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापः' [ऐ० उ० ४ । १ । २] (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया—जलमय शरीर वाला स्वर्ग लोक, सूर्य की किरणों से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक, मर्त्यलोक और जलमय पाताल लोक)। इसी प्रकार कहीं कहा है कि यह सृष्टि पूर्व में असत्रूप थी, जैसे

कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' [तैत्ति० २ । ७] (पूर्व में यह असत् था, उसमें से सत् उत्पन्न हुआ), और असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' [छान्दो० ३ । १९ । १] (पूर्व में यह असत् ही था, वह सत् हुआ, और व्यक्त हुआ)। कहीं असद्वाद का निराकरण करने के बाद सत् से सृष्टि होने की प्रतिज्ञा है, जैसे कि 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (उसके सम्बन्ध में कोई कहता है कि पूर्व में यह असत् ही था), ऐसा उपक्रम करके उपसंहार किया है कि 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छान्दो० ६ । २ । १, २] (परन्तु हे सोम्य, ऐसा किस प्रकार हो, असत् में से सत् कैसे उत्पन्न हो, हे सोम्य, वह पूर्व सत् ही था)। कहीं ऐसा कहा है कि जगत् की उत्पत्ति अपने आप ही हुई है, जैसे कि 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' [बृह० १ । ४ । ७] (ऐसा यह जगत् तब अव्याकृत था, वह नामरूप से विकार को प्राप्त हुआ)। इस प्रकार उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के कथन हैं और वस्तु में तो विकल्प होना अयोग्य है, इसलिये जगत् के कारण के निश्चय में वेदान्त के वचनों की अयोग्यता ठहरती है। इसलिये स्मृति और न्याय में प्रसिद्ध ऐसे अन्य कारण का ग्रहण करना ही ठीक है।

इस शंका के उत्तर में कहना चाहिये कि आकाशादि उत्पन्न होने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में वेदान्त वाक्यों में क्रम आदि का विरोध है, तो भी स्रष्टा के सम्बन्ध में कहीं भी विरोध नहीं है, क्योंकि स्रष्टा के सम्बन्ध में एक श्रुति जो उपदेश करती है, वैसा ही उपदेश दूसरी श्रुति करती है। जैसे एक वेदान्त वचन में कारण रूप परमात्मा को

सर्वज्ञ, सवश्वर, सर्वात्मा एक तथा अद्वितीय कहा है, उसी प्रकार अन्य वेदान्त वाक्यों में भी कहा है। जैसे कि 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' [तैत्ति० २ । १] (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) यहाँ ज्ञान शब्द से और ब्रह्म सम्बन्धी अन्य शब्दों से चेतन ब्रह्म का ही निरूपण किया है। और अन्य प्रयोजन के अनुसार ईश्वर को कारण कहा है। परमात्मा शब्द से शरीरादि कोशों में क्रम २ से ब्रह्म का ही प्रवेश है, इस प्रकार परमात्मा का प्रवेश होने से परमात्मा को सबका अन्तरात्मा रूप और प्रत्यगात्मा रूप निश्चय किया है। जैसे कि 'वहुस्यां प्रजायेय' [तैत्ति० २ । ६] (वहुत होऊँ, उत्पन्न करूं)। यहाँ आत्मा में वहुत होना कह कर उत्पन्न होने वाले विकारों का स्रष्टा से अभेद कहा है। इसी प्रकार 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च' [तैत्ति० २ । ६] (उसने यह सब उत्पन्न किया, जो कुछ यह है), इस श्रुति में समस्त जगत् की उत्पत्ति के कथन से सृष्टि के पूर्व स्रष्टा को अद्वितीय कहा है। इसलिये यहाँ पर जिस प्रकार कारण रूप ब्रह्म जिन लक्षणों वाला जाना जाता है, उसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी ब्रह्म उन्हीं लक्षणों वाला जाना जाता हैं; जैसे कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छान्दो० ६ । २ । १] (हे सोम्य, पूर्व में यह सत्स्वरूप एक और अद्वितीय ही था) 'तदैक्षत वहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' [छान्दो० ६। २। ३] (उसने विचार किया कि मैं वहुत होऊँ, उत्पन्न करूं, उसने तेज को उत्पन्न किया) और 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्, स ईक्षत लोकान्नु सृजै' [ऐ० उ० ४ । १ । १,२] (पूर्व में यह आत्मा ही था, इसके सिवाय अन्य कुछ भी न था, उसने विचार किया कि मैं लोकों को उत्पन्न करूं) इस प्रकार कारण स्वरूप के निरूपण करने वाले बहुत से वाक्य प्रत्येक उपनिषद् में हैं। उन सब के अर्थ में किसी प्रकार का विरोध

नहीं है और कहीं पर सृष्टि का आदि आकाश और कहीं पर तेज कहा है, इस प्रकार कार्य में तो विरोध देखने में आता है, परन्तु कोई भी ऐसा नहीं कह सकता कि कारण ब्रह्म भी सब वेदान्त वाक्यों में भिन्न भिन्न है, क्योंकि सब स्थानों पर निरूपण किया है कि सृष्टि के सम्बन्ध में चाहे जैसा विरोध हो परन्तु स्रष्टा के सम्बन्ध में जरा भी विरोध नहीं है और आचार्य व्यास भगवन् 'न वियदश्रुते' [ब्र० सू० २ । ३ । १] इस सूत्र से कार्य की भिन्नता का समाधान करेंगे। कार्य के सम्बन्ध में तो विरोध होना ठीक ही है, क्योंकि उसका प्रतिपादन करने का श्रुति का आशय नहीं है और ऐसा करने से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि हो, ऐसा देखने वा सुनने में नहीं आता न कोई वैसी कल्पना करने में भी समर्थ है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से सब स्थानों पर सृष्टि वाक्यों की ब्रह्म सम्बन्धी वाक्यों से एकवाक्यता ही देखने में आती है। ब्रह्म के ग्रहण करने लिये ही श्रुति प्रपंच का निरूपण करती है, जैसे कि 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' [छान्दो० ६ । ८ । ४] (हे सोम्य ! अन्न रूप कार्य का कारण जल जान, हे सोम्य ! जल रूप कार्य का कारण तेज जान और हे सोम्य ! तेज रूप कार्य का कारण सत् जान)। और ऐसा समझा जाता है कि मिट्टी आदि दृष्टान्तों से कार्य कारण का अभेद दिखलाने के लिये सृष्टि आदि प्रपंच का श्रुति में प्रतिपादन किया है, क्योंकि संप्रदाय जानने वाले कहते हैं कि 'मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा। उपाय: सोऽवताराय नास्तिभेदः कथंचन।' [माण्डू० ३ । १५] (पृथिवी, लोहा और चिनगारी आदि से सृष्टि का जो वर्णन करने में आया है, वह इसलिये है कि ब्रह्म का स्वरूप समझ में आ जाय,

नहीं तो कुछ भेद नहीं है)। ब्रह्म के ज्ञान के साथ ब्रह्म ज्ञान का फल भी श्रुति में कहा है, जैसे कि 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' [तैत्ति० २। १] (ब्रह्मवेत्ता पर को प्राप्त होता है), 'तरति शोकमात्मवित्' [छान्दो ० ७। १। ३] (आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है,) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' [श्वेता० ३। ८] (उसी का ज्ञान प्राप्त करके मृत्यु को उल्लंघ जाता है.)। और यह फल ज्ञान से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार असंसारी आत्मा की प्रतीति होते ही आत्मा का संसारित्व जाता रहता है॥ १४॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (पूर्व में यह असत् था), इस प्रकार कारण में जो विरोध दिखलाया है, उसका परिहार करना चाहिये।

इसके लिये नीचे का सूत्र पढ़ते हैं :—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

समाकर्षात् [सृष्टि के पूर्व में असत् ही था, इस श्रुति का ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति के साथ] संबंध होने से [जगत् का कारण शून्य रूप असत् नहीं है, किन्तु सत् ही है]।

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (पूर्व में वस्तुतः यह असत् ही था), इस वाक्य में आत्मा रहित असत् को श्रुति कारण रूप प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततोविदुः' (जो ब्रह्म को असत् जानता है तो वह अवश्य असत् होता है, जो ब्रह्म को सत् जानता है, उसको विद्वान् सत् जानते हैं), इस प्रकार असत्वाद की निवृत्ति करके ब्रह्म का लक्षण अस्तित्व रूप है तथा प्रत्यगात्मा का निश्चय अन्नमय आदि कोशों से होता है ऐसा

कह कर 'सोऽकामयत' (उसने कामना की) इस प्रकार प्रकृत ब्रह्म का सूचन किया है, और ऐसा कहा है कि प्रपंचयुक्त सृष्टि ब्रह्म से होती है तथा 'तत्सत्त्वमित्याचक्षते' (वह सत्य है, ऐसा कहते हैं) इस प्रकार उपसंग्रह किया है और कहा है कि 'तदप्येष श्लोको भवति' (उस ब्रह्म के सम्बन्ध में नीचे का मन्त्र है) इस प्रकार प्रकृत ब्रह्म के सम्बन्ध में ही यह मन्त्र कहा है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (पूर्व में यह सब असत् रूप था)। यदि इस मन्त्र में असत् शब्द का अर्थ शून्य लिया जाय तो एक वस्तु के निरूपण करने वाली श्रुति में अन्य वस्तु का निरूपण होगा और ऐसा करने से वाक्य सम्बन्धरहित हो जायगा। नाम और रूप से विकार पाई हुई वस्तु सत् शब्द से प्रसिद्ध है। यहाँ असत् कहने का कारण यह है कि उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्म में विकार भाव न होने से सत् ब्रह्म भी असत् के समान था, इस प्रकार का अर्थ होता है। 'असदेवेदमग्र आसीत्' (पूर्व में सब असत् रूप था) इसमें भी उसी प्रकार की योजना है, परन्तु भीतर मे यह भाव लेना चाहिये कि वह सत् रूप था। यदि अत्यन्त अभाव हो तो सत् रूप था, ऐसा किस प्रकार हो सके ? 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् [छान्दो० ६। २। १] (कितने ही ऐसा कहते हैं कि प्रथम यह असत् ही था) इस प्रकार इस श्रुति का अभिप्राय लेकर ऐसा निरूपण नहीं होता कि किसी का मत इस प्रकार का है क्योंकि जैसा विकल्प क्रिया में हो वैसा विकल्प कारण में होना असंभव है, इसलिये श्रुति के ग्रहण किये हुए सत् पक्ष को दृढ़ करने के लिये ही यह निरूपण है और ऐसा समझना चाहिए कि मन्द बुद्धि वाले से कल्पे हुए असत् पक्ष का निरूपण करके पीछे से इसका निराकरण किया है। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (ऐसा यह प्रथम अव्याकृत था)

इसमें भी ऐसा नहीं है कि अध्यक्ष कारण विना जगत् कार्य व्यक्त हुआ हैं, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'स एष इह प्रविष्ट आन खाग्रेभ्यः' (परमात्मा ने नख के अग्र भाग तक प्रवेश किया)। इस प्रकार ऐसा दिखलाया है कि कार्य रूप विकार में कारण का प्रवेश है।

यदि कार्य रूप जगत् के व्यक्त होने में कारण का अभाव मानेंगे तो पीछे प्रकृत जगत् के अवलम्बन करने वाले 'सः' (वह) ऐसे सर्वनाम से किसका ग्रहण करना चाहिये कि जिसका कार्य में प्रवेश है ? चेतन रूप आत्मा का प्रवेश ही शरीर में कहा है, क्योंकि श्रुति में कहा है कि जिसने प्रवेश किया है, वही चेतन रूप है, जैसे कि 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः।' (चक्षु को देखता है, श्रोत को सुनता है और मन को मनन करता है)। जिस प्रकार नाम तथा रूप से विकार को प्राप्त हुआ जगत् इस समय कारण की अध्यक्षता में विकार को प्राप्त होता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व में जान लेना, क्योंकि अनुभव के विपरीत कल्पना करना अयोग्य है। दूसरी श्रुति में भी कहा है कि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६ । ३ । २] (इस जीव रूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके मैं नाम और रूप को प्रकट करूँ), इस प्रकाद श्रुति जगत् के विकार को कारण युक्त दिखलाती है। 'व्याक्रियते' इस पदसे भी परमेश्वर ही व्याकर्ता है, उससे सृष्टि सहज उत्पन्न होती हैं इसी भाव से यह कर्म कर्तरि प्रयोग आया है, जैसे कि 'लूयते केदारः स्वयमेव' (क्यारी आप ही कट जाती है) ऐसा कहा जाता है अथवा यह समझना चाहिये कि कर्ता की अपेक्षा से कर्म के अर्थ में अलंकार का ग्रहण किया है, जैसे कि यह कहा जाता है कि 'गम्यते ग्रामः' (ग्राम जाता है)॥ १५ ॥

(५) वालाक्यधिकरण । सू० १६–१८

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

जगद्वाचित्वास् ['एतत्' शब्द] जगत् वाचक होने से [उस श्रुतिवाक्य में परमात्मा ही को जानने योग्य कहा है]।

कौषीतकि ब्राह्मण में वालाकि और अजातशत्रु के संवाद में ऐसा कहा है :—यो वै वालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः ।' [कौ० ब्रा० ४ । १९] (हे वालाके ! जो इन पुरुषों का कर्ता है अथवा जिसका यह कर्म है, वह वस्तुतः जानने योग्य है), इस श्रुति में यह संशय होता है कि यहां जानने योग्य किसको कहा है ? जीव को जानने योग्य कहा है, अथवा मुख्य प्राण को, वा परमात्मा को ।

प्रतिपक्षी : – यहां प्राण का उपदेश है, ऐसा मालूम होता हैं, क्योंकि 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिसका यह कर्म है) यह श्रुति है। यह चलने का कर्म प्राण के सहारे होता है, इसलिये यहां प्राण का कर्म समझा जाता है; और 'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (पीछे यह प्राण में ही एकता को प्राप्त होता है) इस पिछले वाक्य में प्राण शब्द देखने में आता है। प्राण शब्द मुख्य प्राण के अर्थ में प्रसिद्ध है, और 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' (आदित्य में पुरुष है, चन्द्र में पुरुष है), इस प्रकार पूर्व वाक्य में वालाकि ने जिस पुरुष का कथन किया है, उसका कर्ता भी प्राण है, क्योंकि आदित्य आदि देवताओं को भी प्राण की भिन्न २ अवस्थाएं कहा है। जैसे कि श्रुति में कहा है :—'कतम् एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म तदित्याचक्षते' [बृह० ३ । ९ । ९] (एक देव कौन है ? प्राण है, वह ब्रह्म है, उसको वे ऐसा कहते हैं), इसलिये यहां जानने योग्य प्राण है।

अथवा यहां जानने योग्य जीव का उपदेश है। जीव का धर्माधर्म लक्षण कर्म है, जैसा कि श्रुति से जाना जाता है :— 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिसका यह कर्म है)। जीव भी भोक्ता होने से भोग के साधन रूप इन पुरुषों का कर्ता हो सकता है। पिछले वाक्य में भी जीव का लक्षण पाया जाता है, क्योंकि जानने योग्य जो पुरुषों का कर्ता है, उसका ज्ञान प्राप्त करने को आये हुए वालाकि को वोध कराने की इच्छा वाला अजातशत्रु सोते हुए पुरुष को बुलाता है, और उसने बुलाने का शब्द सुना नहीं इसलिये ऐसा जानकर कि प्राण आदि भोक्ता नहीं हैं, उसे लकड़ी मार कर उठाया। इससे ऐसा जताता है कि प्राणादि से भिन्न जीव भोक्ता है। इसी प्रकार पिछले वाक्य में भी जीव ही के लक्षण इस प्रकार समझाये हैं :—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मनं भुञ्जन्ति' [कौ० ब्रा० ४। २०] (जैसे सेठ अपने मनुष्यों द्वारा उपभोग करता है, अथवा वे मनुष्य उपभोग के लिये सेठ पर आधार रखते हैं इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं द्वारा उपभोग करता है और इसी प्रकार ये आत्मा उपभोग के लिये उस आत्मा पर आधार रखते हैं)। जीव प्राण धारण करने वाला होने से जीव के लिये प्राण शब्द युक्त है इसलिये जीव और प्राण इन दोनों में से यहां एक का ग्रहण करना युक्त है, परमेश्वर का ग्रहण करना युक्त नहीं है, क्योंकि परमेश्वर के लक्षण यहां ठीक ठीक नहीं मिलते।

सिद्धान्ती—नहीं। ऐसा नहीं है, यहां परमेश्वर ही इन पुरुषों का कर्ता है, क्योंकि उपक्रम से ऐसा ही सिद्ध होता है। यहाँ वालाकि ने अजातशत्रु के साथ 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुझसे ब्रह्म

कहूंगा) ऐसा संवाद करना शुरू किया और उसने आदित्य आदि में रहने वाले कई पुरुषों को कहा जो अप्रधान ब्रह्म रूप हैं और पीछे चुप होगया। 'मृषा वै खलुमा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' (तूने मुझसे झूंठ ही कहा कि मैं तुझसे ब्रह्म कहूँगा), इस श्रुति में अप्रधान ब्रह्मवादी के समान अजातशत्रु ने उसका निषेध करके ऐसा कहा कि उनका कर्ता दूसरा ही है जो जानने योग्य है। यदि वह भी अप्रधान ब्रह्म माना जाय तो उपक्रम का बाध हो जायगा। इसलिये उसको परमेश्वर ग्रहण करना ही ठीक है, और परमेश्वर के सिवाय अन्य कोई उन पुरुषों का स्वतन्त्र कर्ता हो नहीं सक्ता। 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा जिसका यह कर्म है) यह चलन रूप लक्षण अथवा धर्माधर्म रूप लक्षण वाले कर्म का निरूपण नहीं है, क्योंकि इन दोनों प्रकार के कर्मों में से किसी एक प्रकार के कर्म का भी यहां सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार यहां पुरुषों का भी निरूपण नहीं है, यहां तो ऐसा कथन किया है कि यह पुरुषों का कर्ता है। लिंग और वचन का भी विरोध है। 'एतत्' नपुंसकलिंग एक बचन में है और 'पुरुषा' पुंल्लिग बहुवचन में है इसलिये 'पुरुषाः' के लिये 'एतत्' नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार पुरुष सम्बन्धी किसी क्रिया का अथवा क्रिया के फल का निरूपण नहीं किया है। कर्ता के शब्द से क्रिया और फल दोनों का ग्रहण होता है। अन्त में प्रत्यक्ष तथा समीपवर्ती जगत् का ही 'एतत्' (यह) इस चेतन सर्वनाम द्वारा निरूपण है। जो करने में आया है वह जगत् रूप कर्म है। यद्यपि यह सत्य है कि जगत् भी प्रकृत नहीं है और पूर्व में उसका कहीं वर्णन नहीं किया है, तो भी विशेष वस्तु का ग्रहण न होने से और साधारण समीपता के कारण, ऐसा समझा जाता है कि समीपवर्ती वस्तु

मात्र का यह कथन है, किसी विशेष वस्तु का कथन नहीं है; क्योंकि विशेष की समीपता नहीं है। पूर्व वाक्य में जगत् के एक देशभूत पुरुषों का विशेषण ग्रहण किया है, इसलिये ऐसा समझा जाता है कि यहां सामान्य जगत् का ही ग्रहण है। मतलब यह है कि यह जगत् के एक देश भूत इन पुरुषों का ही कर्ता नहीं है, किन्तु सामान्य रीति से यह सम्पूर्ण जगत् उसका कर्म है। वा शब्द मूल श्रुति में इसलिये लगाया गया है कि कर्ता एक देश में ही व्याप्त हो, ऐसा नहीं है किन्तु सब में व्याप्त है। बालाकि ने जिनको ब्रह्म रूप मान कर पुरुष कहा है, वे ब्रह्म नहीं हैं, ऐसा कहने के लिये विशेष का ग्रहण किया है। इस प्रकार ब्राह्मण परिव्राजक न्याय यानी सामान्य विशेष न्याय से जगत् के कर्ता को जानने योग्य बताया है और सर्व वेदान्त वाक्यों में परमेश्वर को सब जगत् का कर्ता निश्चय किया है ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

जीवमुख्यप्राणलिंगात् [पिछले वाक्य में] जीव के और मुख्य प्राण के लिंग से न [उस परमात्मा को जानने योग्य कहा] नहीं है, इति ऐसा चेत् [जो कहो] तो तद्व्याख्यातम् उसका व्याख्यान हो गया है।

वाक्य में कहे हुए जीव के लिंग और मुख्य प्राण के लिंग, इन दोनों में से एक का ग्रहण करना ठीक है; परमेश्वर का ग्रहण करना ठीक नहीं है, ऐसा जो कहा है, उसका भी परिहार करना चाहिये।

हम कहते हैं 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' [ब्र० सू० १।१।३१] (नहीं, क्योंकि उपासना तीन प्रकार

की है वह ब्रह्म के आश्रित है, इसलिये और उनका योग है इसलिये) इस सूत्र में उपरोक्त का परिहार किया है। क्योंकि ऐसा होने से (परमेश्वर के अतिरिक्त केग्रहण से)यहाँ जीव की उपासना, मुख्य प्राण की उपासना और ब्रह्म की उपासना, इस प्रकार तीन प्रकार की उपासनाओं का प्रसंग आवेगा और यह ठीक नहीं है। क्योंकि, उपक्रम और उपसंहार से ऐसा समझा जाता है कि यह वाक्य ब्रह्म सम्बन्धी है। उनमें उपक्रम ब्रह्म सम्बन्धी है, ऐसा दिखलाया है और उपक्रम में भी निरतिशय फल दिखलाने वाली यह श्रुति है:—'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यंपर्येति य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है वह सब पापों को नाश कर के सब भूतों में श्रेष्ठत्वं. स्वाराज्य और आधिपत्य को प्राप्त करता है), इससे ऐसा समझा जाता है कि वह ब्रह्म के सम्बन्ध में है।

प्रतिपक्षी:—यदि ऐसा हो तो प्रतर्दन के वाक्य के निर्णय से ही इस सूत्र का भो निर्णय हो जाय, परन्तु निर्णय नहीं होता। 'यस्य वै तत्कर्म' (अथवा यह जिसका कर्म है) इसभ ऐसा निश्चय नहीं होता कि यह ब्रह्म के सम्बन्ध में ही है। इसलिये यहां पर जीव तथा मुख्य प्राण की जो शंका फिर उत्पन्न होती है, इसका निराकरण करना चाहिये।

सिद्धांती: –प्राण शब्द ब्रह्म वाचक है, क्योंकि श्रुति में कहा है:—'प्राणबन्धनंहि सोम्य मनः' [छान्दो० ६।८।२] (हे सोम्य, जीव प्राण पर आधार रखता है)। उपक्रम और उपसंहार दोनों ब्रह्म को लागू पड़ते हैं, इसलिये जीव और परमेश्वर का अभेद होने से यहां परमात्मा की योजना करनी चाहिये ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

तु तथा प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् प्रश्न और उत्तर से अन्यार्थ [जीव का ग्रहण] अन्य (ब्रह्म) के लिये ही है ऐसा जैमिनिः जैमिनि [मानते हैं] च और एके एक (वाजसनेयि शाखा वाले) अपि भी एवम् ऐसा [मानते हैं]।

यहां ऐसा विवाद करना ठीक नहीं है कि ये वाक्य जीव सम्बन्धी हैं अथवा ब्रह्म सम्बन्धी हैं, क्योंकि इस वाक्य में जैमिनि आचार्य जीव का कथन ब्रह्म ज्ञान के लिये है, ऐसा मानते हैं। प्रश्न और उत्तर से ऐसा सिद्ध होता है। सोये हुए पुरुष को उठा कर जीव को प्राणादि से भिन्न बोध कराने के बाद जीव से अन्य के सम्बन्ध में किया हुआ दूसरा प्रश्न देखने में आता है: — 'कैष बालाके पुरुषोऽशयिष्ट कवा एतदभूत् कुत एतदागात्' [कौ० ब्रा० ४।१८] (हे बालाके, यह पुरुष कहां सोता था ? यह कहां था और कहाँ से यह आया ?) उत्तर भी इसी प्रकार है:-'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (जब सोता है और कोई स्वप्न नहीं देखता, तब यह प्राण में ही एक होता है), और 'एतस्मदात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' [कौ० ब्रा० ४ । १९] (इस आत्मा में से प्राण अपने २ स्थान पर जाते हैं, प्राण में से देव और देवों में से लोक) सुषुप्ति काल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होता है और परब्रह्म में से प्राणादि जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। इसलिये जहां जीव विशेष बोध रहित शुद्ध स्वरूप हो जाता है ऐसी सुषुप्ति

अवस्था में जब उपाधि से होने वाले विशेष ज्ञान से वह रहित हो जाता है जो जीव का स्वरूप है और जहाँ से हटकर वह जाग्रत अवस्था को प्राप्त होता है उस परमात्मा का ही यहां ज्ञेय रूप से निरूपण है ऐसा विदित होता है। वाज-सनेयि शाखा वाले, बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में विज्ञानमय शब्द से जीव को मानते हैं और ऐसा कहते हैं कि जीव से परमात्मा अन्य है, जैसे कि 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत कुत एतदागात् [बृ० २।१।१६] (जो वह विज्ञानमय पुरुष है, वह तब कहाँ था और कहाँ से आया) यह प्रश्न है। इसके उत्तर में कहा है:—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (हृदय में जो आकाश है, उसके भीतर वह सोता है) और आकाश शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि श्रुति में कहा है:—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' [छान्दो० ८।१।१] (इस हृदय के भीतर अल्प आकाश है,) और कहा है:—'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' (ये सब आत्मा में से निकलते हैं) इस प्रकार उपाधि वाले आत्माओं का अन्य वस्तु में से निकलना मानते हुए परमात्मा को ही कारण रूप मानते हैं, ऐसा विदित होता है। प्राण के निराकरण करने का यह कारण है कि सोते हुये पुरुष को उठा कर यह उपदेश दिया है कि प्राण से जीव भिन्न है ॥ १८ ॥

(६) वाक्यान्वयाधिकरण। सू० १९–२२

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

वाक्यान्वयात् वाक्य के अन्वय से [श्रवणादि करने योग्य परमात्मा है]।

बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में यह उपक्रम किया है:— 'न वा अरे पत्युः कामाय' (अरे! पति की इच्छा के लिये नहीं)। फिर ऐसा कहा है:—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।' [बृह० ४ । ५ । ६] (अरे! सब वस्तुओं की इच्छा के लिये सब वस्तुयें प्रिय नहीं होतीं, आत्मा की इच्छा के लिये सब प्रिय होती हैं। अरे! आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है। अरे मैत्रेयि! आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब विदित होता है)। इसमें यह संशय होता है कि द्रष्टव्य, श्रोतव्य इत्यादि रूप से जीव का उपदेश है अथवा परमात्मा का उपदेश है। संशय होने का कारण यह है कि प्रिय शब्द से दिखलाये हुए भोक्तारूप आत्मा का निरूपण होने से ऐसा मालूम होता है कि विज्ञानात्मा का ही उपदेश है, और आत्मा के विज्ञान से सब विज्ञान का उपदेश होने से ऐसा जान पड़ता है कि परमात्मा का उपदेश है।

प्रतिपक्षी—यहाँ उपक्रम के बल से ऐसा जान पड़ता है कि विज्ञानात्मा का उपदेश है। पति, जाया, पुत्र, वित्त आदि सब भोग्य जगत् आत्मा के निमित्त प्रिय होता है, इस प्रकार प्रिय शब्द से सूचना किये हुए भोक्तारूप आत्मा का उपक्रम किया है तो पीछे आत्मा के दर्शन आदि का जो उपदेश किया है, वह आत्मा के सिवाय दूसरे किसका हो सकता है? किसी का नहीं हो सकता : बीच में भी कहा है कि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनं एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न

प्रेत्य संज्ञास्ति' (यह महान्, सत्य, अनन्त, अपार, विज्ञान, एकरस इन भूतों में से यानी शरीर में से जीव रूप से उत्पन्न होकर उन्हीं के पीछे नष्ट होता है, मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता) इस प्रकार प्रकृत परमेश्वर का जीव रूप से भूतों में से उत्पन्न होना कह कर श्रुति जीव ही द्रष्टव्य है ऐसा दर्शाती है। श्रुति कहती है:—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (अरे ! विज्ञाता को किस से जाने), इस प्रकार कर्ता शब्द से जो उपदेश किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि विज्ञानात्मा का ही उपदेश है। इसलिए 'आत्मा के विज्ञान से सर्व का विज्ञान होता है' यह वचन भोक्ता के निमित्त होने से ऐसा समझना चाहिये कि भोग्य समूह औपचारिक यानी गौण है।

सिद्धान्ती:—नहीं, तेरा कहना ठीक नहीं है, यहां वाक्य के अन्वय से परमात्मा का ही उपदेश है। पूर्वापर सम्बन्ध से ऐसा जान पड़ता है कि ये वचन परमात्मा का ही निरूपण करने वाले हैं, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (अमृतत्व की वित्त द्वारा आशा नहीं है)। ऐसा याज्ञवल्क्य से सुनकर मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा है 'येनाहं नामृता स्यां किमहंतेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' (जिससे मैं अमर न होऊँ, उसका मैं क्या करूँ ? हे भगवन्, आप जो जानते हो वही मुझसे कहो)। इस प्रकार अमरत्व की इच्छा रखने वाली मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने इस आत्मविज्ञान का उपदेश किया है। श्रुति और स्मृति के ऐसे वचन हैं कि परमात्मा के विज्ञान के सिवाय अन्य प्रकार से अमरत्व नहीं होता। आत्मा के विज्ञान से जो सर्व का विज्ञान कहा है, वह परम कारण के विज्ञान के सिवाय अन्य किसी प्रकार मुख्य अर्थ में नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह भी

नहीं समझा जाता कि यह औपचारिक यानी गौण है, क्योंकि आत्मा के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा करके पीछे के ग्रन्थ से प्रतिपादन किया गया है कि 'ब्रह्म ते परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' (जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न जानता है उसको ब्रह्म श्रेय मार्ग से भ्रष्ट करता है) । ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि इस जगत् को जो आत्मा से भिन्न स्वतन्त्रता से सत् स्वरूप देखता है, वह मिथ्यादर्शी श्रेय मार्ग से भ्रष्ट होता है, क्योंकि वह मिथ्या दर्शी ब्राह्मण क्षत्रियादि रूप मिथ्या जगत् को सत् स्वरूप देखता है । इस प्रकार भेद दृष्टि का निषेध करके अन्त में कहा है:– 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब जो है यह आत्मा है) इस प्रकार यह दर्शाया है कि यह सब वस्तु समूह आत्मा से अभिन्न है । इसी के सम्बन्ध में दुंदुभि आदि का दृष्टाँत दिया है । इस प्रकार ऐसा सिद्ध किया है कि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । श्रुति के 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' [बृ० ४ । ५ । ११] (जो यह ऋग्वेद है वह इस सत्य ब्रह्म का निःश्वास रूप है) इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकृत आत्मा ही नाम, रूप तथा कर्म के विस्तार को प्राप्त हुआ है, और प्रकृत आत्मा का ही परमात्मा रूप से निरूपण है । इसी प्रकार एकायन प्रक्रिया में (बृह० ४ । ५ । १२) में भी विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित प्रपंच का एक स्थान, जिसका भीतर अथवा बाहर कहीं नहीं हैं, जो सम्पूर्ण प्रज्ञानैकरस है, इस प्रकार समझाता हुआ (याज्ञवल्क्य) परमात्मा को ही समझाता है, इसलिये ऐसा समझा जाता है कि यह दर्शनादि उपदेश परमात्मा का ही है ॥ १६ ॥

प्रियत्व द्वारा सूचना किये हुए (भोक्ता आत्मा) के उपदेश से यह दर्शनादि उपदेश विज्ञानात्मा का ही है, ऐसा जो कहा

था, उसके उत्तर में नीचे का सूत्र कहना चाहियेः—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।। २० ।।

लिंगम् [द्रष्टव्यत्व आदि के कथन रूप जो आत्मा के लिंग हैं वे] लिंग **प्रतिज्ञासिद्धेः** प्रतिज्ञा की सिद्धि के [सूचक हैं, ऐसा] **आश्मरथ्यः** आश्मरथ्य [आचार्य मानते हैं] ।

यहां ऐसी प्रतिज्ञा है कि 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (आत्मा के विज्ञान से इन सका विज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सव जो है यह आत्मा है)। यहाँ ऐसा जो कहा है कि प्रिय रूपसे भली प्रकार सूचन किया हुआ जो आत्मा है, उस का दर्शनादि करना योग्य है, यह कथन इस प्रतिज्ञा की सिद्धि सूचन करने वाला लिंग है । यदि विज्ञानात्मा परमात्मा से अन्य हो तो परमात्मा के विज्ञान होने पर भी विज्ञानात्मा का विज्ञान नहीं होगा, इसलिये ऐसा मानने से यह जो प्रतिज्ञा की है कि एक के विज्ञान से सवका विज्ञान हो जाता है उस की हानि होगी । इसलिये प्रतिज्ञा की सिद्धि के निमित्त विज्ञानात्मा और परमात्मा का अभेद रूप से श्रुति में उपक्रम है ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ।। २० ।।

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ।।२१।।

उत्क्रमिष्यतः [देहादि उपाधि के] त्याग से **एवम्** ऐसे (ब्रह्माभिन्न) **भावात्** भाव से [श्रुति में अभेद रूप से उपक्रम है] **इति** ऐसा **औडुलोमिः** औडुलोमि [मानते हैं] ।

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघात रूप उपाधि के सम्वन्ध से मलिन हुआ विज्ञानात्मा, जव ज्ञान, ध्यान आदि साधनों के अनुष्ठान से शुद्ध होकर देहादि संघात में से निकलने

की इच्छा करता है, तब परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त हो सकता है, इसलिये अभेद रूप से यह उपक्रम है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं। श्रुति भी ऐसी है:—'एष संप्रसादोऽस्माच्छ-रीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' [छान्दो० ८ । १२ । ३] (यह जीव इस शरीर में से उत्थान करके यानी अपने रूप का साक्षात्कार करके परम् ज्योति को प्राप्त होता है)। कई स्थानों पर नदी के दृष्टान्त से श्रुति ऐसा भी जताती है कि नाम और रूप जीव के आश्रय हैं, जैसे कि 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः स मुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मुन्ड० ३ । २ । ८] (जैसे बहती हुई नदियां नाम और रूप को छोड़ कर समुद्र में मिल जाती हैं, इसी प्रकार नाम और रूप से विमुक्त हुआ विद्वान् पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है)। जैसे लोक में नदियाँ अपने आश्रय रहे हुए नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में मिल जाती हैं, ऐसे ही जीव भी अपने ही आश्रय रहे हुए नाम और रूप को त्याग कर परम पुरुष को प्राप्त होता है। दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक की समानता के निमित्त यहां यही अर्थ प्रतोत होता है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२॥

अवस्थितेः [परमात्मा की ही जीव रूप से] स्थिति होने से [अत्यन्त अभेद के कारण श्रुति में इस प्रकार का उपक्रम है] **इति** ऐसा **काशकृत्स्नः** काशकृत्स्न [मानते हैं]।

यह परमात्मा ही इस विज्ञानात्मा रूप से रहता है, इसलिये अभेद रूप से उपक्रम है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं। श्रुति में कहा है:—'अनेन जीवेनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकर-

वाणि' [छान्दो० ६ । ३ । २] (इस जीव द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विस्तार करूंगा)। यह श्रुति परमात्मा की ही जीव रूप से स्थिति दर्शाती है और इसी प्रकार आगे के मन्त्र में भी कहा है:—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' [तै० आ० ३ । १२ । ७] (सब रूपों को उत्पन्न करके और नामों को रख कर सर्वज्ञ परमात्मा उनमें प्रवेश करके रहता है)। तेज आदि सृष्टि में जीव की कोई पृथक् सृष्टि नहीं कही है, कि जिससे परमात्मा से भिन्न उसका विकार रूप जीव हो। इसलिये अधिकारी परमेश्वर ही जीव है, जीव कोई अन्य नहीं है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य का मत है। आश्मरथ्य का यह मत है कि यद्यपि परमात्मा से जीव अभिन्न है, तो भी प्रतिज्ञा की सिद्धि के निमित्त ऐसा अपेक्षा वाला वचन है, जिससे ऐसा सिद्ध होता है कि इसमें कोई न कोई एक कार्यकारण भाव है। औडुलोमि के मत के अनुसार भिन्न २ अवस्थाओं की अपेक्षा से भेद और अभेद सिद्ध होता है। इन सब मतों में काशकृत्स्त का मत श्रुतियों के अनुसार है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जीव ईश्वर की एकता का प्रतिपादन तत्त्वमसि आदि श्रुतियों के अनुसार किया गया है। ऐसा होने से आत्म ज्ञान होने पर अमृतत्त्व हो सकता है। परन्तु यदि जीव को विकार वाचक मानें तो विकार का प्रकृति (कारण) के साथ सम्बन्ध होने से उसका प्रलय होगा। और ऐसा होने से आत्मज्ञान से अमृत्व की कल्पना मिथ्या ठहरेगी। नाम और रूप जीव के आश्रय नहीं हो सकते, इसलिये उपाधि के कारण नाम और रूप का जीव में उपचार—गौणत्व होता है। इसी कारण से किसी किसी स्थान पर अग्नि की चिनगारी के उदाहरण से जो जीव की उत्पत्ति कही गई है, वह उपाधि के कारण से है ऐसा

समझना चाहिये। पूर्व पक्ष में जो कहा था कि प्रकृत और द्रष्टव्य स्वरूप महद् ब्रह्म के भूतों में से उत्पन्न होने को श्रुति 'विज्ञान रूप से दर्शाते हुए कहती हैं कि विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य है। इसके उत्तर में इन तीनों सूत्रों की योजना करनी चाहिये। जैसे कि 'प्रतिज्ञा सिद्धे लिङ्गमाश्मरथ्य' [सू० २०] यहाँ यह प्रतिज्ञा की है :—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' [बृ० २ । ४।६] (आत्मा का ज्ञान होने पर सबका ज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृ० २ । ४ । ६] (यह सब आत्मा है) यहाँ दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त से ऐसा प्रतिपादन किया है कि इन सब नाम, रूप तथा कर्म के विस्तार की उत्पत्ति एक में से है और उनका लय भी एक में ही होता है। इसी प्रकार यह भी प्रतिपादन किया है कि कार्य तथा कारण एक है। द्रष्टव्य रूप परब्रह्म का विज्ञानात्मा रूप से भूतों में से निकलना यह जो वचन है, वह प्रतिज्ञा की सिद्धि का सूचन करता है। इस प्रकार आश्मरथ्य नामक आचार्य मानते हैं। अभेद के होने से एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है ऐसा सिद्ध किया है। 'उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः' [सू० २१] (उत्क्रमण की इच्छा करते हुए ज्ञान ध्यानादि से पवित्र हुए विज्ञात्मा की परमात्मा के साथ एकता सम्भव होने से यह अभेद का कथन है, ऐसा औडु-लोमि आचार्य मानता है)। 'अवस्थितेरित काशकृत्स्नः' [सू० २२] यही परमात्मा विज्ञातात्मा के रूप से रहता है इसलिये यह अभेद का कथन युक्त है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं)।

प्रतिपक्षी :—एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' [बृ० २ । ४ । १२] (इन भूतों में से उत्थान करके इनके पीछे ही नाश को प्राप्त होता है, मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता) इस श्रुति में आत्मा के नाश का कथन है, तो

जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का कथन किस प्रकार हो सकता ?

सिद्धान्ती:—यह दोष नहीं है, यहां नाश का जो कथन है, वह विशेष विज्ञान के नाश का कथन है, जीवात्मा के नाश का कथन नहीं है; क्योंकि श्रुति में कहा है :—'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' (मैत्री ने कहा मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता, ऐसा कहने से, हे भगवन्, आपने मुझे मोह में डाल दिया है) इस प्रकार की योजना कर के श्रुति में भिन्न अर्थ का निरूपण किया है। जैसे कि 'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (अरे ! मैं ऐसा नहीं कहता कि जिससे मोह हो, अरे ! यह आत्मा अविनाशी है, अनुच्छेद इस का धर्म है, मात्रा के साथ इस का संसर्ग नहीं रहता)। मतलब यह है कि यह आत्मा कूटस्थ, नित्य, विज्ञानैकरस है। उसके उच्छेद-नाश का प्रसंग नहीं है। विद्या की प्राप्ति होने पर अविद्या की की हुई भूतेन्द्रिय लक्षण वाली मात्राओं के संसर्ग से वह रहित हो जाता है संसर्ग के अभाव के कारण उसके लिये हुए विशेष विज्ञान का अभाव हो जाता है, इसलिये ऐसा कहा है कि मरने के पीछे ज्ञान नहीं रहता। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (अरे ! विज्ञाता को किससे जाने) इस प्रकार कर्ता वाचक शब्द से जो उपसंहार है, वह विज्ञानात्मा का ही समझना चाहिये, ऐसा जो कहा है, उसका परिहार भी काशकृत्स्न के मत से हो सकता है। 'यत्रतुद्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' [बृ० २।४।१३] (जहां द्वैत के समान होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है) इस प्रकार आरम्भ करके अविद्या के विषय में दर्शनादि लक्षण वाले जीव के विशेष ज्ञान का विस्तार किया है और 'यत्र त्वस्य

सर्वात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्' (जहां इसको सब आत्मा ही हो जाता है वहां किससे किस को देखे) इत्यादि से विद्या के विषय में दर्शनादि लक्षण वाले उस जीव के विशेष विज्ञान का अभाव कहा है। और विषय के अभाव में भी आत्मा का विज्ञान रहे, ऐसी आशंका करके ऐसा कहा है:—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (अरे ! विज्ञाता को किस करके जाने), इस प्रकार पिछला वाक्य विशेष विज्ञान का अभाव प्रति पादन करता है। यद्यपि आत्मा केवल विज्ञानैकरस ही है तो भी पूर्व की जो स्थिति थी उस स्थिति से कर्ता वाचक तृच् प्रत्यय से कथन किया है, ऐसा समझा जाता है। यह तो पहिले ही कह चुके हैं कि काशकृत्स्न का मत श्रुतिप्रतिपादित है इसलिये अविद्या के किये हुए नाम और रूप से रची हुई देहादि उपाधियों से किया हुआ विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद है, पारमार्थिक भेद नहीं है, यह बात सब वेदान्त वादियों ने स्वीकार की है; जैसे कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छांदो० ६।२।१] (हे प्रिये ! पूर्व में यह सत स्वरूप ही एक और अद्वितीय था) 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छान्दो० ७। २५। २] (यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [मुण्ड० २। २। ११] (यह सब ब्रह्म ही है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृ० २। ४। ६] (जो यह सब है, वह आत्मा है) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृ० ३। ७। २३] (इसके सिवाय दूसरा द्रष्टा नहीं है) 'नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ' [बृ० ३। ८। ११] (इसके सिवाय दूसरा द्रष्टा नहीं है), इस प्रकार श्रुति के वचनों से आत्मा की एकता सिद्ध है। और 'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७। १९] (सब वासुदेव है), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' [गी० १३। २] (हे भारत, सब क्षेत्रों में मुझको क्षेत्रज्ञ जान)' 'समं सर्वेषु भूतेषु

तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' [गी० १३ । २७] (सब भूतों में समान रहा हुआ परमेश्वर), इस प्रकार की स्मृतियों से भी आत्मा की एकता सिद्ध है । और 'अन्योऽसावन्योऽहम स्मीति न स वेद यथा पशुः' [बृह० १ । ४ । १०] (यह अन्य है, मैं अन्य हूँ, ऐसे समझने वाला पशु के समान है, वह जानता नहीं है) और, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति' [बृह० ४।४।१९] (जो यहां भिन्न के समान समझता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है) इस प्रकार भेदज्ञान का निषेध है 'स वा एषा महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृह० ४ । ४ । २५] (ऐसा यह महान्, जन्म रहित, आत्मा जरा रहित, अमर, अमृत, और अभय ऐसा ब्रह्म है) इस प्रकार आत्मा में सब विकारों का प्रतिषेध किया है । ऐसा न हो तो मुमुक्षुओं को ब्रह्म का अबाधित विज्ञान न होगा और आत्मा का सुनिश्चित ज्ञान भी न होगा, क्योंकि सब आकांक्षाओं को निवृत्त करने वाला अपवाद रहित आत्मा सम्बन्धी विज्ञान ही यहां पर इष्ट है, जैसा कि श्रुति में कहा है:—'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः' [मुण्ड० ३।२।६] (वेदान्त के विज्ञान से जिसका अर्थ सुनिश्चित हुआ है) और, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ई० ७] उसमें एकत्वः' के देखने वालों को मोह क्या और शोक क्या); और स्थितप्रज्ञ के लक्षण से भी (गीता० २।५४ में) ऐसा ही कहा है । क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही है, यह सम्यक् ज्ञान का विषय होने से क्षेत्रज्ञ और परमात्मा ऐसा नाम मात्र का भेद है । यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा से भिन्न है अथवा यह परमात्मा क्षेत्रज्ञ से भिन्न है, इस प्रकार आत्मा के भेद का आग्रह करना निरर्थक है, क्योंकि यह आत्मा एक ही है किन्तु नाम मात्र के भेद से बहुत प्रकार से उसका कथन होता है । 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म यो वेद

निहितं गुहायाम्' [तै० २ । १] (जो सत्य, ज्ञान स्वरूप, अनन्त ब्रह्म को गुहा में रहा हुआ जानता है) ऐसा जो कहा है वह (बुद्धि के अतिरिक्त) किसी एक गुहा के उद्देश से नहीं कहा है, क्योंकि उस ब्रह्म से अन्य गुहा में कोई नहीं रहता। श्रुति में कहा है :—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २। ६] (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया), यहां स्रष्टा का ही प्रवेश कहा है। जो ऐसा आग्रह करते हैं, कि ऐसा नहीं है, वे वेदान्त के अर्थ का बाध करने से श्रेय का द्वार जो सम्यग्ज्ञान है उसका ही बाध करते हैं, और जो यह कल्पना करते हैं कि मोक्ष कृत्रिम यानी उत्पन्न किया हुआ और अनित्य है, वे लोग न्याय नहीं करते ॥ २२ ॥

(७) प्रकृत्यधिकरण । सू० २३-२७

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का विरोध न होने से प्रकृतिः [ब्रह्म इस प्रपंच का उपादान कारण च और [निमित्त कारण है] ।

जैसे अभ्युदय का हेतु होने से धर्म जिज्ञासा करने योग्य है ऐसे ही मोक्ष का हेतु होने से ब्रह्म जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा कहा है। 'जन्माद्यस्ययतः' [ब्र० सू० १ । १ । २] (जिससे जगत् उत्पन्न होता है), इस सूत्र से ब्रह्म का लक्षण कहा है। घट और माला आदि का मिट्टी और सुवर्ण उपादान कारण रूप होता है तथा कुम्हार और सोनार निमित्त कारण रूप होते हैं, ब्रह्म में इन दोनों लक्षणों की समानता होने से संशय होता है कि ब्रह्म का कारणत्व किस प्रकार का है ? ...

पूर्वपक्षः – ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म निमित्त कारण है, क्योंकि श्रुति में ईक्षण पूर्वक ब्रह्म को कर्ता कहा है। जैसे कि 'स ईक्षांचक्रे' [प्रश्न० ६ । ३] (उसने ईक्षण किया) 'स प्राणमसृजत' [प्रश्न० ६ । ४] (उसने प्राण को उत्पन्न किया) इत्यादि श्रुतियों से ऐसा समझा जाता है कि ईक्षण पूर्वक ब्रह्म कर्ता है। ईक्षण पूर्वक कर्तृत्व कुम्हार आदि निमित्त कारणों में ही देखने में आता है। लोक में ऐसा समझा जाता है क्रिया के फल की सिद्धि के पहले अनेक कारक होने चाहिये, यही न्याय आदिकर्ता में भी घट सक्ता है, ईश्वरत्व की प्रसिद्धि से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म निमित्त कारण है। जिस प्रकार राजा वैवस्वत आदि ईश्वर निमित्त कारण हैं इसी प्रकार परमेश्वर को भी निमित्त कारण ही समझना चाहिये। कार्य-रूप यह जगत् अवयव युक्त, अचेतन और अशुद्ध प्रतीत होता है; उसका कारण भी वैसा ही होना चाहिये, क्योंकि कार्य और कारण समान देखने में आते हैं। और निष्कलंनिष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' [श्वेता० ६ । १९] (अवयव रहित, क्रिया शून्य, शान्त, दोष रहित और तम रहित) इत्यादि श्रुतियों से ऐसे लक्षण वाला ब्रह्म नहीं समझा जाता। इसलिये ब्रह्म से अन्य, अशुद्धि आदि गुणों वाला, स्मृति में प्रसिद्ध ऐसा उपादान कारण मानना चाहिये, क्योंकि ब्रह्म को कारण बताने वाली श्रुतिका निमित्त कारण में ही पर्यवसान होता है।

समाधान:—इसके उत्तर में कहना चाहिये कि ऐसा नहीं है। प्रतिज्ञा और दृष्टांत के विरोध आने से ब्रह्म को प्रकृति यानी उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही मानना चाहिये। केवल निमित्त कारण ही मानना ठीक नहीं है, क्योंकि

ऐसा करने से श्रुति की प्रतिज्ञा और दृष्टांत में वाध नहीं आता। प्रतिज्ञा यह है :—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' [छान्दो ६ । १ । २] (तू मुझसे उसका उपदेश चाहता है कि जिससे नहीं सुना हुआ, सुना हुआ हो जाता है और नहीं जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है)। इसमें ऐसा समझा जाता है कि एक के जानने से अन्य सब जो जाना हुआ नहीं है, उसका भी ज्ञान हो जाता है। यह सर्व विज्ञान उपादान कारण के जानने से होना संभव है, क्योंकि कार्य उपादान कारण से तो अभिन्न होता है, परन्तु निमित्त कारण से नहीं होता, क्योंकि कारीगर से मकान भिन्न देखने में आता है। 'यथा सम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छान्दो० ६ । १ । ४] (हे सोम्य, जैसे एक मिट्टी के पिंड से मिट्टी का सब विकार जाना जाता है, विकार नाम मात्र है, क्योंकि मात्र वाणी से कहने में आता है, मिट्टी ही सच्ची है), श्रुति का यह दृष्टांत भी उपादान कारण को ही लागू पड़ता है। इसी प्रकार और भी कई दृष्टांत हैं, जैसे कि 'एकेन लोह मणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' [छान्दो० ६ । १ । ५] (एक सुवर्णमय मणि से सब सुवर्ण विकार जाना जाता है) और एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं काष्र्णायसं विज्ञातं स्यात्' [छान्दो० ६ । १ । ६] (एक नख काटने वाली नहरनी से सब लोहे का विकार जाना जाता है)। इसी प्रकार अन्य स्थल पर भी यह प्रतिज्ञा है :—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड० १ । १ । ३] (हे भगवन्, किसके जानने से इन सबका ज्ञान हो जाता है) और दृष्टांत यह है :—'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' [मुण्ड०

१।१।७] (जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं)। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर यह प्रतिज्ञा है :—'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् (अरे, वस्तुतः आत्मा के देखने, सुनने, विचारने और जानने से यह सब जाना हुआ हो जाता है)। इसके सम्बन्ध में दृष्टांत यह है :—'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यांञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दोगृहीतः' [बृह० ४।५।६।८] (जिस प्रकार बजते हुए दुन्दुभि के बाहर के शब्दों को ग्रहण करने में कोई शक्तिमान नहीं होता, परन्तु दुन्दुभि के अथवा आघात के ग्रहण करने से शब्द का ग्रहण करने में आता है)। इस प्रकार प्रत्येक वेदान्त में उपादान कारण को बताने वाली प्रतिज्ञा और दृष्टांत समझना चाहिये। इसी कारण नीचे की श्रुति में पंचमी का प्रयोग किया है, जैसे कि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिस ब्रह्म में से ये भूत उत्पन्न होते हैं)। इस स्थानपर 'जनि कर्त्तुः प्रकृतिः' [पा० सू० १।४।३०] (उपादान कारण के अर्थ में पंचमी आती है) इस सूत्र के अनुसार ब्रह्म को उपादान कारण रूप ही जानना चाहिये। तो ब्रह्म से भिन्न अधिष्ठाता न होने से उसी को निमित्त कारण जानना चाहिये। जिस प्रकार लोक में मिट्टी तथा सुवर्ण आदि उपादान कारण कुम्हार और सुनार आदि अधिष्ठाता की अपेक्षा रखते हैं, उस प्रकार ब्रह्म उपादान कारण होते हुए भी अन्य अधिष्टाता की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि उत्पत्ति से पहिले केवल ब्रह्म ही था, ऐसा श्रुति का निश्चय है। इस प्रकार दूसरे अधिष्ठाता का अभाव जो कहने में आया है वह श्रुति की प्रतिज्ञा तथा दृष्टांत के अनुसार ही है ऐसा जानना चाहिये। यदि उपादान कारण से अधिष्ठाता रूप कारण भिन्न मानेंगे तो पीछे एक

के जानने से सब का ज्ञान होना असंभव होगा और ऐसा होने से प्रतिज्ञा और दृष्टांत का बाध होगा। इसलिये अन्य अधिष्ठाता का अभाव होने से आत्मा कर्ता है तथा अन्य उपादान का अभाव होने से आत्मा प्रकृति है ॥ २३ ॥

आत्मा कर्ता और प्रकृति किस प्रकार है, पुनश्च कहते हैं—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

च और **अभिध्योपदेशात्** सृष्टि के संकल्प के उपदेश से [परमात्मा इस जगत् का कर्ता–निमित्त कारण और प्रकृति–उपादान कारण है]।

'सोऽकामयत वहुस्यां प्रजायेय' (उसने इच्छा की कि मैं वहुत होऊँ तथा उत्पत्ति करूँ और 'तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेय (उसने ईक्षण किया कि मैं वहुत होऊँ और उत्पत्ति करूँ) इस प्रकार सृष्टि का उपदेश यह जतलाता है कि आत्मा कर्ता और प्रकृति है। संकल्प पूर्वक स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति से तो ऐसा समझा जाता है कि आत्मा कर्ता है और वहुत होने का संकल्प प्रत्यगात्मा को लागू पड़ने से यह समझा जाता है कि आत्मा प्रकृति है ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नात् ॥ २५ ॥

च और **साक्षात्** साक्षात् (अन्य उपादान विना) **उभयाम्नात्** [ब्रह्म से] दोनों के (उत्पत्ति और प्रलय के) कथन से [निश्चय होता है कि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है]।

ब्रह्म प्रकृति (उपादान कारण) है, क्योंकि साक्षात् ब्रह्म को ही कारण मान कर प्रभव और प्रलय दोनों श्रुति में कहे हैं; जैसे कि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवसमुत्पद्यन्ते।

आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति ॥' [छान्दो० १ । ६ । १] (ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही विलीन होते हैं)। जो जिसमें से उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादान है, यह प्रसिद्ध है; जैसे कि व्रीहि, यवादि का उपादान कारण पृथिवी है। 'साक्षात्' शब्द से सूत्रकार का अभिप्राय ब्रह्म ही उपादान कारण है ऐसा बताने का है और 'आकाशादेव' शब्द से यही सिद्ध होता है कि यहाँ अन्य उपादान का ग्रहण नहीं है। यह तो निश्चित ही है कि कार्य का लय उपादान के सिवाय अन्य किसी में कभी नहीं होता ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

आत्मकृतेः [ब्रह्म के] अपने कर्म द्वारा परिणामात् [प्रपंच रूप] परिणाम से [ऐसा निश्चय होता है कि ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है]।

ब्रह्म प्रकृति (उपादान कारण) रूप है, क्योंकि ब्रह्म की प्रक्रिया में श्रुति में इस प्रकार कहा है:—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २ । ७] (पीछे अविकारी ब्रह्म ने अपने आत्मा को जगत् रूप किया)। इस प्रकार श्रुति आत्मा का कर्मत्व और कर्तृत्व दर्शाती है। यहां 'आत्मानं' यह कर्म रूप है और 'स्वयं अकुरुत' यह कर्ता रूप है। यदि कहो कि जो वस्तु पूर्व सिद्ध है और जो कर्ता रूप से निरूपण की गई है, वह वस्तु क्रियमाण का रूप कैसे हो सकती है, तो उसका उत्तर यह है कि परिणाम के कारण से ऐसा होता है। यद्यपि आत्मा स्वयं पूर्वसिद्ध है तो भी वह विशेष रूप से जगत् रूप परिणाम को यानी विकार को प्राप्त हुआ है, जैसे मिट्टी आदि प्रकृति के विकारी होने से घट रूप परिणाम देखने म आता है। यहां पर 'स्वयं' ऐसा जो विशेषण

लगाया है वह ऐसी प्रतीति कराता है कि उसमें अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं है।

अथवा, परिणामात्' ऐसा भिन्न सूत्र लिया जाय तो उसका अर्थ इस प्रकार होगा—प्रकृति ब्रह्म रूप है, क्योंकि ब्रह्म के ही प्रपंच भूत विकार द्वारा जगत् रूप परिणाम है। इस प्रकार जगत् और ब्रह्म का समानाधिकरण होने से ब्रह्म उपादान कारण है। श्रुति में कहा है:—'सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च' [तैत्ति० २। ६] (प्रत्यक्ष और परोक्ष निर्वाचन हो सके ऐसा और न हो सके ऐसा ब्रह्म ही हुआ) इस प्रकार समानाधिकरण से ब्रह्म का ही जगत् रूप परिणाम होना श्रुति दर्शाती है ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

च और हि जिससेयोनिः [ब्रह्म जगत् का] कारण [है ऐसा श्रुति] गीयते कहती है [इससे भी निश्चय होता है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है]।

और ब्रह्म इस कारण से प्रकृति (उपादान कारण) है कि वेदान्त में ब्रह्म को 'योनि' कहा है, जैसे कि 'कर्तार मीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' [मुण्ड० ३। १। ३] (कर्ता, ईश, पुरुष, ब्रह्म योनि को धीर पुरुष ध्यान से देखता है) और 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।' [मुन्ड० १। १। ६] (जिसको विद्वान् भूतयोनि जानते हैं)। योनि शब्द लोक में प्रकृति वाचक समझा जाता है, जैसे कि 'पृथिवी योनिरोषधवनस्पतीनाम्' (औषधि और वनस्पति की पृथिवी योनि है)। स्त्री योनि भी अवयव द्वारा गर्भ की उपादान कारण है ही। कहीं २ योनि शब्द स्थान वाचक भी है, जैसे कि 'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' [ऋ० सं०

१।१०४।१] (हे इन्द्र ! तेरी बैठक के लिये मैंने स्थान किया है) और 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' [मुण्ड० १।१।७] (जैसे मकड़ी जाल उत्पन्न करती है, और फिर समेट लेती है), इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा समझना चाहिये कि योनि शब्द प्रकृति वाचक है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म प्रकृति है। और ईक्षण पूर्वक कर्तृत्व लोक में कुम्हार आदि निमित्त कारणों में ही देखा जाता है उपादान में नहीं, इत्यादि जो कहा है, उसका निराकरण इस प्रकार करना चाहिये कि यहाँ लोक के समान नहीं समझना चाहिये क्योंकि ये अर्थ अनुमानगम्य नहीं हैं, किन्तु श्रुतिगम्य होने से शब्द के अनुसार ही यहाँ अर्थ होना चाहिये। ईक्षण करने वाला ईश्वर प्रकृति है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है ऐसा हमने कहा है और विस्तार से आगे कहेंगे ॥२७॥

(८) सर्वव्याख्यानाधिकरण ।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतेन इससे (प्रधान कारणवाद के निषेध से) सर्वे सब (परमाणु आदि सब कारणवाद) व्याख्याताः [निषेध रूप से] व्याख्यान किये गये व्याख्याताः व्याख्यान किये गये।

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ब्र० सू० १।१।५।] (प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि वह अशब्द है ईक्षति से) इस सूत्र का आरम्भ करके सूत्रों द्वारा ही बारम्बार आशंका करके प्रधान कारणवाद का निराकरण किया। सांख्यवादसम्बन्धी कितने ही वेदान्त में आये हुए वाक्य कितने ही मन्द मति वालों को सच्चे हों, ऐसे भासते हैं, वे वाद कार्य तथा कारण वाद की एकता मानते हैं, इसलिये वेदान्त वाद के निकट हैं। देवल आदि

कितने ही धर्म सूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में उनका आश्रय लिया है, इसलिये उनके प्रतिषेध के लिये विशेष यत्न किया है, परन्तु अणु आदि कारणवाद के लिये यत्न नहीं किया। ब्रह्मकारण-वाद के प्रतिपक्षी होने से उनका भी प्रतिशेध करना चाहिये, क्योंकि मन्द मति वालों को कई एक वैदिक लिंग प्रथम दृष्टि से उन वादों का पोषण करने वाले मालूम होते हैं। इसलिये प्रधान मल्ल निवर्हण (मुख्य मल्ल को हराने से सब हराये गये) न्याय से अतिदेश करते हैं, यानी प्रधान कारण वाद के प्रतिषेध करने से अणु आदि सब वादों का भी प्रतिषेध किया हुआ समझना चाहिये, क्योंकि वे भी प्रधान के समान अशब्द यानी श्रुति विरुद्ध हैं। 'व्याख्याता व्याख्याताः' दो वार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचन करता है ॥ २८ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के प्रथम अध्याय का चतुर्थ पाद
समाप्त हुआ।
॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

दूसरा अध्याय प्रथम पाद ।

प्रथम अध्याय में निरूपण किया है कि जिस प्रकार घट का कारण मृतिका है और माला आदि का कारण सुवर्ण है इसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वेश्वर उत्पत्ति का कारण परमेश्वर ही उत्पन्न हुए जगत् की स्थिति का कारण है और नियामक भी है और वही परमात्मा विस्तार वाले जगत् का अपने में उपसंहार करने का कारण है। जिस प्रकार पृथिवी चारों प्रकार के भूत समूह का कारण है इसी प्रकार परमात्मा है। परमात्मा ही हम सब का आत्मा है। इस प्रकार वेदान्तवाक्यों की एकवाक्यता प्रतिपादन करके तदनुसार प्रतिपादन किया है और यह भी निरूपण किया है कि प्रधानादि कारणवाद वेद प्रतिपादित नहीं हैं। अब इस अध्याय में स्मृति और न्याय के जिन वचनों का वेदान्त से विरोध है, उनका परिहार किया गया है तथा प्रधानादि वाद जो न्याय का आभास कराने वाले हैं, उनका परिहार किया हैं। अब सब वेदान्त वचन सृष्टि आदि प्रक्रिया का निरूपण करने वाले हैं, इस प्रकार का अर्थ निरूपण करने के लिये इस अध्याय का आरंभ किया जाता है।

प्रथम स्मृति विरोध को कथन करके उसका परिहार करने के लिये भगवान् सूत्रकार कहते हैं :—

(१) स्मृत्यधिकरण । सू० १-२

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः [ब्रह्म जगत् का कारण होने से कपिल आदि की] स्मृति के अनवकाश (निरर्थकता) रूप दोष

का प्रसंग [वेदान्तमत में प्राप्त होगा इति ऐसा चेत [कहो] तो न [यह आशंका संभव] नहीं है, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् [क्योंकि] अन्य स्मृतियों के अनवकाश रूप दोष के प्रसंग से [हमारे मत में दोष की प्राप्ति नहीं होती]।

प्रतिपक्षी :—सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृति में ऐसा सूचन नहीं किया है इसलिये दोष आवेगा। सांख्य तंत्र नाम की स्मृति महर्षि (कपिल) की रची हुई है, विद्वानों ने उसे प्रमाण माना है और दूसरी स्मृतियां भी उसी के अनुसार हैं। ब्रह्म को जगत् का कारण मानना, उस सांख्य स्मृति से विरुद्ध होगा, क्योंकि उस सांख्य स्मृति में प्रधान को जगत् का स्वतंत्र कारण माना है। मनुस्मृति आदि अन्य स्मृतियां क्रिया के लक्षण वाले अग्निहोत्रादि धर्मों का निरूपण करने वाली होने से एक प्रकार से उपयोगी हैं, जैसे, अमुक वर्ण को अमुक काल में ही अमुख विधि के अनुसार उपनयन संस्कार करना, अमुक आचार का ही पालन करना अमुक प्रकार से ही वेद का अध्ययन करना, तथा अमुक प्रकार से ही स्त्री के साथ संयोग रखना। परंतु कपिल आदि स्मृतियों का वर्णाश्रम कर्म, धर्म आदि विषय नहीं है, उन में तो मोक्ष के साधन रूप सम्यक् दर्शन सम्बन्धी विवेचन ही किया गया है। यदि इनमें मोक्ष सम्बन्धी भी कोई विवेचन न हो तो वे निरर्थक ही हो जायंगी, इसलिये इनके अनुसार वेदान्त वाक्यों का विवेचन होना चाहिये। यदि कोई कहे कि ईक्षण आदि कारण को लेकर श्रुति ने ऐसा सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, तो स्मृति से विरोध आवेगा इस प्रकार की अपेक्षा करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है :—जो पुरुष स्वतंत्रता से श्रुति को समझ सकते हैं

उनके लिये यह आक्षेप नहीं हो सकता परंतु, परतंत्र बुद्धि से श्रुति के अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते, इसलिये प्रसिद्ध ऋषियों की रची हुई स्मृति पर उनको आधार रखना पड़ता है। इस प्रकार आधार रखने से ही वे श्रुति के अर्थ को समझ सकते हैं। स्मृतियों के रचने वालों के लिये उनके दिल में पूरा मान है, इसलिये हमारे व्याख्यान में उनको विश्वास नहीं है, कपिल आदि ऋषियों का ज्ञान अप्रतिहत कहा गया है। श्रुति में कहा हैं :—'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' [श्वेता० ५। २] (जिसने आरंभ में उत्पन्न किये हुए कपिल ऋषि को उत्पन्न होते ही ज्ञान देकर उनका पोषण किया, उसको देखना चाहिये)। इसलिये ऐसा नहीं कह सकते कि सांख्य का मत ठीक नहीं है। सांख्य तर्क का अवलम्बन करके अपने मूल विषय का प्रतिपादन करता है इसलिये भी स्मृतियों का आश्रय लेकर ही वेदान्त के अर्थ का व्याख्यान करना चाहिये ऐसा हमारा आक्षेप है।

सिद्धान्तीः--इसका समाधान यह है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा ही मानें तो अन्य स्मृतियां निरर्थक हो जाती हैं। यदि सांख्य स्मृति को लेकर ईश्वरकारण वाद पर आक्षेप किया जाय तो अन्य स्मृतियां जो ईश्वरकारण वादी हैं, उनमें दोष का प्रसंग आवेगा। इसका उदाहरण यह हैः—'यत्तत् सूक्ष्ममविज्ञेयम्' (जो सूक्ष्म है, वह अविज्ञेय है) इस प्रकार परब्रह्म का प्रस्ताव कर के फिर कहा हैः—'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते (वह वस्तुतः प्राणियों का अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहलाता है)। ऐसा कह कर फिर यह कहा हैः—'तस्माद-व्यक्त मुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' (हे द्विज श्रेष्ठ, उसमें से तीन गुण वाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ है।) इसी प्रकार दूसरे स्थान पर ऐसा

कहा है:—'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे संप्रलीयते' (हे ब्रह्मन्, निर्गुण पुरुष में अव्यक्त का लय होता है)। पुराण में ऐसा कहा है:—'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्व मिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥" (यह अब संक्षेप से तुम सुनो, यह सब सनातन नारायण है। वह सृष्टि काल में सब को उत्पन्न करता है और संहार काल में फिर उनको भक्षण कर जाता है)। भगवद्गीता में ऐसा कहा है:—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [भग० गी० ७। ६] (मैं सब जगत् का उत्पत्ति स्थान और प्रलय स्थान हूं)। और परमात्मा का प्रस्ताव करके आपस्तम्ब पढ़ता है:—'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वं स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' [ध० सू० १। ८। २३। २] (उस ईश्वर से सब शरीर उत्पन्न होते हैं; वह उपादान है, कूटस्थ है, नित्य है)। इस प्रकार अनेक रीति से स्मृतियों में ईश्वर को कारण और उपादान रूप कहा है। स्मृति के बल से सामने खड़े होने वाले को स्मृति के बल से ही उत्तर मिलना चाहिए, इस हेतु से अन्य स्मृतियों की निरर्थकता के दोष का सूत्रकार उपन्यास करते हैं। यह तो हम पूर्व में ही दिखला चुके हैं कि श्रुतियों का तात्पर्य तो ईश्वरकारणवाद में ही है। जहां स्मृतियों में विरोध हो, वहाँ एक स्मृति का ग्रहण और दूसरी का त्याग अवश्य करना चाहिये। जो स्मृति श्रुति के अनुसार हो, उसका ग्रहण करना चाहिये और जो स्मृति श्रुति से विरुद्ध हो, उसका त्याग करना चाहिये, क्योंकि प्रमाण लक्षण में कहा है:—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' [जै० सू० १। ३। २] (श्रुति के साथ विरोध हो तो स्मृति का प्रामाण्य त्यागने योग्य है और विरोध न हो तो स्मृति को प्रमाण माने)। जो विषय इन्द्रियों

से ग्रहण नहीं हो सकते उनका ग्रहण करना श्रुति के सिवाय अन्य प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य साधन का अभाव है। यदि ऐसा कहो कि कपिल आदि सिद्धोंको इन्द्रियों से अग्राह्य ऐसे विषयों का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि उनका ज्ञान अप्रतिहत है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धि अपेक्षा वाली है यानी सिद्धि धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा रखती है और धर्म प्रेरणा लक्षण वाला है। इसी प्रकार पूर्व सिद्ध प्रेरणा के अर्थ में पीछे से सिद्ध होने वाले पुरुष के वचन बल से अतिशंका करनी यानी बाध लाना योग्य नहीं है। सिद्ध अनेक हुए हैं इसलिये उन्होंने भिन्न भिन्न कल्पनाओं का निरूपण किया है। जहां दो स्मृतियों का विरोध हो, वहाँ जो स्मृति श्रुति के अनुसार हो, उसका ही ग्रहण करना चाहिये और उससे विरुद्ध का त्याग करना चाहिये। स्मृति मनुष्यों की बनाई हुई हैं। मनुष्य परतंत्र बुद्धि वाला है, इसलिये मनुष्य की बनाई हुई स्मृति के सम्बन्ध में पक्षपात करना ठीक नहीं है। यदि पक्षपात किया जायगा तो पुरुषों की बुद्धि भिन्न २ प्रकार की होने से तत्त्व की व्यवस्था ठीक न होगी। जहाँ स्मृति में दोष प्रतीत हो, वहाँ अमुक स्मृति श्रुति के अनुसार है और अमुक स्मृति श्रुति के अनुसार नहीं है, ऐसा निर्णय करके सन्मार्ग में बुद्धि को लगाना चाहिये। यद्यपि श्रुति ऐसा कहती है कि कपिल का ज्ञान अद्भुत है, तो भी कपिल का मत जो श्रुति से विरुद्ध है वह भी ग्रहण करने योग्य नहीं होगा। फिर श्रुति में केवल कपिल ऐसा नाम दर्शाया है, कपिल नाम का एक वह मुनि था, जिसने सगर के पुत्रों को जलाकर भस्म कर दिया था, दूसरा वासुदेव नाम का भी कपिल हुआ है। वैसे ही, दी हुई श्रुति में (श्वे० ५।२) कपिल के सर्वज्ञत्व का कथन गौण होने से उसकी सिद्धि नहीं

होती। मनु के महात्म्य को दर्शाने वाली श्रुति भी इस प्रकार है; 'यद्वै किं च मनुरवदत्तद्भेषजम् [तै० सं० २।२।१०।२] (जो कुछ मनुने कहा है, वह औषध है)। मनु ने एक स्थल पर कहा है:-सर्वभूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि, चात्मनिसंपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' [१२।९१] (सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखने वाला आत्मयाजी स्वाराज्य को प्राप्त करता है)। यहाँ ऐसा समझा जाता है कि 'सब आत्मा है' ऐसा दर्शाता हुआ मनु कपिल के मत की निन्दा करता है; क्योंकि कपिल का मत इससे विरुद्ध है कपिल तो आत्मा का भेद स्वीकार करता है। महाभारत में भी कहा हैं:—'वहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुता हो एक एव तु' (हे ब्रह्मन, आत्मा बहुत हैं या एक ही है) इस प्रकार कह कर आगे कहा है:—'बहवः पुरुषा राजन् सांख्य योग विचारिणाम्' (हे राजन् ! सांख्य और योग दर्शन वालों के मत में आत्मा अनेक हैं) पीछे इस पक्ष का खंडन करते हुए कहा है:—'वहुनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्' ॥ (जैसे वहुत शरीरों का एक (पृथिवी) कारण कहलाती है, ऐसे ही उस सर्वात्मक और सर्वगुणसंपन्न आत्मा को कहूँगा) ऐसा उपक्रम कर के अन्त में कहा है:—''ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देह-संस्थिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्य केनचित् क्वचित् ॥ विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥'' (मेरा, तेरा और देह में रहे हुए जो अन्य हैं, उन सब का यह अन्तरात्मा और साक्षी है, वह किसी से भी कभी ग्रहण नहीं किया जा सक्ता; इस के अनन्त मस्तक हैं, अनन्त भुजायें हैं, अनन्त पाद, आंखें और नासिका हैं, वह एक स्वरूप से सब भूतों में सुख से विचरता है,)

इस प्रकार सर्वात्मात्व का निश्चय किया गया है। श्रुति भी इसी प्रकार सर्वात्मात्व दर्शाती है; जैसे 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः [ई० ७] (जिस समय ऐसा ज्ञान होता है कि सर्व भूत आत्मा रूप हैं, तो फिर इस प्रकार एकत्व के देखने वाले को मोह और शोक कैसे हो)। इससे सिद्ध होता है कि कपिल ऋषि का दर्शन वेद से विरुद्ध है और वेद के अनुसारी मनु के वचनों से भी विरुद्ध है। केवल स्वतन्त्र प्रकृति की कल्पना से ही ऐसा सिद्ध नहीं होता, किन्तु आत्मा के भेद की कल्पना से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। जैसे रूप के विषय में सूर्यका प्रामाण्य है वैसे ही वेदका प्रामाण्य भी अपने विषय में अपेक्षा रहित है। पुरुष के वचनों को अन्य वस्तु की अपेक्षा होती है और वक्ता की स्मृति उसी में शामिल है, इसलिये वेद वचन और स्मृति वचन में भेद है। इसलिये वेद विरुद्ध विषय में स्मृति की व्यर्थता रूप दोष का प्रसंग नहीं है ॥ १ ॥

स्मृति के अनवकाश का प्रसंग रूप दोष नहीं है, इस का और हेतु कहते हैं:—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

च और इतरेषां [प्रकृति से] भिन्न की अनुपलब्धेः [वेद में तथा लोक में] अप्रसिद्धि होने से [स्मृति के अनवकाश का प्रसंग रूप दोष वेदान्त में नहीं है]।

महदादि तत्त्व जो स्मृति में प्रधान के परिणाम रूप माने गये हैं, वे लोक में तथा वेद में प्रसिद्ध नहीं हैं। भूत और इन्द्रियां वेद और लोक में प्रसिद्ध हैं, इसलिये उनकी स्मृति हो सकती है, परन्तु लोक में और वेद में प्रसिद्ध न होने से इन्द्रियों के छठे

विषय के समान महद आदि की स्मृति नहीं होसकती। यद्यपि कहीं कहीं ऐसा भासता है कि श्रुति महद् आदि का प्रतिपादन करती है, परन्तु वास्तव में वैसा नहीं है, इसका 'आनुमानिक मप्येकेषाम्' [ब्रह्म सू० १।४।१] (कोई शाखा वाला प्रधान को अनुमान प्रमाण रूप मानता है) इस सूत्र में व्याख्यान किया गया है। जो स्मृति कार्य संबंधमें अप्रमाण हो वह कारण सम्बन्धमें भी अप्रमाण होजाय यह ठीक है, ऐसा अभिप्राय है। इस कारण से भी अनवकाश के प्रसंग का दोष नहीं है। 'न विलक्षणत्वात्' [ब्रह्म० सू० २।१।४] इस सूत्र से सूत्रकार इनके तर्क के अवलम्बन का खण्डन करेंगे ॥ २ ॥

(२) योगप्रत्युक्तयधिकरण।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

एतेन इसके द्वारा (सांख्य स्मृति के निषेध द्वारा) योगः योग स्मृति का [भी] प्रत्युक्तः निषेध किया गया [ऐसा समझना चाहिये]।

यह सूत्र यह जतलाता है कि इस प्रकार सांख्य स्मृति के खण्डन करने से यह समझना चाहिये कि योग स्मृति का भी खण्डन किया गया। योग में भी श्रुति से विरुद्ध प्रधान को जगत् का स्वतन्त्र कारण रूप माना है और इसी प्रकार महदादि कार्यों की कल्पना की है, जो लोक में और वेद में प्रसिद्ध नहीं है।

प्रतिपक्षी:—जब दोनों के खंडन की युक्तियाँ समान ही हैं तो इस सूत्र में पुनः उसी का निरूपण करने में क्यों आया है? यहां पर एक और भी शंका होती है, वह यह है कि वेद में कहा है कि सम्यक् दर्शन का उपाय योग है। श्रुति में ऐसा कहा

है:—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृह० २।४।५] (श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये और निदिध्यासन करना चाहिये) फिर ऐसा कहा है—'त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीरम्' [श्वेता० २। ८] (छाती, ग्रीवा और शिर इन तीनों भागों को खिचे हुए और समान यानी एक सीध में रखना चाहिये) इस प्रकार आसन आदि की कल्पना पूर्वक बड़े विस्तार से योग का निरूपण श्वेताश्वतर उपनिषद् में किया है। योग सम्बन्धी हजारों वैदिक वचन देखने में आते हैं; जैसे कि 'तां योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' [काठ० २। ६। ११] (इन्द्रियों को दृढ़ नियम में रखने को योग मानते हैं,) 'विद्यामेतां योग विधिं च कृत्स्नम्' [काठ २। ६। १२] (इस ब्रह्मविद्या और संपूर्ण योग विधि को प्राप्त करके) इत्यादि। योगशास्त्र में भी कहा है:—' अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' (तत्त्व दर्शन का उपाय योग है)। इस प्रकार योग को सम्यक् दर्शन का उपाय रूप अंगीकार किया, है इसलिये योग स्मृति के विषय का एक भाग श्रुति के अनुसार होने से योग स्मृति भी अष्टकादि स्मृति के समान अबाधित हो जायगी (अष्टकादि श्राद्ध के लिये श्रुति में प्रमाण नहीं है, परन्तु, विरोध भी नहीं है इसलिये वह प्रमाण है)।

सिद्धान्ती :—इस शंका की निवृत्ति के लिये यह अति देश (पुनर्निरूपण) है। यद्यपि योग में जो विषय है, उसका कुछ भाग श्रुति के अनुसार है तो भी कुछ भाग श्रुति से विरुद्ध भी देखने में आता है। इसलिये अध्यात्म सम्बन्धी अनेक स्मृतियां हैं तो भी सांख्य तथा योग स्मृति के निराकरण करने का प्रयत्न करने में आया है; क्योंकि लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि सांख्य तथा योग परम पुरुषार्थ के साधन रूप हैं और विद्वान् इन दोनों स्मृतियों

को प्रमाणमानते हैं और वे दोनों स्मृतियां श्रुतिके वचनों की पुष्टि करने वाली हैं श्रुतिमें कहा है :—'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' [श्वेता० ६ । १३] (उन कार्यों के कारण रूप सांख्य और योग से प्राप्त हुए देव को जान कर सब पाशों से मुक्त होता हैं)। निराकरण तो इसलिये किया है कि केवल सांख्य ज्ञान अथवा योग मार्ग से वेद के विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि श्रुति में कहा है कि वैदिक आत्मा के एकत्व विज्ञान के सिवाय अन्य कोई भी कल्याण का साधन नहीं है। श्रुति में कहा है :—'तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [श्वेता० ३ । ८] (उस को जान कर ही मृत्यु को उल्लघंन करता है, मोक्ष को प्राप्ति के लिये अन्य मार्ग नहीं है) । दूसरे सांख्य तथा योग दोनों द्वैत वाद वाले हैं, इसलिये वे आत्मा एक है ऐसा नहीं मानते । 'तत्कारण सांख्य योगाभिपन्नं' (सांख्य और योग से विज्ञात होंने वाले कारण को) ऐसा जो कहा है उसमें वैदिक ज्ञान और ध्यान का सांख्य और योग इन शब्दों से निर्देश किया है ऐसा इनके सान्निध्य से विदित होता है। जिसमें श्रुति का विरोध न आता हो, उनमें सांख्य तथा योग स्मृति का ग्रहण करना चाहिये, जैसे कि बृहदारण्यक में कहा है :—'असंगो ह्ययं पुरुष.' [बृह० ४ । ३ । १६] (यह पुरुष संग से रहित है) इस प्रकार पुरुष की विशुद्धता जैसे श्रुति में प्रसिद्ध है उसी प्रकार निर्गुण पुरुष का निरूपण करता हुआ सांख्य शास्त्र भी ऐसा ही सूचन करता है। इसी प्रकार योग में भी कहा है :—'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' [जावा० ५] (संन्यासी किसी भी रंग से रहित वस्त्र वाला, मुँडा हुआ और परिग्रह रहित होना चाहिये)

इसी प्रकार, श्रुति में भी जो प्रसिद्ध है कि संन्यासी निवृत्त धर्म के लक्षण वाला हैं, उसीका इसमें अनुकरण है। इस प्रकार सब तर्क स्मृतियों का निराकरण किया है। यदि ऐसा कहो कि ये भी तो तर्क तथा युक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान में उपकारी हैं, तो वे उपकारी भले हों परन्तु तत्त्वज्ञान तो वेदान्त वाक्य द्वारा ही होता है, जैसा कि श्रुति में कहा है: –नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' [तै० ब्रा० ३।१२।६।७] (वेद न जानने वाला उस ब्रह्म का मनन नहीं करता), 'तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' [बृह० ३। ९। २६] (उपनिषद गम्य उस आत्मा को पूछता हूँ) ॥ ३ ॥

(३) विलक्षणत्वाधिकरण सू० ४-११

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वंच शब्दात् ॥ ४ ॥

अस्य इसकी [इस जगत् की] विलक्षणत्वात् [ब्रह्म से] विलक्षणता होने से न [ब्रह्म इस जगत् का उपादान करण] नहीं च और शब्दात् श्रुति से [भी] तथात्वं वैसा होना (विलक्षण होना) [सिद्ध होता है]।

ब्रह्म इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण है, इसके सम्बन्ध में स्मृति के निमित्त वाले आक्षेप का परिहार किया, अब तर्क निमित्त वाले आक्षेप का परिहार करते हैं। शास्त्र के अर्थ का निश्चय हो जाने पर तर्क के निमित्त आक्षेप का अवकाश कैसा ? यदि कहो कि धर्म के समान ब्रह्म के संबंध में भी शास्त्र सब प्रकार की अपेक्षा रहित है, तो, यह तब हो सकता है जब आचरणीय धर्म के समान यह विषय केवल शास्त्र का प्रमेय रूप हो। परन्तु ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है ऐसा जाना जाता है इसलिये जैसे पृथ्वी के सम्बन्ध में है इसी प्रकार सिद्ध वस्तु में भी अन्य प्रमाण का अवकाश है। जिस प्रकार जहाँ

श्रुतियों में बिरोध होता है वहां एक को प्रधान उसी के अनुसार अन्य का अर्थ लगाया जाता है, उसी प्रकार जहाँ अन्य प्रमाण का विरोध आता हो, वहाँ प्रमाण के अनुसार ही श्रुति का ग्रहण करना चाहिये। दृष्ट के साम्य से अदृष्ट वस्तु का समर्थन करने वाली युक्ति अनुभव के समीप है, परन्तु श्रुति परोक्ष वाद द्वारा अपने विषय का यानी मोक्ष का निरूपण करती है, इसलिये श्रुति प्रमाण अनुभव प्रमाण से दूर है। और ब्रह्म विद्या से अविद्या का नाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है इस कारण से ब्रह्म ज्ञान प्रत्यक्ष फल वाला तथा अनुभव में आने वाला है। श्रुति में कहा है :—'आत्मा श्रोतव्यो मंतव्यः' (आत्मा श्रवण करने योग्य तथा मनन करने योग्य है) इस प्रकार श्रवण के सिवाय मनन का विधान भी करने में आया है तथा तर्क का भी अंगीकार करना चाहिये, ऐसा श्रुति दर्शाती है। इसलिये न 'विलक्षणत्वात्०' इत्यादि सूत्र से तर्क के बल से आक्षेप करने में आता है।

पूर्वपक्ष :—ब्रह्म जगत् से विलक्षण होने से जगत का कारण रूप नहीं है, इस लिये चेतन ब्रह्म जगत् का कारण रूप तथा प्रकृति रूप है, यह जो कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि, ब्रह्म के विकार रूप जगत् की उसके कारण से विलक्षणता देखने में आता है। ब्रह्म का कार्य रूप निरूपण किया हुआ जगत् ब्रह्म से विलक्षण अचेतन तथा अशुद्ध देखने में आता है और ब्रह्म तो जगत् से विलक्षण चेतन स्वरूप तथा शुद्ध स्वरूप निरूपण किया गया है। प्रकृति का विकार प्रकृति से विलक्षण कभी नहीं हो सकता। सुवर्ण के विकार माला आदि मृत्तिका के विकार रूप नहीं होते, इसी प्रकार घट शरावाद मृत्तिका के विकार सुवर्ण के विकार नहीं होसकते। मृत्तिका ही से मृत्तिकारूप विकार

होता है और सुवर्ण ही से सुवर्ण रूप विकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अचेतन रूप तथा सुख दुःख और मोह वाला जगत् भी अचेतन स्वरूप तथा सुख दुःख और मोहात्मक कारण का ही कार्य होना चाहिये। ऐसे गुणों से विलक्षण अर्थात् चेतन स्वरूप तथा सुख दुःख से रहित ब्रह्म का कार्य जगत् नहीं हो सकता। ब्रह्म से जगत् की विलक्षणता अर्थात् अशुद्धि, अचेतनत्व शास्त्र में निरूपण किया गया है। जगत् सुख, दुःख तथा मोहात्मक होने से अशुद्ध है, प्रीति, दुःख तथा विषाद आदि का कारण है और स्वर्ग तथा नरक आदि अनेक प्रकार के प्रपंच वाला है और वह अचेतन है, क्योंकि वह शरीर इन्द्रिय भाव से चेतन के उपकार के लिये है ऐसा देखने में आता है क्योंकि जिन वस्तुओं में समानता होती है, उनमें उपकार्य और उपकारक भाव नहीं होता। दो प्रदीप परस्पर उपकारक नहीं होते। यदि कहो कि जैसे स्वामी अपने सेवक पर उपकार करता है, इसी प्रकार कार्य कारण रूप चेतन भी भोक्ता का उपकारक होगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वामी तथा सेवक में भी अचेतन अंश ही चेतन पर उपकारक होता है। चेतन को ग्रहण करने वाले बुद्धि आदि का जो अचेतन भाग है, वही अन्य चेतन पर उपकार करता है। एक चेतन दूसरे चेतन पर कभी भी उपकार अथवा अपकार नहीं कर सकता; क्योंकि साँख्य दर्शन वाले चेतनों को निरतिशय रूप, तथा अकर्ता मानते हैं। इसलिये शरीर और इन्द्रिय अचेतन ही सिद्ध हुए और काष्ठ लोष्ठ आदि की चेतनता में कोई प्रमाण ही नहीं है। लोक में चेतन और अचेतन का विभाग प्रसिद्ध है। इसलिये जगत् ब्रह्म से विलक्षण होने से इसका कारण ब्रह्म नहीं है।

यदि कोई ऐसा कहे कि—श्रुति के अनुसार जगत् का कारण

चेतन है, तो मैं कहता हूं कि इस प्रकार तो सब जगत् चेतन स्वरूप है, क्योंकि जैसा स्वरूप प्रकृति का है वैसा ही स्वरूप प्रकृति के विकार का भी होता है ऐसा देखने में आता है। अब कहीं कहीं चेतना की प्रतीति नहीं होती इसका कारण उसके विशेष प्रकार के परिणाम हैं। जैसे स्वप्न तथा मूर्च्छादि अवस्थाओं में स्पष्ट चैतन्य आत्माओं का चैतन्य भी व्यक्त नहीं होता, इसी प्रकार लकड़ी और ढेले आदि का चैतन्य भी व्यक्त नहीं होता। और रूप आदि का भाव तथा अभाव चेतन का व्यक्तता तथा अव्यक्तता के कारण से शरीर तथा इन्द्रि रूप आत्मा में चेतनता सामान्य रूप से होने पर भी गौणता तथा प्रधानता सम्बन्धी विरोध नहीं आता। जैसे कि मांस, सूप, ओदन आदि में सामान्य रूप से पृथिवी का विकार है, तो भी विशेष धर्म होने से उनमें उपकारित्व देखने में आता है, इसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये, तथा इस प्रकार तर्क का ग्रहण करने से चेतन और अचेतन के विभाग में विरोध नहीं आवेगा।

इसका उत्तर यह है कि—इससे चेतनत्व और अचेतनत्व से लक्षित विलक्षणता का परिहार तो किसी प्रकार हो भी जाय, परन्तु शुद्धि और अशुद्धि से लक्षित हुई विलक्षणता का परिहार नहीं हो सकता और अन्य विलक्षणता का भी परिहार नहीं होगा। इसलिये सूत्रकार कहते हैं तथात्वं शब्दात्' (जगत् का ऐसा ही रूप है यह श्रुति से विदित होता है)। सब वस्तुओं का चेतनता जानने में नहीं आती, परन्तु श्रुति कहती है कि प्रकृति चेतन रूप है। यदि श्रुति के अनुसार सब में चेतनता प्रतिपादन करने में आवे तो फिर श्रुति के वचन से ही विरोध आता है;

क्योंकि श्रुति से भी विलक्षणता सिद्ध होती है। 'तथात्वम्' (वैसा स्वरूप) से सूत्रकार का अभिप्राय है प्रकृति से विलक्षणता। यहाँ पर शब्दप्रमाण यह है 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' [तै० २। ६] (विज्ञान और अविज्ञान), इस प्रकार किसी २ विभाग की अचेतनता प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है कि चेतन ब्रह्म से जगत् विलक्षण है॥ ४॥

श्रुति में कहीं २ अचेतन स्वरूप पंच महाभूत तथा इन्द्रियों को भी चेतन निरूपण किया है, जैसे कि 'मृदब्रवीत्' [श० प० ब्रा० ६। १। ३। २] (मृत्तिका बोली) 'आपोऽब्रुवन्' [श० प० ब्रा० ६। १। ३। ४] (पानी बोला) और 'तत्तेज ऐक्षन्त' [छां० ६। २। २] (उस तेज ने इच्छा की) 'ता आप ऐक्षत' [छां० ६। २। ४] (उस पानी ने ईक्षण किया) इत्यादि पंच महाभूतों को चेतन स्वरूप दिखाया है। और कहीं २ इन्द्रियों को भी चेतन स्वरूप दिखलाया है, जैसे कि 'ते प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' [बृ० ६। १। ७] (इस प्रकार अपनी अपनी श्रेष्ठता का विवाद करते हुए ये प्राण ब्रह्म के पास गये) और यह भी कहा है 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' [बृह० १। ३। २] (उन्होंने वाणी से कहा कि तू हमारे लिये उद्गाता का कर्म कर)। इसके उत्तर में आगे का सूत्र पढ़ते हैं:—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तु परन्तु [यह शब्द आशंका की निवृत्ति के लिये है] **विशेषानुगतिभ्याम्** विशेष और अनुगति से **अभिमानिव्यपदेशः** अभिमानी का कथन है।

परन्तु शब्द शंकाकी निवृत्ति करता है। 'मृदब्रवीत्' (मृतिका बोली) इस प्रकार की श्रुति से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि भूत और इन्द्रियाँ चेतन हैं, क्योंकि अभिमानी देवता का कथन है। यहाँ पर केवल भूत और इन्द्रियों का कथन नहीं है, किन्तु मृत्तिका आदि के अभिमानी तथा वाणी आदि के अभिमानी चेतन स्वभाव वाले देवों का वाद विवाद रूप चेतन योग्य व्यवहार कहा है, क्योंकि, विशेष भाव और सम्बन्ध से ऐसा सिद्ध होता है। भोक्ता तथा भूत और इन्द्रियों के चेतन तथा जड़ के विभाग वाला विशेष भाव पूर्व में दर्शाया है। यदि सब चेतन रूप हों तो इस प्रकार का विभाग बन न सके। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के संवाद में इन्द्रियों की आशंका का निराकरण किया है और अधिष्ठाता रूप चेतन का ग्रहण किया है, इसलिये इन्द्रियों को देवता रूप से निरूपण किया है; जैसे कि, 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना:' (अपनी श्रेष्ठता के लिये इन देवताओं ने विवाद किया) और 'ता वा एताः सर्वा देवता प्राणे निश्रेयसं विदित्वा' [२ । १४] (इन सब देवताओं ने प्राण में श्रेष्ठता जानकर)। इस प्रकार मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, तथा पुराण आदि द्वारा जानने में आता है कि सब स्थानों पर अपने अपने अभिमानी देव चेतन स्वरूप से रहते हैं। जैसे कि 'अग्नि वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ऐ० ब्रा० २ । ४ । २ । ४] (अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया); इत्यादि श्रुतियां सूचन करती हैं कि इन्द्रियों में अनुग्रह करने वाले देव रहे हुए हैं। जहाँ श्रुति में प्राण सम्बन्धी वाद विवाद है, वहां अंत के भाग में कहा है कि 'ते ह प्राणा. प्रजापतिं पितरमेत्योचु:' [छान्दो० ५ । १ । ७] (उन प्राणों ने प्रजापति पिता के पास जाकर कहा)। इस प्रकार प्राणों का प्रजापति के पास श्रेष्ठता का

निश्चय करने के लिये जाना कहा है। प्रजापति के कहे अनुसार एक २ इन्द्रिय ने कुछ काल के लिये शरीर का त्याग किया। इस प्रकार शरीर में रहने और अलग हो जाने से ऐसा दर्शाया है कि प्राण की श्रेष्ठता है। जैसें कि कहा है:—'तस्मै बलिहरणम्' [बृह० ६। १। १३] (उसके लिये बलि मिले) इस प्रकार अस्मदादि समान जो व्यवहार है, उससे उनमें रहे हुए अभिमानी देवों के उपदेश की दृढ़ता होती है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेज ने इच्छा की) इसमें अधिष्ठाता देव का जो अपने विकार संबद्ध होना है, यही उसका ईक्षण है ऐसा उपदेश है, ऐसा समझना चाहिये। इसलिये यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण है और विलक्षण होने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है।

इसका निराकरण भगवान् सूत्रकार आगे के सूत्र से करते हैं:—

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तु परन्तु दृश्यते [विलक्षणता से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी विलक्षणता लोक में] देखने में आती है।

सिद्धान्ती:—मूलमें जो तु शब्द लगाया है, वह पूर्व पक्ष की निवृत्ति करता है। विलक्षणता होने से ब्रह्म इस जगत् का कारण नहीं है, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि मनुष्य आदि प्रसिद्ध चेतनों में चेतन से विलक्षण केश तथा नख आदि की उत्पत्ति देखने में आती है। इसी प्रकार गोबर आदि अचेतनों से भी विच्छू आदि की उत्पत्ति देखने में आती है। यदि कहो कि पुरुष आदि के शरीर अचेतन हैं और अचेतन शरीर ही केश, नख आदि का कारण है, इसी प्रकार विच्छू आदि के

शरीर भी अचेतन हैं और उन अचेतन शरीरों के अचेतन गोबर आदि कारण रूप हैं तो इस सम्बन्ध में कहते हैं:—ऐसा हो तो भी कोई चेतन तो अचेतन के आश्रय भाव को प्राप्त होते हैं और कोई नहीं भी प्राप्त होते, इस प्रकार की विलक्षणता तो है ही, और स्वाभाविक रीति से परिणाम भाव भी बहुत भिन्न होता है, क्योंकि पुरुष आदिकों का और केश, नख आदि का भी स्व, रूप वदलता है। यही बात गोबर आदि तथा विच्छू आदिक की भी है। अत्यन्त सारूप्य मानें तो प्रकृति और विकार का भेद ही नष्ट हो जाता है। जैसे पुरुषादि के केश तथा नख आदि में पृथिवी आदि का विकार रूप स्वभाव रहा हुआ है और विच्छू में गोबर आदि का विकार रहा हुंआ है, ऐसा कहो तो इसी प्रकार ब्रह्म का सत्ता लक्षणात्मक स्वभाव भी आकाशादि में रहा हुआ देखने में आता है।

कार्य कारण विलक्षण होनेसे ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, ऐसे दोष देने वालों से पूछना चाहिये कि विलक्षणता से उनका अशेष ब्रह्मस्वभाव की अनुगति के अभाव से अभिप्राय है अथवा स्वभाव के किसी एक अंश की अनुगति के अभाव से अभिप्राय है अथवा चैतन्य की अनुगति के अभाव से अभिप्राय है। प्रथम पक्ष में तो सर्व प्रकृति के विकार का ही नाश हो जायगा। दूसरा विकल्प तो सिद्ध ही नहीं होता, क्योंकि सत्ता लक्षण वाला ब्रह्म स्वभाव आकाशादि में रहा हुआ है ऐसा देखने में आता है। और तीसरे पक्ष में तो दृष्टान्त का ही अभाव है। जो चैतन्य से युक्त नहीं है और जिसकी ब्रह्म प्रकृति नहीं है ऐसा कौन सा उदाहरण ब्रह्मवादी के आगे उपस्थित किया जा सकता है ? क्योंकि ब्रह्मवादी ऐसा मानते है कि सर्व वस्तु

समूह की प्रकृति (कारण) ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म की प्रकृति रूप नहीं है, इसके सम्बन्ध में शास्त्रों ने तो अपना विरोध जताया ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण रूप तथा प्रकृति रूप है, यही शास्त्रों का तात्पर्य है, ऐसा पहले ही सिद्ध कर चुके हैं।

ब्रह्म सिद्ध वस्तु होने से उसमें अन्य प्रमाण संभव हैं, ऐसा जो कहा है, वह मनोरथ मात्र है; ब्रह्म में रूपादि का अभाव है इसलिये ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। और ब्रह्म में लिंगादि का अभाव है इसलिये ब्रह्म अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है। जैसे धर्म के सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाण रूप समझा जाता हैं ऐसे ही ब्रह्म के सम्बन्ध में भी शास्त्र प्रमाण रूप माना जाता है। श्रुति में कहा है:—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' [काठ० १ । २ । ६] (हे प्रियतम, यह मति तर्क से प्राप्त नहीं हो सकती, इस ज्ञान का गुरु उपदेश करे तभी साक्षात्कार होता है) और कहा है:—'अद्धावेद को इह प्रवोचत्' [ऋ० सं० १ । ३०] (यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई यह कौन जानता है और कौन कह सकता है), 'इयं विसृष्टिर्यत आवभूव' [ऋ. सं. १।६] (यह अनेक प्रकार की सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है), ये दोनों ऋचायें ऐसा दर्शाती है कि सिद्ध ईश्वरों को भी जगत् का कारण दुर्बोध है। स्मृति भी इसी प्रकार दर्शाती है; जैसे कि 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केणयोजयेत्' (जो पदार्थ अचिंत्य हैं, उनमें तर्क न लगावे) और 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' [गी० २।२५] (यह अव्यक्त है, यह अचिंत्य है और यह विकार रहित कहलाता है) और 'न मे विदु सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥' [गी० १० । २] (देवता और महर्षि मेरे जन्म को नहीं जानते, क्योंकि मैं सब देवों और महर्षियों का आदि हूँ)।

और ऐसा जो कहा है कि श्रवण के बाद मनन का विधान करती हुई श्रुति ही तर्क का आदर करने को कहती है, उसका मतलब यह है कि यहाँ शुष्क तर्कके लिये निशेध किया है, क्योंकि शुष्क तर्क से आत्म लाभ नहीं होसकता। श्रुति के अनुसार किया हुआ तर्क साक्षात्कारके उपयोगी होने से उसका आश्रय किया जाता है। वह तर्क इस प्रकार का है—स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था दोनों एक दूसरी से भिन्न होने से उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। सुषुप्ति अवस्था में सर्व प्रकार के प्रपंच का त्याग है, इसलिये सुषुप्ति अवस्था सत् स्वरूप आत्मा के साथ मिलान करानेवाली होने से वहां निष्कलंक सत् स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। क्योंकि प्रपंच की उत्पत्ति ब्रह्म में होती है और कारण से कार्य भिन्न नहीं होता, इसलिये प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं है। केवल तर्क निरूपयोगी है यह आगे 'तर्का-प्रतिष्ठानात्' [ब्र० सू० २।१।११] इस सूत्र से कहेंगे। श्रुति के प्रमाण से जो कोई ऐसा मानता है कि चेतन कारण रूप होने से जगत् चेतन रूप है, उसके लिये विज्ञान और अविज्ञान ऐसे दो विभाग श्रुति में दिखलाये हैं। व्यक्त और अव्यक्त होने के कारण चैतन्य के चेतन और अचेतन ऐसे दो विभाग हैं, ऐसा समझना चाहिये। श्रुति में कहा है कि परम कारण को ही जगदात्म स्वरूप से स्थिति हुई है, जैसे कि विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' (वह विज्ञान तथा अविज्ञान हुआ) जिस प्रकार विलक्षणता के कारण चेतन का अचेतन भाव कहना योग्य नहीं है, इसी प्रकार अचेतन में से चेतन हुआ, यह कहना भी योग्य नहीं है। इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि श्रुति में विलक्षणता का निराकरण किया हुआ होने से श्रुत्यनुसार चेतन ही को कारण मानना चाहिये ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

असत् [उत्पत्ति के पहले कार्य] असत् [था,] इति ऐसा चेत् [कहो] तो प्रतिषेधमात्रत्वात् प्रतिषेध मात्र होने से न [यह दोष] नहीं है।

यदि कहो कि चेतन, शुद्ध, शब्दादि से रहित ब्रह्म अपने विपरीत अचेतन, अशुद्ध शब्दादि युक्त ऐसे कार्य का कारण माना जाय तो ऐसा प्रसंग आता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य था ही नहीं; और यह प्रसंग तुम सत्कार्यवादियों को इष्ट नहीं है, तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यह प्रतिषेध मात्र है। यह केवल प्रतिषेध होने से, इस प्रतिषेध का प्रतिषेध्य (जिसका प्रतिषेध किया जाय वह) नहीं है। यह प्रतिषेध उत्पत्ति से पूर्व कार्य के सत्त्व का प्रतिषेध करने को समर्थ नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वर्तमान में यह कार्य कारणस्वरूप से विद्यमान है इसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाता है। अब भी कारणस्वरूप के सिवाय कार्य स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि श्रुति इस प्रकार कहती है:– 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' [बृह० २।४।६] (जो सबको आत्मा से भिन्न जानता है, उसका सब त्याग करते हैं)। उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण स्वरूप से होना तो कुछ विशेष नहीं है। शब्दादि रहित ब्रह्म जगत का कारण है यह ठीक है, परन्तु शब्दादियुक्त कार्य कारण स्वरूप से रहित न तो उत्पत्ति से पूर्व था और न अब है। इसलिये ऐसा नहीं कह सकते कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अविद्यमान था। जब कार्यकारण का अनन्यत्व कहेंगे तब इसको विस्तार से कहेंगे ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अपीतौ प्रलय में **तद्वत्** इसी प्रकार **प्रसङ्गात्** [अशुद्धि आदि के] प्रसंग से **असमञ्जसम्** औपनिषद दर्शन असमीचीन [है]।

पूर्वपक्षीः—स्थूलता, अवयवों से युक्तता, अचेतनता, परिच्छिन्नता, अशुद्धि आदि धर्म वाले कार्य का ब्रह्म कारण माना जाय तो प्रलय में कारण के साथ अभिन्नता को प्राप्त होने वाला कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित करेगा। इस प्रकार प्रलय में ब्रह्म जो कारण है, उसमें भी कार्य के समान अशुद्धि आदि का प्रसंग आने से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है यह उपनिषद् का दर्शन (मत) युक्त न होगा। समस्त भेद के नष्ट होजाने से फिर उत्पत्ति में भेद के नियम के कारण का अभाव होने से भोक्ता, भोग्य आदि विभाग से उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिये भी यह मत अयुक्त है। परब्रह्म के साथ अविभागको प्राप्त हुए भोक्ताओं के कर्म आदि का प्रलय होने पर भी पुनः उत्पत्ति मानी जाय तो मुक्तों की भी पुनः उत्पत्ति का प्रसंग आने से भी यह मत ठीक न होगा। यदि यह जगत् प्रलय में भी परब्रह्म से भिन्न ही रहे तो ऐसा प्रलय भी नहीं हो सकता और कारण के विना कार्य हो नहीं सकता, इसलिये भी यह मत असमंजस है ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

दृष्टान्तभावात् दृष्टान्त होने से **न तु** [पूर्वोक्त दूषण] है ही नहीं।

सिद्धान्तीः—हमारे दर्शन में कुछ भी अयुक्त नहीं है। कारण में लीन हुआ कार्य अपने धर्मों से कारण को दूषित करे, ऐसा

जो कहा है, वह दोष नहीं है, क्योंकि वैसा दृष्टान्त मिलता है। कारण में लीन हुआ कार्य अपने धर्मों से कारण को दूषित नहीं करता, इसका दृष्टान्त है। जैसे शराव आदि विकार जिनका कारण मिट्टी है, वे विभाग की अवस्था में ऊंचे, नीचे और मध्यम प्रकार के होकर फिर करण में लीन होकर अपने धर्म से उसको मिश्रित नहीं करते। और रुचक (अलंकार) आदि सोने के विकार सुवर्ण को प्रलय में अपने धर्म से युक्त नहीं करते। इसी प्रकार चार प्रकार के पृथ्वी के विकार रूप भूत-समुदाय पृथ्वी को प्रलय में अपने धर्म से युक्त नहीं करता। तेरे पक्ष को कोई भी दृष्टान्त नहीं है। वस्तुतः तो यदि कार्य अपने धर्म से ही कारण में स्थित रहे तो प्रलय ही न हो सकेगा। यद्यपि कारण और कार्य अनन्य हैं तो भी कार्य कारण स्वरूप है, किन्तु कारण कार्य स्वरूप नहीं है। इसको 'आरम्भण-शब्दादिभ्यः' [ब्र० सू० २। १। १४] इस सूत्र में कहेंगे। प्रलय में कार्य अपने धर्म से कारण को दूषित करेगा, यह जो कहा है, वह थोड़ा ही कहा है, क्योंकि कारण और कार्य अनन्य है ऐसा हम मानते हैं इसलिये स्थिति में भी यह प्रसंग समान ही है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृह २। ४। ६] (यह सब जो है यह आत्मा है) 'आत्मवेदं सर्वम्' [छान्दों० ७। २५। २] (यह सब आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' [मु० २।२।११] (पूर्व में अमृत ब्रह्म ही है), 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' [छांदो० ३। १४। १] (यह सब निश्चय ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुति तीनों काल में भेदरहित यानी समान रीति से कार्य को कारण से अनन्यता प्रतिपादन करती हैं। इस दोष का परिहार यह है कि कार्य और कार्य का धर्म अविद्या से आरोपित होने से कार्य

के साथ कारण मिश्रित नहीं होता, यह परिहार प्रलय के लिये भी समान है।

दूसरा दृष्टांत यह है कि जैसे अपनी फैलाई हुई माया मायावी को तीनों काल में भी स्पर्श नहीं करती, क्योंकि यह माया अवस्तु है; और जैसे एक स्वप्न देखने वाला स्वप्न दर्शन की माया से संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि जाग्रत और सुषुप्ति अभिन्न नहीं है; इस प्रकार तीनों अवस्थाओं का साक्षी जो एक अव्यभिचारी है वह तीन व्यभिचारी दशाओं से संस्पर्श वाला नहीं होता। परमात्मा का तीनों अवस्था रूप से प्रकाशना माया मात्र है, जैसे कि रज्जु में सर्पादि का भाव होता है। वेदान्त को जानने वाले आचार्यों ने इस विषय में कहा है:—'अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा'॥ [गोडपा० कारि० १। १६] (जब अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है तब जन्म, निन्द्रा, स्वप्न और द्वैत से रहित को जानता है)। इसलिये प्रलय में कार्य के समान कारण की भी स्थूलता आदि दोष का प्रसंग आवेगा, ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार, समस्त विभाग के नष्ट होने पर फिर से विभाग से उत्पत्ति में नियम का कारण नहीं रहता, ऐसा जो कहा है, यह भी दोष नहीं है, क्योंकि इसका भी दृष्टान्त है। जैसे सुषुप्ति समाधि आदि में भी स्वाभाविक अविभाग होता है तो भी मिथ्या ज्ञान दूर नहीं होता, इसलिये जागने पर पूर्व के समान फिर विभाग हो जाता है, ऐसे ही यहाँ भी होगा। इस विषय में श्रुति भी है:—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य नो विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृक वाराहो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति [छांदो० ६। ६। २। ३] (ये सब प्रजा ब्रह्म में एक

होकर ऐसा नहीं जानती कि हम ब्रह्म में एकता को प्राप्त हुई हैं। यहां सुषुप्ति से पहिले—जागते समय वाघ, सिंह, भेड़िया, कुत्ता, कीड़ा, पतंगा, डांस, मच्छर अथवा जो कुछ होता है, वह सब सुषुप्ति में से उठने के पीछे होता है)। जैसे परमात्मा में भेद नहीं है तो भी मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुए भेद का व्यवहार स्वप्न के समान भिन्न २ देखने में आता है, ऐसे ही प्रलय में भी मिथ्या ज्ञान से युक्त विभाग शक्ति ही अनुमान करनी होगी। इससे मुक्तों की पुनरुत्पत्ति के प्रसंग का निराकरण हुआ समझना चाहिये, क्योंकि सम्यक् ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश हुआ है। और अन्त में जो दूसरा विकल्प किया है की है कि यह जगत् प्रलय में भी परब्रह्म के साथ विभक्त ही स्थित रहेगा उसके लिये कोई प्रमाण न होने ही से उसका प्रतिषेध हुआ है। इसलिये यह औपनिषद दर्शन समीचीन है ॥ ६ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

च और स्वपक्षदोषात् [सांख्य वादी के] अपने पक्ष में [भी वह] दोष होने से [उस दोष को निराकरण करने का प्रयास करना हमको आवश्यक नहीं है]।

प्रतिवादी के पक्ष में भी यह दोष समान है, क्योंकि ऐसा जो कहा है कि विलक्षणता के कारण इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, तो जगत् का उपादान कारण प्रधान मानने से भी यह दोष समान ही है। सांख्य मत में शब्दादि रहित प्रधान से शब्दादि युक्त जगत् की उत्पत्ति मानी है यानी विलक्षण कार्य की उत्पत्ति मानी है, तब उत्पत्ति से पूर्व असत्कार्यवाद का प्रसंग समान ही है। इसी प्रकार प्रलयमें कार्य का कारणसे अभिन्नत्व माना है, इसलिये वहां भी कारणका

कार्य के धर्मसे युक्त हो जाने का प्रसंग भी समान है। जिनके सर्व विशेष नष्ट हो गये है ऐसे विकार प्रलय में अभिन्न स्वरूप होने पर प्रत्येक पुरुष का भिन्न उपादान यानी प्रलय से पूर्व प्रत्येक पुरुष में जो नियमित भेद वह है, दूसरी उत्पत्ति में उसी प्रकार नियमित नहीं हो सकता, क्योंकि उसके लिये कोई कारण नहीं है, यदि कारण का अभाव ही नियम मानोगे तो वह सबके लिये एकसा होने से मुक्त पुरुषोंको भी फिर बंधन होने का प्रसंग आवेगा। यदि ऐसा कहो कि प्रलय में कुछ भेद तो नष्ट होते हैं और कुछ नहीं, तो जो नष्ट नहीं होते, वे प्रधान के कार्य नहीं हो सकते (जिनका नाश नहीं होता वे नित्य हैं, इसलिये वे किसी के कार्य नहीं हो सकते)। इस प्रकार यह दोष दोनों में समान होने से किसी एक पक्ष में लगाना ठीक नहीं है। इसलिये ये दोष ही नहीं हैं ऐसा सिद्ध होता है और वही मानना चाहिये ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति
चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥११॥

तर्काप्रतिष्ठानात् तर्क के अप्रतिष्ठान से अपि भी [ब्रह्म में रही हुई जगत् की कारणता का बाध नहीं होता] अन्यथा दूसरी रीति से (प्रतिष्ठित तर्क से) [प्रधान] अनुमेयम् अनुमान करने योग्य [है] इति ऐसा चेत् [कहो] तो एवम् ऐसा [करने से] अपि भी अविमोक्षप्रसंगः मोक्षके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

जो वस्तु शास्त्र का विषय हो उसके सम्बन्ध में तर्क उठाना ठीक नहीं है। शास्त्र प्रमाण से रहित पुरुष की कल्पना के आधार

पर उठाया हुआ तर्क प्रामाणिक नहीं होता, क्योंकि बुद्धि से उठाया हुआ तर्क निरंकुश होता है। इसीसे एक का उठाया हुआ तर्क दूसरे को आभास रूप प्रतीत होता है, और दूसरे का उठाया हुआ तर्क तीसरे को आभास रूप जान पड़ता है। इस प्रकार पुरुषों की मति भिन्न-भिन्न होने से उनके ऐसे तर्कों को प्रमाण रूप मानना ठीक नहीं है। प्रसिद्ध माहात्म्य वाले कपिल मुनिके अथवा अन्य के उठाये हुए तर्क प्रमाण रूप मानोगे तो दूसरों की दृष्टि से उनका मत अप्रमाण रूप हो सकता है; क्यों कि प्रसिद्ध माहात्म्य वाले तीर्थंकर, कपिल और कणाद आदि का मत परस्पर विरुद्ध है।

पूर्वपक्षी:—मैं ऐसा कहता हूँ कि अप्रतिष्ठा का दोष न आवे इस प्रकार अन्य रीति से अनुमान किया जाय तो कैसा? ऐसा कोई नहीं कह सकता कि तर्क प्रतिष्ठित ही नहीं है क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है, यह भी तर्क से ही सिद्ध होता है, जैसे कितने ही तर्क अप्रमाण होने से, उन्हीं तर्कों के समान दूसरे तर्क भी अप्रमाण हैं ऐसी कल्पना होती है। इस प्रकार सब तर्क अप्रमाण होजाने से लोक व्यवहार ही न चलेगा। भूत तथा वर्तमान की समानता होने से भविष्य में सुख और दुःख की प्राप्ति और परिहार के लिये लोक प्रवृत्ति देखने में आती है। जिस स्थान पर श्रुति के अर्थ में विरोध आता है वहां मिथ्या अर्थ का निराकरण किया जाता है और यथार्थ अर्थ का निश्चय वाक्य संबंध निरूपण रूप तर्कसे ही किया जाता है। मनु महाराज भी ऐसा ही कहते हैं:—'प्रत्यक्षमनु मानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥' [मनुस्मृ० १२। १०५] (धर्म शुद्धि की इच्छा वाले पुरुष को प्रत्यक्ष; अनुमान और अनेक सांप्रदायिक शास्त्र इन तीनों को भली भांति जानना चाहिये)

और 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' [मनुस्मृ० १२। १०६] जो (ऋषि प्रणीत वेद को और धर्म उपदेश करने वाली स्मृति को वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क से विचारता है, वह धर्म को जानता है, अन्य नहीं जानता)। ऐसा कहते हुए मनु भी यही मानते हैं कि तर्क की अप्रतिष्ठितता ही भूषण है, क्योंकि ऐसा होने ही से निर्दोष तर्क का ग्रहण और सदोष तर्क का त्याग बन सकता है। हमारे पूर्वज मूढ थे इसलिये हमको भी मूढ ही बने रहना चाहिये, इसके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। इस लिये तर्क के अप्रतिष्ठित रहने में कोई दोष नहीं है।

सिद्धान्तीः—ऐसा होने से भी अविमोक्ष का प्रसंग आवेगा। यद्यपि कहीं २ तर्क का प्रतिष्ठितत्व देखने में आता है तो भी ब्रह्म के संबन्ध में तर्क अप्रतिष्ठित होने से तर्क से मोक्ष हो नहीं सकता क्योंकि इस अतिगंभीर और मोक्ष साधन भूत वस्तु तत्त्व की शास्त्र के प्रमाण बिना केवल कल्पना हो नहीं सकती। ब्रह्म के सम्बन्ध में रूपादिका अभाव होनेसे यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि का अभाव होने से परब्रह्म अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है। केवल सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से ही मोक्ष होता है, ऐसा सब मोक्षवादी मानते हैं। यह सम्यक् ज्ञान एक ही है, क्योंकि वह वस्तु के आधार पर है। जिसकी एक रूप से स्थिति रहती है, वह ही परमार्थ (सत्य वस्तु) कहा जाता है। परमार्थ सम्बन्धी ज्ञान को लोक सम्यक् ज्ञान कहते हैं, जैसे अग्नि उष्ण है (ऐसा सम्यक् ज्ञान होता है)। इस प्रकार के सम्यक् ज्ञान के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती। परन्तु तर्कज्ञान के सम्बन्ध में एक दूसरे का विरोध होने से उनमें भिन्नता देखने में आती है, क्योंकि एक

तर्कवादी जिसका सम्यक् ज्ञान रूप से प्रतिपादन करता है, दूसरा उसी ज्ञान का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करता है और दूसरे ने जिस वस्तु का प्रतिपादन किया होता है. तीसरा उस वस्तु का खण्डन करता है। ऐसा होने से एक ही प्रकार से प्रतिपादन न करने वाला तर्कशास्त्र सम्यक् ज्ञान रूप कैसे हो सक्ता है? तर्क वादियों में प्रधान वादी उत्तम है, ऐसा सब तर्कवादी नहीं मानते इसलिये हम यह कैसे मान सकते हैं कि प्रधान वादी का मत सम्यक् ज्ञान रूप है? भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल के सभी तर्क वादियों को एक स्थान पर उपस्थित करना असंभव है। यदि ऐसा सभव होता तो किसी एक विषय में उनका जो मत है वही सम्यक ज्ञान है ऐसा निश्चित होता। दूसरे, वेद नित्य है और विज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, इसलिये उसका विषय निश्चित अर्थ वाला है और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। भूत, वर्तमान अथवा भविष्य में कोई भी तर्क वादी उस ज्ञान का निषेध करने को समर्थ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञान रहा हुआ है, वही सम्यक् ज्ञान है। इस ज्ञान के सिवाय दूसरा जितना ज्ञान है वह सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह संसार की निवृत्ति कराने वाला नहीं है। इसलिये शास्त्र के वल से और तर्क के वल से चेतन ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

(४) शिष्टापरिग्रहाधिकरण।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

एतेन इससे (प्रधान कारण वाद के निराकरण से) शिष्टापरिग्रहाः शिष्टों के ग्रहण न किये हुए [परिमाणु

कारणवाद आदि] अपि भी व्याख्याताः निषेध किये गये हैं

सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन के निकट होने से तथा इसमें अधिक प्रवल तर्क का उपयोग हुआ होने से तथा वेदान्त मत के कितने ही शिष्ट लोगों से इसका कुछ अंश में ग्रहण किया हुआ होने से सांख्य के प्रधान कारण वाद को लेकर वेदान्त शास्त्र पर जो तर्क युक्त आक्षेप किया है, उसका अब तक परिहार किया है। अब अणु आदि वादों के जो अनुसारी हैं और वेदान्त मत में मंदमति वाले हैं, उन्होंने तर्क को लेकर जो आक्षेप किया है उसका परिहार प्रधान मल्ल निवर्हण न्याय से इस सूत्र के अतिदेश द्वारा करने में आता है।

जो स्वीकार करने में आवे वह परिग्रह कहलाता है, जो स्वीकार करने में न आवे वह अपरिग्रह कहा जाता है और जो विद्वानों के स्वीकार करने में न आवे वह शिष्टापरिग्रह कहलाता है। जिन कारणों से इस प्रकृत प्रधान कारणवाद का निराकरण किया, उन्हीं कारणों से शिष्ट यानी मनु, व्यास आदि ने जिन अणु आदि कारणवादों को थोड़े अंश में भी स्वीकार नहीं किया है उनका प्रतिषेध रूप व्याख्यान यानी निराकरण हुआ समझना चाहिये। निराकरण का विषय एक सा होने से यहाँ पर किसी प्रकार की नयी शंका को अवकाश नहीं रहता। अत्यन्त गम्भीर ऐसे जगत् के कारण का तर्क से पता न चलना, तर्क की अप्रतिष्ठा, अन्यथा अनुमान करने से मोक्ष से रहित होने के प्रसंग तथा शास्त्र के साथ विरोध आदि दोष जो प्रधान-वाद में बताये हैं, वे इस स्थान पर भी जान लेने चाहिये ॥१२॥

(५) भोक्त्रापत्त्यधिकरण ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

भोक्त्रापत्तेः [भोग्य को] भोक्ता की प्राप्ति से **अविभागः** [भोक्ताभोग्य का] भेद नहीं [रहेगा] **चेत्** [ऐसा कहो] तो **लोकवत्** लोक के समान [भेद] **स्यात्** रह सकता है ।

प्रतिपक्षी:—अब फिर ब्रह्म कारण वाद पर तर्क की सहायता से आक्षेप किया जाता है—अपने विषय में प्रमाण रूप होती है तो भी अन्य प्रमाण से जब उसके विषय का लोप हो जाता है तब वह श्रुति गौण हो जाती है, जैसे मंत्र और अर्थवाद । तर्क भी अपनी मर्यादा के बाहर अप्रतिष्ठित ही होता है, जैसे धर्म तथा अधर्म के विषय में । यदि ऐसा ही हो तो क्या ? इसलिये यह ठीक नहीं है कि श्रुति से भिन्न ऐसे अन्य प्रमाण से सिद्ध हुए अर्थ का श्रुति से बाध किया जाय । इतर प्रमाण से सिद्ध किये हुए किस अर्थ का श्रुति बाध करती है ऐसा पूछो तो इसके सम्बन्ध में कहते हैं कि भोक्ता तथा भोग्य की भिन्नता लोक में प्रसिद्ध है । भोक्ता चेतन स्वरूप वाला तथा शरीर वाला है तथा शब्दादि विषय भोग्य हैं, जैसे भोक्ता देवदत्त है, भोग्य रूप अन्य हैं । यदि भोक्ता भोग्य भाव को प्राप्त हो जाय तो पीछे उनका विभाग रह ही नहीं सकेगा । इसी प्रकार जब भोग्य भोक्ता भाव को प्राप्त हो जाय तब भी पीछे उनका विभाग न हो सकेगा । और भोक्ता तथा भोग्य परम कारण रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, इसलिये उन दोनोंको परस्पर भाव अवश्य प्राप्त होगा। जगत् में प्रसिद्ध ऐसे इस भेद का (श्रुति से) बाध करना ठीक नहीं है।

दूसरे, जैसे यह भोक्ता और भोग्य का विभाग अब देखने में आता है इसी प्रकार भूत तथा भविष्य काल में भी वह विभाग होना चाहिये, इस प्रकार की कल्पना युक्त है। इसलिये भोक्ता तथा भोग्य का जो प्रसिद्ध भेद है उसका अभाव होने से ब्रह्म ही सबका कारण है ऐसा मानना योग्य नहीं है।

सिद्धान्तीः जगत् में जिस प्रकार भेद की स्थिति है उसी प्रकार यहाँ पर (वेदान्त मत में) भी है। जैसे समुद्र के जल के विकार फेन, छोटी बड़ी लहरें और बुदबुदे आदि अनेक होते हैं, ये सब समुद्र के जल से यद्यपि भिन्न नहीं होते तो भी एक दूसरे से भिन्न हैं और ऐसे ही एक दूसरे एकत्र होते हैं, यह व्यवहार में भी देखने में आता है। जैसे समुद्र के विकार फेन, तरंग आदि उदक रूप से समुद्र रूप होने पर भी एक दूसरे के भाव को नहीं प्राप्त होते, वैसे ही यद्यपि वे परस्पर भाव को प्राप्त नहीं होते हैं तब भी समुद्र से भिन्न नहीं होते। इसी प्रकार भोक्ता तथा भोग्य एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं और परब्रह्म से भी भिन्न नहीं हैं। भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तैत्ति० २।६] (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार अविकारी स्रष्टा ही कार्य में प्रवेश करने से भोक्ता बनता है। जैसे आकाश का विभाग घटादि उपाधि को लेकर है, ऐसे ही उपाधि को लेकर प्रविष्ट हुए ब्रह्म का कार्य स्वरूप से विभाग है। इसलिये यद्यपि परम कारण रूप ब्रह्म का भोक्ता तथा भोग्य लक्षण वाला विभाग अनन्य है तो भी समुद्र तरंग न्याय से उनका भेद भी उपपन्न होता है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

(६) आरम्भणाधिकरण । सू० १४-२०

तदनन्यत्व मारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

आरम्भणशब्दादिभ्यः आरम्भण शब्द आदि से तदनन्यत्वम् उनकी (कार्य कारण की) अनन्यता है।

व्यावहारिक रीति से भोक्ता और भोग्य के विभाग को लेकर उसका (पूर्व पक्ष का) परिहार किया, परन्तु यह विभाग परमार्थ रूप नहीं है, क्योंकि कारण और कार्य की अभिन्नता विदित होती हैं। आकाशादि अत्यन्त विस्तार वाला जगत् कार्य रूप है और परब्रह्म कारण स्वरूप है। परमार्थ रूप से कारण से कार्य की अभिन्नता है। इसलिये कारण के विना कार्य का अभाव मानना पड़ेगा. क्योंकि श्रुति में विकार को वाणी का आरम्भण रूप कहा है और यह भी कहा है कि एकका यानी कारण का ज्ञान होने से सब कार्यों का ज्ञान होता है। इसमें यह दृष्टान्त भी दिया है:—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छान्दो० ६ । १ । ४] (हे सोम्य, जैसे एक मिट्टी के डेले से मिट्टी के सब विकार जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी के सहारे केवल नाम मात्र है, मिट्टी ही सच्ची है)। मतलब यह है कि एक मिट्टी का डेला परमार्थ स्वरूप से मिट्टी ही है, इस प्रकार का ज्ञान होने से घट, सकोरा, डोल आदि मिट्टी के विकार रूप है और मिट्टी से अभिन्न हैं, ऐसा जानने में आजाता है, क्योंकि वे वाणी के सहारे से हैं यानी अमुक वस्तु है, इस प्रकार वाणी से कहने में आता है; इसलिये वे नाम मात्र हैं। घट, सकोरा, डोल आदि होते हुये भी परमार्थ स्वरूप से कोई विकार नहीं होता, केवल नाम मात्र होने से विकार मिथ्या है,

सत्य तो मिट्टी ही है। श्रुति में ब्रह्म के सम्बन्ध में भी यही दृष्टान्त लिया है। श्रुतिमें दिये हुए वाचारम्भण शब्द से उसके दार्ष्टांतिक ब्रह्म में भी उससे भिन्न कार्य समूह का अभाव है, ऐसा जाना जाता है। जहाँ तेज, जल और अन्न को ब्रह्म का कार्य कहा है, वहां कहा है कि कार्य रूप तेज, जल तथा अन्न की कारण रूप तेज जल तथा अन्न से भिन्न स्थिति नहीं होती; जैसे।—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् [छान्दो० ६।४।१] (अग्नि में से अग्नित्व गया, क्योंकि वह वाणी से ही आरम्भ होता है; विकार नाम मात्र ही है, तीनों रूप ही सत्य हैं)। आरम्भण शब्द के साथ जो आदि शब्द है, उससे नीचे कहे अनुसार अर्थ जानना चाहियेः—'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' [छान्दो० ६।८।७] (यह सब यह आत्म स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा हे वह तू है), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृह० २।४।६] (यह सब जो कुछ है, वह आत्मा हो है), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृह० २।२।११] (यह सब ब्रह्म ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छान्दो० ७।२५।२] (यह सब आत्मा ही है) 'नेह नानास्ति किञ्चन' [बृ० ४।४।१६] (यहां कुछ भिन्न नहीं है) इत्यादि आत्मा की एकता प्रतिपादन करने वाले अनेक वचन श्रुति में हैं। यदि ऐसा न हो तो एक का ज्ञान होने से सबका ज्ञान होना बन न सके। इसलिये जैसे घट, सकोरे आदि के आकाश की महाकाश के साथ एकता है, जैसे मृगतृष्णा का जल रेतीली जमीन से भिन्न नहीं है,—क्योंकि उनका स्वरूप देखने में आता है और पीछे नाश होजाता है—जैसे उनके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता, इसी प्रकार जानना चाहिये कि भोक्ता तथा भोग्य आदि प्रपंच का ब्रह्म को छोड़कर अभाव है।

शंकाः—ब्रह्म का स्वरूप अनेक रूप वाला है। जिस प्रकार वृक्ष अनेक शाखाओं से युक्त है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक शक्ति वाला कहलाता है। इसलिये वह एक रूप और अनेक रूप दोनों प्रकार से ठीक ही है। जैसे वृक्ष एक है तो भी शाखा रूप से अनेक हैं, जैसे समुद्र एक है तो भी फेन, तरंग आदि रूप से अनेक है, जैसे मिट्टी एक है तो भी घट सकोरे आदि रूप से अनेक है यहाँ सर्व एक रूप है, ऐसे ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होगी और अनेक अंश रूप मानने से कर्म काण्ड के आश्रय वाले लौकिक तथा वैदिक व्यवहार की सिद्धि होगी और इस प्रकार मिट्टी आदि के दृष्टांत युक्त होंगे।

समाधान :—ऐसा वन नहीं सकता, क्योंकि 'मृत्तिकेत्येवसत्यम्' इस से ऐसा कहा है कि केवल कारण ही सत्य स्वरूप है और वाचारंभण शब्द से ऐसा कहा है कि विकार समूह मिथ्या है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में भी 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (इन सवका यह आत्मा है, वह सत्य है) इस प्रकार परम कारण स्वरूप एक को ही सत्य रूप माना है और कहा है कि 'स आत्मा तत्त्वमसिश्वतेकेतो' (हे श्वेतकेतु, वह आत्मा है; वह तू है)। इस प्रकार जीव को ब्रह्म स्वरूप कहा है। इस प्रकार स्वयं प्रसिद्ध जीव के ब्रह्मत्व का उपदेश किया है, क्योंकि यत्न से जीव ब्रह्मभात्र को प्राप्त नहीं होता। इसलिये जैसे रज्जु आदि की बुद्धि प्राप्त होने से सर्पादि की बुद्धि का नाश हो जाता है. इसी प्रकार शास्त्रीय रीति से ब्रह्मात्मभाव के ज्ञान हो जाने के वाद स्वाभाविक यानी अविद्यात्मक जीव भाव का नाश हो जाता है और जीव भाव के आश्रय पर रहे हुए सम्पूर्ण स्वाभाविक व्यवहार का भी नाश हो जाता है कि जिसकी सिद्धि के लिये ब्रह्म के अनेक प्रकार के अंशों की कल्पना करनी पड़ती है। श्रुति में 'यत्रत्वस्य सर्वात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' [बृह० ४।

५ । १५] (जहाँ इसको सब आत्मा ही हो जाता है, वहां किस से किसको देखे), इत्यादि से ब्रह्म साक्षात्कार होने के वाद क्रिया कारक तथा फल लक्षण वाले सर्व व्यवहार का अभाव दिखलाया है । इस प्रकार के व्यवहार का अभाव किसी भिन्न अवस्था को लेकर कहा हो, ऐसा नहीं है; क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति से ब्रह्मात्मभाव का निरूपण किसी विशेष अवस्था रूप से नहीं हो सकता । छान्दोग्य में जो चोर का दृष्टांत दिया है उसमें कहा है कि असत्य के मानने वाले का वन्धन होता है और सत्य के मानने वाले को मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस प्रकार से पारमार्थिक स्वरूप की एकता ही प्रतिपादन की है, मिथ्या ज्ञान के कारण से भिन्नता देखने में आती है । यदि ऐक्यता और भिन्नता दोनों सत्य हों तो यह किस प्रकार कह सकते हैं कि व्यवहार में वर्तने वाला प्राणी मिथ्याभाषी है ? 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति' [वृह० ४ ।४। १६] (जो यहां अनेक भावों को देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु को प्राप्त होता है) यह श्रुति भेद दृष्टि की निन्दा करते हुए इसी वात को दिखाती है । वैसे ही, इस मत में ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस मत में सम्यक् ज्ञान से निवृत्त होने वाले मिथ्या ज्ञान को संसार का कारण रूप नहीं माना है । यदि दोनों प्रकार के ज्ञान सत्य हों तो एकता के ज्ञान से विविध ज्ञान का निषेध होता है, ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ?

शंकाः—परम एकता स्वीकार करने से विविधता का अभाव हो जायगा और ऐसा होने से प्रत्यक्ष स्वरूप से दीखते हुए लौकिक प्रमाणों की निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि लौकिक प्रमाणों का विषय रहेगा ही नहीं । जैसे स्थाणु आदि में पुरुष का ज्ञान मिथ्या है, इस प्रकार के लौकिक प्रमाण मिथ्या हो जांयगे, उसी

प्रकार विधि निषेध वाले शास्त्र भी भेद पर निर्भर होने से भेद का अभाव हो जाने से मिथ्या हो जांयगे। अभेद भाव माननेसे मोक्ष शास्त्र भी अप्रमाण रूप हो जायगा, क्योंकि उसमें गुरु शिष्य आदि भेद भाव रहा हुआ है। तब मिथ्या ऐसे मोक्ष शास्त्र से प्रतिपादन करने में आई हुई आत्मैक्यता की सत्यता किस प्रकार सिद्ध होगी ?

समाधानः—यह तेरी शंका ठीक नहीं है। जिस प्रकार जाग्रतावस्था से पूर्व स्वप्न का सब व्यवहार सत्य रूप भासता है, इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान से पूर्व सब व्यवहार सत्यरूप प्रतीत होता है। जब तक सत्य स्वरूप आत्मा की ऐक्यता का बोध नहीं होता तब तक प्रमाण, प्रमेय और फल के लक्षण वाले विकारों में किसी को भी मिथ्या बुद्धि नहीं होती। स्वाभाविक रीति से सब प्राणी ब्रह्मात्म बुद्धि का त्याग करके विकारों में ही 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' इस प्रकार के अविद्यात्मक भाव को प्राप्त होते हैं। इसलिये ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति होने से पहिले समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहार उसी प्रकार युक्त हैं; जिस प्रकार सोता हुआ प्राकृत पुरुष स्वप्न में अपने को उच्च अथवा अधम भाव को प्राप्त हुआ देखता है और जाग्रतावस्था होने तक उसका ही ज्ञान उसे प्रत्यक्ष स्वरूप तथा निश्चित रूप प्रतीत होता है। इस स्वप्न के समय में प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से देखने में आता हुआ सब व्यवहार उसको आभास रूप प्रतीत नहीं होता किन्तु सत्य रूप ही भासता है।

शंकाः—असत्य वेदान्त वाक्य से सत्य ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प से

काटा हुआ मनुष्य मरण को नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार मृग तृष्णा के जल से स्नान पानादि कार्य सिद्ध नहीं होता।

समाधानः—यह दोष नहीं। विष की शंका आदि से मरण आदि कार्य की प्राप्ति होती है, और स्वप्न दर्शन की अवस्था वाले को सर्प का काटना तथा जल का स्नान आदि कार्य देखने में आता है। यदि कहो कि स्वप्नावस्था वाले पुरुष को सर्प का काटना तथा जल का स्नान आदि कार्य मिथ्या है, तो स्वप्नावस्था में उसको जो ज्ञान होता है वह तो सत्य ही है, क्योंकि जाग्रतावस्था प्राप्त होने पर भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्न में से उठा हुआ पुरुष सर्प के काटने और जल के स्नानादि को मिथ्या मानता है तो भी उस ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इस प्रकार स्वप्न द्रष्टा के ज्ञान का बाध न होने से देहात्मवाद दोषयुक्त है ऐसा समझना चाहिये। श्रुति में कहा है—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने।' [छान्दो० ५। २। ९] (जब काम्य कर्म करने के प्रसङ्ग में कोई स्वप्न में स्त्री को देखे तो उसे समझ लेना चाहिये कि मेरी क्रिया फल देने वाली हुई है)। इस प्रकार स्वप्न में असत्य वस्तु के देखने से सत्य वस्तु की प्राप्ति का निरूपण किया है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अरिष्टों की उत्पत्ति से 'वह अधिक नहीं जीयेगा' ऐसा कह कर आगे स्वप्न में जो कोई काले दांत वाले काले पुरुष को देखता है, उसका नाश हो जाता है यानी बहुत दिनों तक नहीं जीता, ऐसा कहते हुए दिखाया है कि उन असत्य स्वप्नों के दर्शन से सत्य मरण का सूचन होता है। इसी प्रकार अमुक स्वप्न के दर्शन से इष्ट होता है, और अमुक से

अनिष्ट होता है, ऐसा जानने में कुशल मनुष्य इससे कुशलता का अथवा अकुशलता का सूचन करते है, यह प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार रेखा रूप मिथ्या अक्षर के देखने से अकारादि सत्य अक्षर की प्राप्ति होती हैं। आत्मा की एकता का प्रतिपादन करने वाला यह अन्तिम प्रमाण है, क्योंकि इसके वाद कोई आशंका रह ही नहीं सकती। जैसे कि लोक व्यवहार में कोई ऐसा कहे कि पूजन करना चाहिए, तो उसमें इस प्रकार की शंका होती है कि किसका किससे पूजन करना चाहिये, परन्तु तत्त्वमसि,' 'अहंब्रह्मास्मि' (वह तू है, मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा कहने में अन्य किसी बात को आकांक्षा नहीं रहती क्योंकि सव कुछ एक आत्मा ही है ऐसा ज्ञान होता है। किसी अवशेष रहे हुये विषय में आकांक्षा हो सक्ती है, परन्तु यहां पर आत्मा से भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ शेष नहीं रहता कि जिसकी आकांक्षा की जाय।

इसी प्रकार ऐसा कहना भी योग्य नहीं है कि इस ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव है, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तद्धास्य विजिज्ञौ' [छान्दो० ६।१६।३] (तू भी ब्रह्म रूप है, इस प्रकार के पिता के उपदेश से श्वेतकेतु को ब्रह्म ज्ञान हुआ)। और श्रवणादि ज्ञान के साधन रूप हैं, इसलिये वेद का अध्ययन करना चाहिये, ऐसा विधान हैं। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि यह ज्ञान अनर्थकारी अथवा भ्रांति रूप है, क्योंकि ज्ञान का फल अविद्या का नाश है, और इस आत्मज्ञान के वाध करने वाले और किसी ज्ञान का अभाव है। आत्म साक्षात्कार होने से पूर्व सत्य वा विथ्या लौकिक तथा वैदिक व्यवहार का नाश नहीं होता यह हम कह चुके हैं। इसलिये अन्तिम प्रमाण द्वारा आत्मा की एकता का प्रतिपादन होने से पूर्व के सब भेदव्यवहार का

नाश हो जाता हैं और भेद व्यवहार का बाध होने से अनेकात्मक ब्रह्म की कल्पना करने को अवकाश ही नहीं रहता।

शंका:—जैसे मृत्तिका आदि के दृष्टांत में मृत्तिका परिणामी है इसी प्रकार ब्रह्म भी परिणामशील है, ऐसा शास्त्र की मान्यता होनी चाहिये, क्योंकि घट सकोरे आदि पदार्थ मृत्तिका आदि के परिणाम रूप देखने में आते हैं।

समाधान :—ऐसा नहीं बन सकता। क्योंकि 'स वा एष महानज आत्माऽजरोमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृह० ३।६।२५] (यह महान् आत्मा उत्पत्ति भाव से रहित, जरा भाव से रहित, मरण, भाव से रहित, भय से रहित तथा ब्रह्म स्वरूप है), 'स एष नेति नेत्यात्मा' [बृह० ३।६।२७] (इस आत्मा का स्वरूप ऐसा नहीं, वैसा नहीं, इस प्रकार अनिर्वचनीय है) 'अस्थूलमनणु' [बृह० ३।८।८] (वह स्थूल तथा अणु भाव से रहित है), इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म में सब प्रकार की विक्रिया का निषेध करके ब्रह्म को कूटस्थ स्वरूप कहा है। एक ही ब्रह्म परिणाम धर्म वाला हो तथा परिणाम भाव से रहित हो, ऐसा नहीं हो सकता।

शंका :—यद्यपि ब्रह्म परिणाम धर्म वाला नहीं है, तो भी वह स्थिति और गति वाला होगा।

समाधान :—नहीं आत्मा का विशेषण कूटस्थ दिया है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति तथा गति के समान अनेक धर्मों का आश्रय हो नहीं सकता। ब्रह्म कूटस्थ तथा नित्य है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, यह हम पहले कह चुके हैं। जैसे, ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है, यह ज्ञान मोक्ष का साधन है, इसी प्रकार, ब्रह्म जगत् के आकार के परिणाम वाला है ऐसा जानने से वह

ज्ञान किसी स्वतन्त्र फल को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि इसके फल के लिये कहीं भी प्रमाण नहीं है। शास्त्र में कहा है कि कूटस्थ ब्रह्मात्मा के ज्ञान से ही मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है। 'स एष नेति नेत्यामा' (यह आत्मा नेति नेति रूप है) इस प्रकार आरम्भ करके 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' [बृह० ४।२।४] (हे जनक, अब तू अभय रूप मोक्ष को प्राप्त हुआ है), इस प्रकार ज्ञान का मोक्ष रूप फल बतलाया है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि ब्रह्म के निरूपण में फल की सिद्धि सर्व धर्म विशेष से रहित ब्रह्मज्ञान से ही कही है। वहां जो निष्फल बातें कही हैं—जैसे, जगत् के आकार रूपसे ब्रह्म का परिणामित्व है—उनका ब्रह्म ज्ञान के उपाय में ही प्रयोजन है। जैसे फलवान कर्म के पास कहे हुए उसके साधन भूत इतर कथन निष्फल होता है, वह स्वतन्त्र रीति से किसी फल को नहीं दे सकता। ब्रह्म परिणाम रूप है, ऐसे ज्ञान से आत्मा को भी परिणामी फल यानी परिणामी मोक्ष प्राप्त होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ तथा नित्य है।

शंका :—कूटस्थ केवल एक ही स्वरूप है, इसलिये शासन करने वाला तथा शासन करने की वस्तु, इन दोनों का अभाव हो जायगा और ईश्वर सबका कारण रूप है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से विरोध आवेगा।

समाधान :—इस प्रकार की प्रतिज्ञा से किसी प्रकार का विरोध नहीं आवेगा, क्योंकि सर्वज्ञ स्वरूप को अपने अविद्यात्मक नाम रूपों के बीजों के व्यक्तता को प्राप्त होने पर सर्वज्ञत्व निर्भर है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१] (उस परब्रह्म परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई), इत्यादि श्रुति वचनों से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ तथा सर्व

शक्ति वाले ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है, अचेतन स्वरूप प्रधान अथवा अन्य किसी से नहीं है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा 'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १ । १ । ४] इस सूत्रसे की गई है, वह प्रतिज्ञा वैसो ही स्थित है, यहां पर किसी विरुद्ध अर्थ का निरूपण नहीं किया है।

शंका—निरतिशय रूप से आत्मा की एकता तथा अद्वितियया कहने वाली जो श्रुतियां है वे विरुद्ध अर्थ का सूचन नहीं करती, यह किस प्रकार कहा जाय ?

समाधानः—श्रुति किसी प्रकार विरुद्ध अर्थं का सूचन नहीं करती, इसके सम्वन्ध में मैं जो कहता हूँ, उसको सुनः सर्वज्ञ ईश्वर के मानो आत्म रूप हों ऐसे, नाम और रूप अविद्या से कल्पित हैं। इनको ईश्वर से भिन्न वा अभिन्न कुछ भी नहीं कह सकते। ये सब संसार को वीजरूप हैं और इन्हीं को श्रुति तथा स्मृति सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति तथा प्रकृति रूप निरूपण करती हैं। सर्वज्ञ ईश्वर इस नाम तथा रूप से भिन्न है। श्रुति में कहा है कि 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्व्रह्म' [छान्दो० ८ । १४ । १] (वस्तुतः आकाश ही श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मा है, वह नाम और रूप का स्पष्टीकरण करने वाला है, यह दो जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है), 'नामरूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६ । ३ । २] (मैं नाम और रूप को प्रकट करूँ) 'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभि वदन् यदास्ते' [तैत्ति० आ० ३ । १२ । ७] (धीर परमात्मा ही सव रूपों का चिन्तन करके यानो उत्पन्न करके, नाम रख कर, उनको वुलाता रहता है) 'एकं वीजं वहुधा यः करोति [श्वे० ६ । १२] (एक वीज को जो अनेक रूप वाला करता

है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। जिस प्रकार घट, करवा आदि उपाधि सम्बन्ध से आकाश होता है, वैसे ही अविद्या कृत नाम रूपों के सम्बन्ध से ईश्वर होता है। यह परमात्मा घटाकाश के समान अपने से ही उत्पन्न जीववाचक विज्ञानात्मा के ऊपर व्यवहार काल में स्वामित्व भोगता है। ये विज्ञानात्मा अविद्या से कल्पित नाम तथा रूप जनित कार्य तथा कारण (शरीर और इन्द्रिय) के संधात रूप हैं। इस प्रकार अविद्या की उपाधि से जो भिन्नता है उसीसे ईश्वर की ईश्वरता, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता है। जब विद्या से सब उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है, तब आत्मा में नियामकत्व, नियंतव्य तथा सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार की पारमार्थिक रूप से प्राप्ति नहीं होती। श्रुति में कहा है :—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [छान्दो० ७।२४।१] (जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा है), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत्' [बृह० ४।५।१५] (जिसको सब आत्म रूप हुआ है, वह किससे किसको देखे); इस प्रकार सब वेदान्त वाक्य परमार्थ अवस्था में सब व्यवहार का अभाव दिखलाते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है :— 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्म फलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' गी० ५।१४, १५] (प्रभु लोकों के कर्तृत्व, कर्म अथवा कर्म फल के संयोग को उत्पन्न नहीं करता, स्वभाव ही वर्तता है। विभु किसी के पाप अथवा पुण्य को नहीं लेता, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इसलिये जन्तु मोह को प्राप्त होते हैं)। इस प्रकार परमार्थ दशा में ईश्वर अथवा ईशितव्य आदि व्यवहार का अभाव दिखलाया हैं, परन्तु

व्यवहार दशा में ईश्वरादि का व्यवहार श्रुति में कहा है:— 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' [बृह० ४। ४। २२] (यह सबका ईश्वर है, यह भूतों का अधिपति है, यह भूतों का पालक है, लोकों की मर्यादा टूट न जाय इसलिये व्यवस्था धारण करने वाला सेतु (बांध) रूप है)। इसी प्रकार गीता में कहा है:—'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया' [गीता० १८। ६१] (हे अर्जुन, ईश्वर सब भूतों के हृदय देश में स्थित है, माया के यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को अपनी माया से नचाता है)। सूत्रकार भगवान् व्यास भी परमार्थ से कार्य कारण का अभेद भाव जताते हैं परन्तु पिछले सूत्र में 'स्याल्लोकवत्' इससे व्यवहारके लिये ही ब्रह्म को महा समुद्र के समान बताते हैं। सूत्रकार ने कार्यप्रपंच और परिणाम प्रक्रिया का निषेध न करने ही उनका जो आश्रय किया है वह इनके सगुण उपासना में उपयोगी होने के कारण किया है ॥ १४ ॥

भावेचोपलब्धेः ॥ १५ ॥

च और भावे [कारण के] सद्भाव में उपलब्धेः [कार्य के] ज्ञान से [कारण से कार्य को अनन्यता है]।

कारण से कार्य की भिन्नता नहीं है, क्योंकि जब कारण का सद्भाव होता है तभी कारण का कार्य देखने में आता है। यदि कारण का सद्भाव नहीं होता तो कार्य का भी अभाव होता है, जैसे मिट्टी होती है तो घट की प्राप्ति होती है, तंतु होता है तो पट की प्राप्ति होती है। एक वस्तु से भिन्न वस्तु की प्राप्ति देखने में नहीं आती। जैसे कि घोड़ा गाय से भिन्न है,

इसलिये केवल गाय से घोड़े की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे ही केवल कुम्हार से घट की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि निमित्त—कारण से नैमित्तिक–कार्य भिन्न है।

शंका :—एक होने पर भी दूसरे की नियम से प्राप्ति देखने में आती है, जैसे कि अग्नि के होने पर भी धुयें का होना देखने में आता है।

समाधान :—ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि के बुझाने के बाद भी ग्वालों के घट आदि में भरा हुआ धुआं देखने में आता है। यदि कहो कि धूम के लिये कोई विशेषण (जैसे कि 'वस्तु से निकलने वाला' धूम) देने से वह अग्नि के अभाव में नहीं दिखाई देगा तो ऐसा मानने से हमारे मत में कोई भी दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि हम कहते हैं कि कार्य रूप में कारण के अस्तित्व की बुद्धि ही कार्य की कारण से अभिन्नता में हेतु रूप है। इस प्रकार की बुद्धि अग्नि तथा धूम में नहीं होती।

'भावाच्चोपलब्धेः' इस पाद से सूत्र का अर्थ :—केवल श्रुतिसे ही कार्य कारण की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्ष रीति से प्राप्ति होने से कार्य कारण की अभिन्नता है। कार्य कारण की अभिन्नता में प्रत्यक्ष प्रमाण है। तंतुओं से बने हुए पट तंतुओं को छोडकर पट नामक कोई भिन्न कार्य उपलब्ध नहीं होता केवल तन्तु के ताने बाने प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। वैसे ही तन्तु में रूयें और रूओं में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से (तेज, जल तथा पृथ्वी के) लाल, सफेद और काला तीन रूपों का तथा उन रूपों से ही वायु और आकाश का अनुमान करना चाहिये। इन सब कारणों से पर, एक और अद्वितीय ऐसा ब्रह्म है और वही सब प्रमाणों की समाप्ति रूप है ऐसा हम कहते हैं॥ १५॥

सत्त्वाच्चापरस्य ॥ १६ ॥

च और **अपरस्य** कार्य की **सत्त्वात्** [कारण रूप से] स्थिति होने से [कारण से कार्य की अभिन्नता है]।

कारण से कार्य की इसलिये भी अभिन्नता है कि उत्पत्ति से पूर्व के कारण में पीछे से होने वाले कार्य का अस्तित्व कारण रूप से ही होता है। श्रुति में कहा है :—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' [छान्दो० ६। २। १] (हे सोम्य, प्रथम यह सब सद्रूप था), 'आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत्' [ऐ० आ० २। ४। १। १] (प्रथम यह एक आत्मा ही था) इन सब में 'इदम्' शब्द से ग्रहण किये हुए कार्य की कारण के साथ समानता है। जिस वस्तु का जिसमें अभाव होता है, वह वस्तु उसमें से कभी भी उत्पन्न नहीं होती, जैसे रेत में से कभी तेल नहीं निकलता। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कारण से कार्य के अभिन्न होने से उत्पत्ति से पीछे भी कारण से कार्य अभिन्न स्वरूप ही है। जैसे कारण स्वरूप ब्रह्म के सत्त्व में तीनों कालों का परिवर्तन नहीं होता इसी प्रकार तीनों काल में कार्य जगत् में भी सत्त्व रूप से किसी प्रकार का कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। अब सत्ता एक ही है, इसलिये कारण से कार्य की अभिन्नता है॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न।
धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

असद्व्यपदेशात् [श्रुति में] असत् के कहने से **न** [सृष्टि के पहले सत्] न था **इति** ऐसा **चेत्** [कहो] तो **न** [वैसा]

नहीं है **धर्मान्तरेण** अन्य धर्म से [ऐसा कथन है, ऐसा] **वाक्य शेषात्** वाक्यशेष से [प्रतीत होता है]।

उत्पत्ति के पहिले कार्य का असत्त्व (असत् होना) भी श्रुति ने कहीं २ प्रतिपादन किया है; जैसे कि 'असदेवेदमग्र आसीत्' [छान्दो० ३ । १९ । १] (पहिले यह असत् ही था) 'असद्वा इदमग्र आसीत्' [तैत्ति० २ । ७ । १] (निश्चय पहिले यह असत् था) । यहाँ उत्पत्ति के पहिले कार्य को असत् कहा है, इससे उत्पत्ति के पहिले कार्य की सत्ता नहीं है ऐसा कहोगे तो वह हमको मान्य नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को जो असत् करके कहा है वह अत्यन्त असत् के भाव से नहीं कहा है। तो क्यों कहा है ? व्यक्तता को प्राप्त हुए नाम रूप धर्म से भिन्न जो अव्यक्त नाम रूप धर्म है, इस भिन्न धर्म को लेते हुए, उत्पत्ति के पहिले ही से विद्यमान कार्य, जो कारण से अभिन्न है, उसका वहां असत् कह कर कथन किया है। यह कैसे जाना जाता है ? वाक्यशेष से। आरम्भ में वाक्य का अर्थ यदि संदिग्ध हो तो वाक्यशेष से यानी वाक्य के अन्तिम भाग को देखकर उसका निश्चय किया जाता है। यहाँ 'असदेव इदमग्र आसीद्' (पहले यह असत् ही था) इस वाक्य में उपक्रम (आरंभ) में असत् शब्द से जिसका निर्देश किया गया है उसी का आगे तत् शब्द से निरूपण करते हुए, उसको सत् ऐसा विशेषण देते हैं (निश्चय करते हैं), कि 'तत्सदासीत्' (वह सत् था)। 'असत्' का पूर्व और उत्तर काल के साथ सम्बन्ध न हो तो 'आसीत्' (था) इस शब्द का अर्थ ही नहीं बैठता। इसलिये 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (निश्चय यह प्रथम असत् था) इस श्रुति के

अन्त में भी 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपने को व्यक्त किया) ऐसा निरूपण होने से यहाँ अत्यन्त असत्त्व का भाव नहीं है; इसलिये कार्य का उत्पत्ति के पहले असत् करके निर्देश है वह इस अन्य धर्म को लेकर है। वैसे तो, नाम रूप द्वारा व्यक्तता को प्राप्त हुई वस्तु ही इस जगत् में सत् शब्द से प्रसिद्ध है। इसलिये नामरूप द्वारा व्यक्तित्व को प्राप्त होने के पहले वह असत् सा था ऐसा उपचार से कहा जाता है ॥ १७ ॥

कार्य सत् स्वरूप है इस बात को सिद्ध करने के लिये और प्रमाण देते हैं—

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

युक्तेः युक्ति से च और शब्दान्तरात् अन्य श्रुति द्वारा [भी सृष्टि के पूर्व कार्य का सद्भाव और कारण से अभिन्नता प्रतीत होती है]।

युक्ति से और श्रुति द्वारा भी उत्पत्ति के पूर्व कार्य का सद्भाव (अस्तित्व) और कारण से अनन्यत्व प्रतीत होता है। प्रथम युक्ति यह है :—दही, घट, माला आदि की इच्छा रखने वाले दुग्ध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि उनके प्रतिनियत कारणों को ग्रहण करते हैं ऐसा लोगों में देखा जाता है। कभी भी दही की इच्छा रखने वाले मृत्तिका का ग्रहण नहीं करते या घट की इच्छा रखने वाले क्षीर का ग्रहण नहीं करते। असत्कार्य वाद (सृष्टि के पूर्व कार्य असत् था ऐसा मत) से ऐसा करने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यदि उत्पत्ति के पूर्व सबका सर्वत्र असत्त्व ही शेष है, तो क्षीर ही से दही क्यों बनता है और मृत्तिका से क्यों नहीं बनता, वैसे ही मृत्तिका ही से घट क्यों बनता है, क्षीर से क्यों नहीं बनता ?

पूर्वपक्ष :—उत्पत्ति के पहले असत्त्व समान है तो भी क्षीर ही में दही का कुछ अतिशय (धर्म विशेष) है जो मृत्तिका में नहीं है और वैसे ही मृत्तिका में कुछ घट का अतिशय है जो क्षीर में नहीं है।

समाधान :—ऐसा कहने से पूर्व अवस्था अतिशय वाली होगी और इससे असत्कार्यवाद की हानि और सत्कार्यवाद की सिद्धि होगी। यदि कार्य के नियमनकी शक्ति कारण में होती है, ऐसी कल्पना करोगे तो वह शक्ति (कार्यकारण में) अन्य या असत् होगी और वह कार्य का नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि यहां असत्त्व और अन्यत्व रूप से समानता है। इसलिये कारण के आत्मभूत शक्ति है और शक्ति के आत्मभूत कार्य है (ऐसा मानना पड़ेगा), वैसे ही कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदि में अश्व और महिष (भैंसा) के समान भेद बुद्धि नहीं है, इसलिये उनके तादात्म्य (एक रूपता) को स्वीकार करना चाहिये।

कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदि के समवाय की कल्पना में भी समवाय और समवायियों में सम्बन्ध स्वीकार करें तो उनका (समवाय और सम्बन्ध का) एक २ के साथ सम्बन्ध मानना पड़ेगा और अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होगा; और यदि स्वीकार न करें तो द्रव्य और गुण आदि का विच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि ऐसा कहोगे कि, समवाय स्वतः संबंध रूप होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा न रखते हुए सम्बन्ध को प्राप्त होता है, तो संयोग भी स्वयं सम्बन्ध रूप होने से समवाय की अपेक्षा बिना ही संबन्ध को प्राप्त होगा। और द्रव्य और

गुण आदि में तादात्म्य की प्रतीति होती है इसलिये द्रव्य गुण आदि में समवाय की कल्पना निरर्थक है।

यहां पर यह भी प्रश्न होता है कि कार्य रूप जो अवयवी द्रव्य है वह कारण रूप अवयव द्रव्यों में किस प्रकार स्थित है। वह समस्त अवयवों में स्थित है या प्रत्येक अवयव में ? यदि समस्त अवयवों में स्थित हो तो अवयवी की अनुपलब्धि का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि सव अवयवों का एक साथ प्रत्यक्ष होना असंभव है; इसलिये वहुत्व जो समस्त आश्रय में स्थित है उसका भिन्न २ आश्रय के ग्रहण से ग्रहण नहीं होता। यदि समस्त प्रत्येक अवयव में वर्तमान रहे, तो भी अवयवी के पहले के अवयवों से भिन्न अवयव होने की कल्पना करनो पड़ेगी जिनसे पहले के अवयवों में अवयवी वर्तमान रहे, क्योंकि कोष के अवयव से भिन्न अवयव करके ही तलवार कोष को व्यापती है। प्रत्येक अवयव में अवयवी है, ऐसा मानें तो इसमें अनवस्था का भी दोष आता है, क्योंकि उन २ अवयवों में रहने के लिये अन्य २ अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी। अवयवी यदि एक अवयव में वर्त्तमान रहे तो एक अवयव में व्यापार होगा और अन्यत्र अव्यापार होगा। यह निश्चित है कि देवदत्त स्रुघ्न में हो तव उसी दिन वह पाटलिपुत्र में भी वर्तमान नहीं हो सकता। एक ही समय अनेक स्थान में वर्तमान हो तो अनेकत्व का प्रसंग प्राप्त होता है। जैसे कि स्रुघ्न और पाटलिपुत्र में स्थित यज्ञदत्त और देवदत्त एक नहीं है। यदि गोत्व आदि के समान अवयवों की प्रत्येक अवयत्र में परिसमाप्ति होने से दोष नहीं है, ऐसा कहोगे, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। यदि गोत्व आदि के समान अवयवी की प्रत्येक अवयव में परि-

समाप्ति होती, तो जैसे गोत्व का प्रत्येक गाय में प्रत्यक्ष होता है, वैसे अवयवी का भी प्रत्येक अवयव में प्रत्यक्ष ग्रहण होना चाहिये; परन्तु वैसा कभी भी नहीं होता। अवयवी की प्रति अवयव में परिसमाप्ति हो तो, अवयवी को कार्य का अधिकार होने से और अवयवी एक होने से, वह सींग से भी स्तन का कार्य कर सकता, या पेट से पीठ का कार्य कर सकता, परन्तु ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो तो उत्पत्ति कर्तारहित और निरात्मक हो जायगी। वास्तविकतया उत्पत्ति की क्रिया को गति आदि क्रिया के समान सकर्तृक मानना ही अधिक युक्त है। क्रिया हो और वह कर्ता रहित हो यह कथन परस्पर विरुद्ध है। घट की उत्पत्ति कहनी पड़े तो वह घटकर्तृक है ऐसा नहीं माना जायगा। तो कैसा माना जायगा? अन्यकर्तृक है ऐसा। वैसे ही कपाल आदि की उत्पत्ति कहनी पड़े तो भी वह अन्यकर्तृक ही मानो जायगी। 'घट सकर्तृक है अकर्तृक नहीं है, ऐसा माने तो 'घट उत्पन्न होता है' ऐसा कहते ही कुलाल आदि कारण भी उत्पन्न होते हैं ऐसा कथन होगा। परन्तु जगत् में घट की उत्पत्ति के कथन से कुलाल आदि की उत्पत्ति प्रतीति नहीं होती, वे तो प्रथम ही से उत्पन्न हुए होते हैं।

यदि उत्पत्ति का अर्थ अपने कारण की सत्ता के साथ सम्बन्ध और कार्य का प्रकाश, ऐसा हो, तो जिसने अभी सत्ता प्राप्त नहीं की है वह सम्बन्ध में किस प्रकार आवेगा यह भी कहना पड़ेगा, क्योंकि दो विद्यमान पदार्थों में ही सम्बन्ध की संभावना होती है, एक विद्यमान और एक अविद्यमान या दोनों अविद्यमान हों तो उनका सम्बन्ध संभव नहीं है। वैसे ही अभाव निरूपाख्य (अकथनीय) होने से उसकी 'उत्पत्ति के पूर्व' इस

प्रकार की मर्यादा मानना युक्त नहीं है। क्योंकि संसार में विद्यमान क्षेत्र, गृह आदि की मर्यादा होती है, अभाव की मर्यादा कहीं भी नहीं दिखाई देती। पूर्णवर्मा राजा के अभिषेक के पहले वंध्यापुत्र राजा था, इस प्रकार (वध्यापुत्र रूपी) अभाव की मर्यादा मानें तो निरुपाख्य (अकथनीय) ऐसा जो वंध्यापुत्र वह राजा है, हुआ है या होगा ऐसा निर्णय नहीं होता। यदि वंध्यापुत्र भी कारक व्यापार के पश्चात् विद्यमान हो जाय तो कार्य का अभाव भी कारक के व्यापार के पश्चात् विद्यमान होगा ऐसा माना जायगा। परन्तु हम तो देखते हैं कि वंध्यापुत्र और कार्याभाव दोनों अभाव रूप ही रहते हैं; इसलिये, जैसे कारक के व्यापार के पश्चात् वंध्यापुत्र नहीं बनता, वैसे ही कार्याभाव भी कारक के व्यापार के पश्चात् उत्पन्न नहीं होगा।

शंका:—ऐसा मानने से कारक व्यापार अनर्थक होने का प्रसंग प्राप्त होगा जैसे पहले ही से सिद्ध होने से कारण स्वरूप की सिद्धि के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करता, वैसे ही कार्य भी पहिले ही से सिद्ध होने से और कारण से अनन्य होने से उसके स्वरूप की सिद्धि के लिये भी कोई प्रयत्न नहीं करेगा; परन्तु प्रयत्न तो होता ही है। इसलिये, कर्त्ताका व्यापार सप्रयोजन रहे इसीलिये उत्पत्ति के पहले कार्य का अभाव होता है ऐसा हम मानते हैं।

समाधान:—यह दोष नहीं है; क्योंकि कारण की कार्य स्वरूप में व्यवस्था करने के लिये कारक व्यापार सप्रयोजन है, यह इसी से सिद्ध होता है। कार्य स्वरूप भी कारण के आत्मभूत ही है, क्योंकि जो कारण में नहीं है वह कार्य में नहीं आता, ऐसा हम कहते हैं।

वस्तु विशेषता को प्राप्त होने से बदलती नहीं। वास्तविकतया जिसने अपने हाथ पैर सिकोड़ लिये हैं ऐसा देवदत्त, अपने हाथ पैर पसारे हैं, ऐसे विशेष स्वरूप से दीखने वाले देवदत्त से भिन्न वस्तु नहीं होता, क्योंकि उसको वैसा बोध होता है। वैसे ही, प्रति दिन नाना स्थितियों में होते हुए भी उसके पिता आदि बदलते नहीं; मेरा पिता, मेरा भाई, मेरा पुत्र यह उसका ज्ञान एक ही रहता है। यदि इस उदाहरण में जन्म तथा उच्छेद (नाश) का व्यवधान (आड़) नहीं है, इसलिये यहां ऐसा बन सकता है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहोगे, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि क्षीरादि दही आदि के आकार में दीखते हैं यह प्रत्यक्ष है। वट-बीज आदि जो देखने में नहीं आते, वे भी अन्य समान जातीय अवयवों से वृद्धि को प्राप्त होकर अंकुरादि भाव से दृश्य भाव को प्राप्त होते हैं, तब उनको जन्म संज्ञा प्राप्त होती है और अवयवों का क्षय होकर वे अदृश्य हो जाते हैं तब उनको उच्छेद (नाश) की संज्ञा मिलती है। इस उदाहरण में यदि जन्म और विच्छेद का व्यवधान होने से असत् सत् होता है और सत् असत् होता है, ऐसा माने तो गर्भ में रहे हुए और चित्त सोने वाले दोनों में भेद आ जायगा, बाल्य यौवन और वृद्धावस्था इनमें भी भेद का प्रसंग प्राप्त होगा, तथा पिता, पुत्र आदि व्यवहार का भी लोप होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इससे क्षणभंगवाद का भी निराकरण हुआ।

जिसके मत में उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है, उसके लिये कारक व्यापार निर्विषय होगा; क्योंकि अभाव किसी का विषय नहीं बन सकता। जैसे आकाशको मारने के लिये तलवार आदि आयुधों के प्रयोग निष्फल होते है, वैसे ही इनका (असत्कार्यवादियों का) कारक व्यापार भी निरर्थक होगा।

यदि कारक व्यापार का विषय समवायी कारण होगा, ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें एक विषय सम्बन्धी कारक व्यापार और अन्य विषय की प्राप्ति ऐसा अतिप्रसंग प्राप्त होगा। यदि, कार्य समवायी कारण का ही अतिशय है ऐसा कहोगे, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें सत्कार्यवादका स्वीकार होगा। इसलिये, क्षीरादि द्रव्य ही दधि आदि के स्वरूप में रहते हुए कार्य की संज्ञा को प्राप्त होते हैं अर्थात् सौ वर्ष के पश्चात् भी कार्य को कारण से भिन्न निश्चय करना असम्भव है और मूल कारण ही अन्त के कार्य तक उस २ आकार को नट के समान धारण करके व्यवहार का आधार बनता है। इस प्रकार उत्पत्ति के पहिले कार्य का सत्व और कारण से अभिन्नता युक्ति से सिद्ध होती है।

शब्दान्तर से यानी अन्य श्रुति प्रमाण द्वारा भी यही सिद्ध होता है। पूर्व सूत्र में श्रुति दी गई है, उसमें असत् का निरूपण है। उससे अन्य अर्थात् जिसमें सत् का निरूपण है, वह शब्दान्तर या अन्य श्रुति कही जायगी। वह श्रुति यह है:—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, पहले यह सत्स्वरूप ही था एक ही था और अद्वितीय था) इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (उसको कोई कहते हैं कि वह पहले असत् स्वरूप ही थे), इस प्रकार असत्पक्ष को खड़ा करके 'कथमसतः सज्जायेत' (असत् से सत् किस प्रकार उत्पन्न होगा) ऐसा दोष लगाते हुए, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छान्दो० ६।२। १] (हे सोम्य, पहले वह सत्स्वरूप ही था) ऐसा निश्चय करते हैं। इसमें 'इद' (यह) शब्द से वाच्य जो कार्य, उसका उत्पत्ति के पूर्व सत् शब्द का वाच्य जो कारण उसके साथ समानाधिकरण्य (एकत्व) प्रतिपादन किया है। इससे उनका सत्त्व और अन-

न्यत्व दोनों सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो और पीछे से वह कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से मिला हुआ हो, तो वह कारण से भिन्न हो सकता है; परन्तु ऐसा होने से 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' [छान्दो० ६।१।३] (जिस करके नहीं सुना हुआ, सुना हुआ होजाता है) इस प्रतिज्ञा का भंग होता है और कार्य का सत्त्व और अनन्यत्व जानने से इस प्रतिज्ञा का समर्थन होता है ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

च और **पटवत्** [लपेटे हुए और खुले हुए] वस्त्र के समान [अवस्था भेद के कारण कार्य से कारण की भिन्नता है, वास्तविक भिन्नता नहीं है]।

जैसे लपेटे हुए वस्त्र का देखने वाले को स्पष्ट वोध नहीं होता कि यह वस्त्र है या अन्य कोई वस्तु है; परन्तु जब वह वस्त्र खोला जाता है तब वह लपेटी हुई वस्तु वस्त्र ही थी, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। लपेटी हुई अवस्था में यह विदित हो जाय कि यह पट है, तो भी विशेषता से लंबाई चौड़ाई के साथ उसका ज्ञान नहीं होता। उसको खोलने के पश्चात् उसका विशेष लंबाई चौड़ाई के साथ ज्ञान होता है और लपेटे हुए वस्त्र से यह कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं यह भी ज्ञान उसी से होता है। इसी प्रकार तन्तु आदि रूप कारण अवस्था में रहा हुआ जो पट आदि कार्य अस्पष्ट होता है, वह तुरी, वेम, जुलाहा आदि के कारक व्यापार से व्यक्त होता है और स्पष्टता से ग्रहण किया जाता है। इसलिये लपेटे हुए और खोले हुए वस्त्र के समान कार्य कारण से अभिन्न है, ऐसा इसका अर्थ होता है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

च और यथा जैसे प्राणादि [कारणरूप प्राण से] प्राणादि [भिन्न नहीं हैं, वैसे ही, कारण से कार्य भिन्न नहीं है]।

इस लोक में प्राण के प्राण अपान, आदि भेद जब प्राणायाम से निरुद्ध हो जाते हैं और केवल कारण रूप प्राण रह जाता है तब केवल जीवन कार्यही होता है, आकुँचन प्रसारणादि अन्य कार्य वन्द रहते हैं; परन्तु वे ही प्राणभेद जब फिर से प्रवृत्त होते हैं तब जीवन के अतिरिक्त आकुंचन प्रसारणादि कार्य भी होने लगते हैं। प्राण अपान आदि भेद मुख्य प्राण से वास्तव में भिन्न नहीं है, क्योंकि वायुस्वभाव दोनों ही में एकसा है। ऐसे ही कारण से कार्य अनन्य है। अखिल जगत् ब्रह्म का कार्य होने से और ब्रह्म से अभिन्न होने से 'येनाश्रतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (जिस करके न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, नहीं विचारा हुआ विचारा हुआ हो जाता है, नहीं जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है), यह श्रुति की प्रतिज्ञा सिद्ध होती है।

(७) इतरव्यपदेशाधिकरण । सू० २१--२३

इतर व्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

इतरव्यपदेशात [यदि चेतन को जगत् का कारण मानोगे तो] अन्य का यानी जीव का [ब्रह्म रूप से श्रुति में] कथन होने से हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः [ब्रह्म में अपना] हित न करना आदि दोष लगने का प्रसंग [प्राप्त होगा]।

अन्य प्रकार से चेतन कारण बाद में शंका उठाते हैं।

शंका :—चेतन से सृष्टि हुई है, ऐसा मानने से अपना हित न करने का दोष चेतन में लगता है। क्यों ? इतर व्यपदेश से अर्थात् इतर यानी जीव को श्रुति ब्रह्मरूप बताती है, इससे, अर्थात् 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (हे श्वेतकतो, वह आत्मा तू है), इस प्रकार का श्रुति बोध कराती है, इससे। अथवा, इतर यानी ब्रह्म को श्रुति शारीरात्मा (शरीर वाला आत्मा अर्थात् जीव) बताती है, जैसे 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २। ६] (उसको उत्पन्न करके उसी में प्रवेश किया)। यहां अविकृत ब्रह्म ही कार्य के अन्दर प्रवेश करने से शारीर स्वरूप यानी जीवस्वरूप है, ऐसा बताया गया है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छान्दो० ६। ३। २] (इस जीवरूप आत्मा से प्रवेश करके नामरूप से प्रकाशित होऊं), यहां पर देवता जीव का आत्मा शब्द से निर्देश करके दिखाते हैं कि ब्रह्म से शारीर यानी जीव भिन्न नहीं है; इसलिये ब्रह्म का जो सृष्टि का उत्पन्न करना है यह शारीरका ही हुआ। जब वह स्वतन्त्र कर्ता है, तब वह अपनी प्रसन्नता के लिये अपना हित ही करेगा; जन्म मरण, जरा व्याधि आदि अनेक अनर्थ रूप अपना अहित नहीं करेगा। क्योंकि जो परतन्त्र नहीं है वह कभी भी कारागृह [जेलखाना] बना कर उसमें स्वयं बन्द हो जावे, ऐसा नहीं बनता। वैसे ही, जो स्वयं अत्यन्त निर्मल है वह अपने लिये अत्यन्त मलिन देह नहीं प्राप्त करेगा। यदि किसी कारण से ऐसा देह प्राप्त भी करे, तो उसको दुःखदायक समझ अपनी इच्छा से उसका त्याग करेगा। उसको यह भी याद रहेगा कि यह विचित्र जगत् मैंने ही रचा है, क्योंकि यदि कोई मनुष्य कोई विशेष काम करे तो उसको यह याद रहता है कि मैंने यह काम किया है; और जैसे मायावी

(जादूगर) अपनी माया को अपनी इच्छानुसार विना कठिनाई के समेट ले सकता है, जीव भी, वैसे ही, अपनी सृष्टिका संहारकर सकता, परन्तु जीव तो अपने शरीर का भी विना प्रयास के संहार करने में समय नहीं होता। इस प्रकार अपना हित करने का भाव उसमें नहीं दिखाई देता, इसलिये चेतन से जगत् की उत्पत्ति मानना न्याय से विरुद्ध मालूम होता है ॥२१॥ इसका समाधान आगे के सूत्र से करते हैं—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तु परन्तु भेदनिर्देशात् [जीवात्मा और परमात्मा के] भेद के कथन से अधिकं [जीवात्मा से परमात्मा] भिन्न है, [इसलिए परमात्मा में हित न करने का दोष नहीं लगता]।

सूत्र का तु (परन्तु) शब्द पूर्व सूत्र के पक्ष का इस सूत्र में निराकरण यानी समाधान है ऐसा सूचित करता है।

समाधान :—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म जो शारीर यानी जीव से अधिक अर्थात् अन्य है उसको हम जगत् का उत्पत्तिकर्त्ता बताते हैं। उसको अपना हित न करना आदि दोष नहीं लगते; क्योंकि उसके लिये हित करना या अहित का परिहार करना है ही नहीं। वह नित्य मुक्त स्वभाव है, उसके ज्ञान को या शक्ति को जरा भी प्रतिबंध नहीं है; क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान है। शारीर इस प्रकार का नहीं है, इस लिये उसको हित न करना आदि दोष लग सकते हैं, परन्तु हम उसको जगत् कर्त्ता नहीं कहते। सो क्यों ? भेद का कथन श्रुति में है इसलिये। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मंतव्यः निदिध्यासितव्यः [बृह० २ : ४ : ५ :

(अरे, आत्मा दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छांदो० ८।७।१] (वह अन्वेषण करने और जिज्ञासा करने योग्य है) 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छांदो० ६।८।१] (हे सोम्य, तब वह सत् से युक्त हो जाता है) 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः [बृह० ४।३।३५] (शारीर आत्मा यानी जीव प्राज्ञ आत्मा से युक्त है), इस प्रकार कर्ता कर्म आदि के भेद के निर्देश से जीव से ब्रह्म की अधिकता श्रुति प्रतिपादन करती है।

शंका :—'तत्त्वमसि' (वह तू है) आदि श्रुतियों से अभेद का भी निर्देश किया गया है, फिर भेद और अभेद दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ का एक ही वस्तु में रहना किस प्रकार संभव है ?

समाधान :—यह दोष नहीं है; आकाश घटाकाश न्याय से। घट में जैसे घटाकाश और आकाश रहता है वैसे ही यह भी रहते हैं। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार के अभेद के उपदेश से जब अभेद का बोध हो जाता है, उस समय जीव का संसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टापन दोनों जाते रहते हैं; क्योंकि मिथ्या ज्ञान से दीखने वाला समस्त भेद व्यवहार सम्यक् ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है, इस समय सृष्टि कहाँ और हित न करने का दोष भी कहाँ ? हित न करना आदि से लक्षित संसार, जन्म मरण, छेदन भेदन आदि के अभिमान के समान अविद्या जनित नाम रूप से बने हुए कार्य कारण समूह रूप उपाधि के अविवेक से उत्पन्न हुई भ्रान्ति है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा हम अनेक बार कह चुके हैं। परन्तु भेद-व्यवहार बाधित नहीं हुआ हो तो 'सोऽन्वेष्टव्यः स निदिध्यासितव्यः (उसको

ढूँढ़ना चाहिये और उसको जानने की इच्छा करनी चाहिये) इस प्रकार के भेद के कथन से उपलक्षित ब्रह्म का अधिकत्व हित न करना आदि दोषों का निवारण करता है॥ २२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

च और अश्मादिवत् पत्थर आदि के समान तदनुपपत्तिः उन [दोनों] का अभाव है।

जैसे इस जगत् में सब पत्थरों में पृथिवीत्व सामान्य होते हुए भी वज्र, वैडूर्य आदि पत्थर महा मूल्यवान होते हैं, दूसरे सूर्यकान्त आदि मध्यमतेज वाले और तीसरे कुत्तों कौओं को ओर फैंकने के योग्य पत्थर होते हैं। इस प्रकार इसमें अनेक प्रकार की विचित्रता दिखाई देती है। जैसे एक ही पृथ्वी का आश्रय रखने वाले बीज चन्दन, ताड़ आदि वृक्षों के रूप में नाना प्रकार के पत्र, पुष्प, फल, गंध, रस आदि विचित्रता से दिखाई देते हैं, जैसे एक ही अन्न रस के रुधिर (खून) आदि और केश, लोम आदि नाना प्रकार के विचित्र कार्य होते हैं; वैसे ही एक ही ब्रह्म का जीवरूप और प्राज्ञरूप पृथक्ता और कार्य वैचित्र्य प्रतीत होता है। इसलिये ब्रह्म में हित न करना आदि परकल्पित दोष नहीं लग सकते। श्रुति के कथनानुसार सभी विकार (दृश्य जगत्) केवल कथन मात्र के लिये हैं यानी मिथ्या है, इसलिये स्वप्न में प्रतीत होने वाले दृश्य वैचित्र्य के समान (यह जगत् और तदन्तर्गत) हित न करना आदि दोष भी मिथ्या हैं, यही इस सूत्र का सार है॥ २३॥

(८) उपसंहारदर्शनाधिकरण। सू० २४-२५

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

उपसंहारदर्शनात् [जगत् में काम करने वाले के पास

साधन सामग्री के] संग्रह को देखते हुए न [असहाय ब्रह्म जगत् का कारण] नहीं है इति ऐसा चेत् [कहो] तो न [ऐसा कहना ठीक] नहीं है हि क्योंकि क्षीरवत् दूध के समान [बाह्य साधन की अपेक्षा न रखते हुए ब्रह्म का जगत् का कारण होना सम्भव है]।

शंका :—एक अद्वितीय, चेतन ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा कहा है, परन्तु वैसा प्रतीत नहीं होता। क्यों? संग्रह दिखाई देता है; इसलिये। इस जगत् में घट पट आदि के कर्ता कुलाल आदि मृत्तिका, दंड, चक्र, सूत्र आदि अनेक कारकों के समूह को साधन रूप ग्रहण करके उस २ कार्य को करते हैं, ऐसा देखा जाता है।

समाधान :—ब्रह्म असहाय है ऐसा तेरा अभिप्राय है। वह अन्य साधन ग्रहण किये बिना स्रष्टा कैसे बने? इसलिये असहाय होने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, ऐसा कहोगे तो वह दोष नहीं है, क्योंकि दूध जैसे अपने मुख्य स्वभाव से दही में परिणत हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत् परिणाम को प्राप्त होता है। जैसे जगत् में दूध या जल बाह्य साधन की अपेक्षा न रखते हुए दधि के रूप में या हिम (बरफ) के रूप में परिणत होता है वैसे यहां भी हो है। क्षीरादि भी दधि आदि के भाव में परिणत होने के लिये उष्णता आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये, ब्रह्म को क्षीरादि के समान क्यों कहा है ऐसा कहोगे तो वह दोष नहीं है। दूध में जो और जितनी परिमाण की दही की मात्रा रही हुई है वह, और उतनी ही मात्रा उष्णता आदि से उसको दधि भाव को प्राप्त कराती है। यदि स्वयं दूध में दधि भाव का स्वभाव न हो तो उष्णता आदि बलात्कार से उसमें वह ला नहीं सकते, क्योंकि कभी वायु और

आकाश उष्णता द्वारा बलात्कार से दधिभाव को नहीं प्राप्त हो सकते, अर्थात् साधन सामग्री से केवल उसमें रहे हुए परिणाम की पूर्णता ही होती है। परन्तु ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्ति वाला है, इसलिए उसकी पूर्णता संपादन करने के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। श्रुति है कि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥ [श्वेता० ६। ८] (न उसका कार्य है न कारण, उसके समान वा उससे श्रेष्ठ कोई नहीं दीखता, सुनते हैं कि उसकी शक्ति श्रेष्ठ और विविध है और उसकी ज्ञान क्रिया और बल क्रिया स्वाभाविक है।), इसलिये एक ही ब्रह्म के अपने से विचित्र परिणाम होते हैं ऐसा प्रतीत होता है॥ २४॥

देवादिवदपि लोके॥ २५॥

[देवादि प्रभाव वाले पुरुष बाह्य साधन की अपेक्षा के बिना संकल्प मात्र ही से पदार्थ उत्पन्न करते हैं] लोके इस जगत् में [शास्त्र का प्रमाण होने से] देवादिवत् देवादि के समान अपि [ब्रह्म] भी [बाह्य साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं जगत् की रचना करता है, ऐसा बन सकता है]।

शंका—क्षीरादि अचेतन पदार्थों में से बाह्य साधन के बिना ही दधि आदि उत्पन्न होते हैं यह ठीक है, परन्तु कुलाल आदि चेतन पदार्थ साधन सामग्री लेकर ही अपने २ कार्य में प्रवृत्त होते हैं ऐसा देखने में आता है। ब्रह्म जब चेतन है तब वह साधन सामग्री लिये बिना किस प्रकार कार्य में प्रवृत्त होगा ?

समाधानः—हम कहते हैं कि देवादिकों के समान। जैसे इस जगत् में देव पितर, ऋषि तथा ऐसे ही अन्य प्रभावशाली

पुरुष चेतन होते हुए किसी वाह्य साधन की अपेक्षा न रख कर अपने विशेष ऐश्वर्य के योग से केवल संकल्प मात्र से बहुत से नाना प्रकार के शरीर, प्रासाद (महल), रथ आदि निर्माण करते हैं ऐसा विदित होता हैं; क्योंकि मन्त्र शास्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणों में इसके प्रमाण हैं। जैसे मकड़ी अपने में से ही तन्तु निकालती है, वगुली शुक्र के विना ही गर्भ धारण करती है और पद्मिनी (कमल की वेल) किसी साधन के विना ही एक तालाव से दूसरे तालाव में जाती है, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी किसी साधन को अपेक्षा न रखते हुए अपने ही से जगत् को उत्पन्न करता है। यदि वह शंकावादी कहे कि जो देवादिकों के दृष्टांत दिये हैं वे दार्ष्टान्तिक (जिसके लिये दृष्टांत दिया हो) ब्रह्म के साथ मिलते नहीं है क्योंकि देवादि के अचेतन शरीर ही अन्य शरीरादि विभूतियां उत्पन्न करने में उपादान कारण वनते हैं चेतन आत्मा उपादान कारण नहीं बनता है; मकड़ी छोटे २ जीवों को खाती है, इसलिये उसकी लार कठिनता को प्राप्त होती है, वगुली मेघ गर्जना सुन कर गर्भ धारण करती है; पद्मिनी चेतन होते हुए भी अचेतन शरीर ही से एक तालाव से दूसरे तालाव को जाती है, जैसे कोई लता एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाय; परन्तु स्वयं चेतन होते हुए एक तालाव से दूसरे तालाव में जाने का व्यवहार नहीं करती, इसलिये वह दृष्टांत ब्रह्म के लिये ठीक नहीं है, उसको कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है। क्योंकि, कुलालादि दृष्टांत केवल विलक्षणता दिखाने के लिये ही दिये गये हैं। कुलालादि और देवादि चेतनता में समान हैं, तो भी कुलालादि कार्य का आरम्भ करने में वाह्य साधन की अपेक्षा रखते हैं, देवादि नही रखते। वैसे ही ब्रह्म चेतन है, तो भी वह

बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता, इतना ही देवादिकों के उदाहरण से हम कहना चाहते हैं। इसलिये हमारा अभिप्राय यही है कि जैसा एक का सामर्थ्य हो वैसा ही सबका सामर्थ्य होना चाहिये ऐसा निश्चित नियम नहीं है ॥ २५ ॥

६ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण । सू० २६-२९

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द-
कोपो वा ॥ २६ ॥

कृत्स्नप्रसक्तिः [ब्रह्म को निरवयव कहोगे तो] समस्त [ब्रह्म] को [कार्य रूप की] प्राप्ति होती है] **वा** अथवा **निरवयवत्वशब्दकोपः** [सावयव मानोगे तो] ब्रह्म के निरवयवत्व प्रतिपादक श्रुति का कोप यानी बाध [होगा, इसलिये ब्रह्म जगदाकार होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है]।

चेतन, एक और अद्वितीय ऐसा ब्रह्म क्षीरादि तथा देवादिकों के समान बाह्य साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं परिणाम को प्राप्त होता है, और यही जगत् का कारण है यह सिद्ध हुआ। परन्तु शास्त्रार्थ की परिशुद्धि के लिये पुनः शंका उठाते हैं।

शंका:—ब्रह्म को जगत् का कारण मानें तो समस्त ब्रह्म का कार्य रूप परिणाम होता है ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। पृथ्वी आदि के समान ब्रह्म सावयव होता तो उसका एकदेशी परिणाम होकर एक ही देश में रह सकता था, परन्तु ब्रह्म तो निरवयव है ऐसा श्रुति द्वारा मालूम होता है। जैसे, निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरंजनम्। [श्वेता० ६ । १९] (अवयव रहित, क्रिया शून्य, शांत, दोष रहित, निरंजन), "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' [मुण्ड०

२।१।२] (यह पुरुष अमूर्त है, वाहर और भीतर रहा हुआ है और अज है।), इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव [वृह० २।४।११] (यह महत्‌रूप, अनंत, अपार, विज्ञानघन ही है), 'स एष नेतिनेत्यात्मा' [वृह० ३।६।२६] (नेति नेति यानी निषेध द्वारा जिसका निर्देश किया जाता है वही यह आत्मा है), 'अस्थूलमनरण' [वृह० ३।८।८] (स्थूल नहीं और अणु नहीं), इत्यादि सव विशेषों का निषेध करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म निरवयव है ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये निरवयय में एक देशी परिणाम असंभव होने से समस्त ब्रह्म का परिणाम मानना पड़े तो ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये अवकाश न रहने से जड़ ही कटने का प्रसंग प्राप्त होगा, और ब्रह्म दर्शन करने योग्य है यह उपदेश निरर्थक होगा, क्योंकि, कार्य तो विना प्रयत्न ही दिखाई देता है और उसके अतिरिक्त अन्य ब्रह्म का होना असंभव है। वैसे ही अज शब्द का ब्रह्म की श्रुति में व्यवहार किया गया है वह भी निरर्थक होगा। इस दोष के परिहार के लिये यदि सावयव ब्रह्म को स्वीकार करोगे, तो ब्रह्म के निरवयत्व को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के उदाहरण दिये हैं, उनका वाध हो जायगा। सावयव मानने से ब्रह्म को अनित्यता भी प्राप्त होगी, इसलिये सर्वथा इस पक्ष को घटाना असंम्भव है ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तु परन्तु श्रुतेः [समस्त ब्रह्म कार्यरूप परिणाम को प्राप्त नहीं होता] ऐसी श्रुति होने से [समस्त ब्रह्म के परिणाम होने का दोष नहीं प्राप्त होता; वैसे ही ब्रह्म का निरूपण]

शब्दमूलत्वात् श्रुति द्वारा ही [संभव होने से श्रुति में उसका स्वरूप कथन किया हो ऐसा ही मान लेना चाहिये]।

तु शब्द से पूर्व सूत्र में किये हुए आक्षेप का समाधान किया है, ऐसा सूचित करते हैं।

समाधान :—वास्तव में हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है' क्योंकि समस्त ब्रह्म का कार्यरूप परिणाम होने का प्रसंग नहीं आता। वह कैसे? श्रुति प्रमाण से। जैसे ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति श्रुति में दी गई है वैसे ही जगत् रूप विकार से भिन्न ब्रह्म की स्थिति का वर्णन भी श्रुति करती है। 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' । [छान्दो० ६ । ३ । २] (ऐसे उस देवता ने विचार किया कि मैं इन तीन देवताओं में जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके नामरूप द्वारा प्रकट होऊं), 'तावानस्य महिमा ततो ज्यांयाश्च पूरुषः पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । [छा० ३ । १२ । ६] (इसकी इतनी महिमा है, पुरुष इससे भी वड़ा है। सव भूत इसका एक पाद है और इसके तीन पाद अमृत स्वरूप स्वात्मप्रकाश में स्थित हैं) ऐसा कथन है। वैसे हो हृदय को ब्रह्म स्थान कहा है और सत्त के साथ ब्रह्म की एकता प्रतिपादन की है। यदि समस्त ब्रह्म कार्य भाव को प्राप्त हो तो 'सत्ता सोम्यतदा सम्पन्नोभवति' [छान्दो० ६ । ८ । १] (हे सोम्य, तब वह सत् से युक्त होता है) इस प्रकार का सुषुप्ति सम्बन्धी कथन उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि (ऐसा मानें तो) विकृत (विकार को प्राप्त हुआ) ब्रह्म नित्यप्राप्त है और अविकृत ब्रह्मका अभाव होता है। ब्रह्मके इन्द्रियगोचर होने का श्रुति में प्रतिषेध है और विकार रूप जगत् तो सब किसी को इन्द्रिय-

गोचर है। निरवयवत्व शब्द का भी वाध नहीं होता; क्योंकि श्रुति के प्रमाण ही से निरवयवत्व का स्वाकार किया जाता है। ब्रह्म शब्द (श्रुति) ही से जाना जाता है। शब्द ही उसके लिये प्रमाण है। इन्द्रिय आदि उसके लिये प्रमाण नहीं हैं। इसलिये उसको शब्द ही के अनुसार स्वीकार करना चाहिये। श्रुति समस्त ब्रह्म के कार्य रूप परिणाम होने का और निरवयवत्व दोनों का प्रतिपादन करती है। मणि, मंत्र, औषधि आदि लौकिक शक्तियाँ देश, काल और निमित्त की विचित्रता से अनेक विरुद्ध कार्य करती दिखाई देती हैं। उनको भी विना उपदेश के केवल तर्क से समझा नहीं जाता कि इस वस्तु में ऐसे ऐसे निमित्त के साथ ऐसे विषय वाली और ऐसे प्रयोजन वाली इतनी शक्तियां हैं। फिर जिसका स्वभाव ही अचित्य है ऐसे ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण विना शब्द के न हो सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? पौराणिक भी यही कहते हैं—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।' वास्तव में जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उनका तर्क के साथ योग न करना चाहिये, प्रकृति से परे होना यही अचिन्त्य का लक्षण है)। इसलिये, अतींद्रिय अर्थ के स्वरूप की ठीक २ प्रतीति शब्द द्वारा ही होती है।

शंका :—परंतु, निरवयव ब्रह्म परिणाम को प्राप्त होता है और समस्त ब्रह्म परिणाम को नहीं प्राप्त होता ऐसे विरोधी अर्थ की प्रतीति शब्द भी नहीं करा सकता। यदि वह निरवयव हो तो, या तो परिणाम को प्राप्त ही नहीं होगा या होगा तो समस्त ब्रह्म का ही परिणाम होगा। यदि किसी रूप से परिणाम को प्राप्त हो और अन्य रूप से वह वैसा ही बना रहे तो रूप भेद की कल्पना से ब्रह्म के अवयव सहित होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

वास्तव में क्रिया के संबंध में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रि में षोडशी का ग्रहण करता है) और 'न अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रि में षोडशी का ग्रहण नहीं करता) इस प्रकार की विरोधी प्रतीति में भी अनुष्ठान पुरुष के अधीन होने से विकल्प के ग्रहण से विरोध दूर होता है। यहां तो विकल्प के ग्रहण से भी विरोध का दूर होना सम्भव नहीं है; क्योंकि वस्तु पुरुष के अधीन नहीं है। इसलिये ऐसा हो नहीं सकता।

समाधान :—यह दोष नहीं है, क्योंकि रूप भेद अविद्या कल्पित माना गया है। अविद्या कल्पित रूप भेद से वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोग से जिसके नेत्र का प्रकाश नष्ट हुआ है ऐसे पुरुष को एक ही चन्द्र अनेक रूप से दीखे तो वह अनेक नहीं होता। अविद्या कल्पित नाम रूप के लक्षण वाले अनिर्वचनीय रूप भेद से व्याकृत और अव्याकृत रूप को प्राप्त हुआ ब्रह्म अनन्यता से परिणाम आदि सब व्यवहारों का स्थान होता है; परन्तु, पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म सब व्यवहारों से परे और परिणाम को प्राप्त हुए विना ही अवस्थित है। अविद्या कल्पित नामरूप का भेद केवल कथनमात्र का होने से ब्रह्म के निरवयवत्व को उससे वाधा नहीं पहुंचती। परिणाम प्रतिपादक श्रुति का प्रयोजन ब्रह्म के परिणाम का प्रतिपादन करने में नहीं है; क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई फल नहीं निकलता। उस श्रुति का प्रयोजन तो, सब व्यवहार से रहित जो ब्रह्म है, वही आत्मा है यही प्रतिपादन करने का है; क्योंकि ऐसा अर्थ करने में फल है— 'स एष नेतिनेत्यात्मा' (वह यह नेतिनेति द्वारा निर्दिष्ट आत्मा है) ऐसा उपक्रम यानी प्रारम्भ करके आगे कहते हैं कि 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि, (हे जनक, तू अब भय रहित ब्रह्म को प्राप्त

हुआ है) । इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादन करना श्रुति का हेतु होने से हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

च और हि जैसे आत्मनि आत्मा में विचित्राः विचित्र [सृष्टि उत्पन्न होती है] एवं वैसे च ही [ब्रह्म में स्वरूप के नाश के विना ही विचित्र सृष्टि उत्पन्न होती है]।

एक ही ब्रह्म में अपने स्वरूप का नाश न होते हुए नाना प्रकार की सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न होगी ऐसा वाद उठाना ठीक नहीं है । स्वप्न द्रष्टा में भी अपने स्वरूप का नाश न होते हुए ही नाना आकार वाली सृष्टि उत्पन्न होती है, ऐसा पढ़ने में आता है । जैसे 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ।' [बृह० ४ । ३ । १०] (वहाँ रथ नहीं हैं; अश्व नहीं है, मार्ग नहीं है परन्तु रथ, मार्ग और अश्व को वह उत्पन्न कर लेता है) इत्यादि । इस जगत् में भी देवादि तथा मायावी (जादूगर) आदि में भी अपने स्वरूप के नाश के विना ही हाथी, घोड़े आदि की सृष्टि दिखाई देती है । इसी प्रकार ब्रह्म के भी स्वरूप का नाश हुए बिना ही नाना आकार वाली सृष्टि उत्पन्न होती है ॥ २८ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २६ ॥

च और स्वपक्षदोषात् स्वपक्ष में दोष है; इससे [विपक्षियों को वही दोष हमारे पक्ष में नहीं लगाना चाहिये]।

सर्व ब्रह्म के परिणाम का प्रसंग और निरवयवत्व के अंगीकार से विरोध यह दोष औरों के पक्ष में भी जैसे का तैसा ही

है। क्योंकि, प्रधानवादियों का भी यही पक्ष है कि निरवयव, अपरिच्छिन्न और शब्दादि रहित ऐसा प्रधान सावयव, परिच्छिन्न और शब्दादि युक्त कार्य का कारण है। इसलिये इस पक्ष में भी प्रधान के निरवयव होने से कृत्स्नप्रसक्ति (समस्त प्रधान का कार्य में परिणत होना) का प्रसंग, और सावयव मानें तो निरवयवत्व के अंगीकार का विरोध प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि वे निरवयव प्रधान का स्वीकार नहीं करते, सत, रज, और तम यह तीन गुण हैं और इनकी साम्यावस्था प्रधान है, इसलिये इन अवयवों से वह सावयव है ऐसा वे मानते हैं, तो इस प्रकार के सावयत्व से प्रकृत दोष का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि सत्व, रज और तम इन गुणों में एक एक का निरवयत्व समान हैं। एक एक गुण शेष दो गुणों से युक्त होकर सजातीय प्रपंच का उपादान कारण होता है, यह उनके पक्ष में भी दोष आता है। निरवयवत्व की प्रतिष्ठा (स्थिति) तर्क से नहीं होती, इसलिये यदि सावयवत्व का स्वीकार करोगे तो अनित्यत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। कार्य वैचित्र्य से अनुमानित शक्तियाँ ही अवयव हैं, यही यदि उनका अभिप्राय हो तो वही ब्रह्मवादियों का अभिप्राय है। अणुवाद में भी निरवयव अणु एक दूसरे से संयोग को प्राप्त होता है। वह यदि संपूर्ण रूप से संयोग पावे तो उससे परिणाम में अधिकता नहीं आवेगी और यदि उनका संयोग एकदेशीय माने तो निरवयत्व का बाध हो जायगा। इसलिये इनके पक्ष में भी यह दोष समान होने से एक ही पक्ष पर इनका आक्षेप करना ठीक नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मवादी ने अपने पक्ष के दोष का निवारण किया है॥ २६ ॥

१० सर्वोपेताधिकरण । सू० ३० । ३१

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

च और **तद्दर्शनात्** [श्रुति में] उसके [सर्व शक्ति से युक्त होने के] दर्शन से **सर्वोपेता** [वह पर देवता] सर्व [विचित्र] शक्ति वाला है।

एक ही ब्रह्म से विचित्र विकार वाला प्रपंच उत्पन्न होता है ऐसा कहा है। परन्तु परब्रह्म विचित्र शक्तियों से युक्त है यह कैसे जाना जाय?

कहते हैं 'सर्वोपेताच तद्दर्शनात्' पर देवता सर्व शक्तियों से युक्त है ऐसा स्वीकार करना योग्य है। क्यों? वैसा देखा जाता है। श्रुति परदेवता को सर्वशक्ति युक्त बताती है, जैसे 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।' [छांदो० ३ । १४ । ४], सर्व कर्म वाला, सर्व कामना वाला, सर्व गंध वाला, सर्व रस वाला, सर्व जगत् को व्यापने वाला; वाक् आदि इन्द्रियों से रहित और आदर रहित), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [छांदों० ८ । ७ । १] (सत्यकामना वाला सत्य संकल्प वाला) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [मुण्ड० १ । ७ । ९] (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' [बृह० ३ । ८ । ९] (इसी नाश रहित ब्रह्म की आज्ञा में; हे गार्गि, चन्द्र और सूर्य अपने अपने स्थान पर रहते हैं) इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

विकरणत्वात् (करणेन्द्रियरूप) साधन से रहित होने से **न** [परमात्मा विचित्र शक्ति वाला होते हुए भी कार्य

करने में समर्थ] नहीं है इति ऐसा चेत् [कहो [तो तदुक्तम् वह [पहिले] कह चुके हैं।

शंका :—यह तो ठीक है, परन्तु देवता करण रहित है, ऐसा शास्त्र का कथन है; 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनाः [बृह० ३।८।८] (नेत्र रहित, कर्ण रहित, वाचा रहित, मन रहित,) इस प्रकार कथन है। वह देवता सर्वशक्ति युक्त हो तो भी कार्य करने में किस प्रकार समर्थ होगा ? देवादि चेतन सर्वशक्ति युक्त होते हुए, अध्यात्मिक कार्यकरण (शरीर इन्द्रिय) से युक्त होते हैं, तब ही वे उन कार्यों के करने के लिये समर्थ होते हैं, ऐसा (शास्त्र से) जाना जाता है। तव 'नेति नेति' [बृह० ३। ९।२६] (ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है) इस प्रकार से जिसके सर्व विशेषों का निषेध किया है ऐसे पर देवता में सर्वशक्ति का योग किस प्रकार सम्भव है ?

समाधान :—इस विषय में जो कुछ कहना था सो पहले ही कह दिया है। यह अति गम्भीर ब्रह्म श्रुति से ही जाना जाता है, तर्क से नहीं। एक बात यह भी है कि जो सामर्थ्य एक में दिखाई देता है वही दूसरे में होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। अर्थात् ब्रह्म में करण विना ही क्रिया करने का सामर्थ्य है, तो वह अन्यत्र देवादि में भी होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसके सर्व विशेषों का निषेध किया गया है, ऐसा ब्रह्म सर्व शक्तियों से युक्त होना सम्भव है, यह बात भी अविद्या कल्पित रूपभेद को लेते हुए ही कही है। वैसे ही 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' [श्वेता० ३।१९] (उसके हाथ नहीं है तो भी वह ग्रहण करता है, पाद नहीं है तो भी वह तेज चलता है, नेत्र नहीं है तो भी देखता है और कान

नहीं हैं तो भी सुनता है) इस वाक्य से श्रुति करण रहित ब्रह्म की भी सर्व सामर्थ्य से युक्तता दिखाती है ॥ ३१ ॥

(११) प्रयोजनवत्त्वाधिकरण । सू० ३२-३३

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

न [चेतन ब्रह्म जगत् का कर्ता] नहीं हैं; प्रयोजनवत्त्वात् क्योंकि [प्रवृत्तियां] प्रयोजन वाली होती हैं ।

चेतन ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व में फिर शंका उठाते हैं ।

शंका:—वास्तव में देखा जाय तो चेतन परमात्मा जगत् की रचना नहीं कर सकता । प्रवृत्तियां प्रयोजन को लेकर होती हैं, इसलिये, जगत् में वुद्धि पूर्वक काम करने वाला पुरुष, अपने लिये उपयोगी न हो, ऐसी अल्प परिश्रम वाली भी प्रवृत्ति करते दिखाई नहीं देता, फिर जिसमें अधिक परिश्रम हो ऐसी प्रवृत्ति का तो कथन ही क्या ? इस लोक प्रसिद्ध वात के अनुसार श्रुति भी है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' [वृह० २ । ४ । ५] (अरे, सवके लिये सव प्रिय नहीं होते, आत्मा के लिये यानीअपने लिये सव प्रिय होते हैं) नाना प्रपंच वाले जगत् को उत्पन्न करना. यह तो वड़ी भारी प्रवृत्ति है । यदि यह भी चेतन परमात्मा अपनी तृप्ति के लिये करता है ऐसा मानें, तो परमात्मा परितृप्त हैं, ऐसा जो श्रुति में कहा है उसका विरोध होता है । और यदि प्रयोजन का अभाव मानें तो प्रयोजन न होने से प्रवृत्ति का भी अभाव होता है । जैसे कोई उन्मत्त पुरुष चेतन होते हुए भी विवेक शून्य होकर, अपना कोई प्रयोजन न रखते हुए प्रवृत्ति करता है, वैसे ही परमात्मा भी प्रवृत्ति कर सकता है, ऐसा कहोगे, तो इसमें पर-

मात्मा को श्रुति ने सर्वज्ञ कहा है, उसका विरोध होगा। इसलिये चेतन से सृष्टि नहीं बन सकती ॥ ३२ ॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तु परन्तु लोकवत् जैसे जगत् में [कोई पुरुष लीला मात्र से प्रयोजन विना ही प्रवृत्ति करता है, वैसेही परमात्मा भी] लीलाकैवल्यम् केवल लीला रूप से [प्रवृत्ति करता है]।

तु शब्द से पूर्व सूत्र के आक्षेप का समाधान इस सूत्र में है ऐसा सूचित किया है।

समाधानः—जैसे इस जगत् में जिनकी सव इच्छायें पूर्ण हुई हैं ऐसे पुरुष अन्य कोई भी बिशेष प्रजोजन न रखते हुए केवल लीलारूप से क्रीड़ा आदि प्रवृत्तियां करते हैं, जैसे श्वासप्रश्वास आदि क्रियाएं वाहर का कोई भी प्रयोजन न रखते हुए हुआ करती हैं, वैसे ही विना किसी अन्य प्रयोजन के, स्वभाव ही से, ईश्वर की लीलारूप प्रवृति होती है। न्याय से वा श्रुतिप्रमाण से ईश्वर के लिये अन्य कोई प्रयोजन वताना असंभव है और स्वभाव के लिये प्रश्न ही नहीं हो सकता (यानी इसका ऐसा स्वभाव क्यों है यह सवाल ही नहीं वनता)। जगत् की रचना कठिन प्रयासवाली होगी ऐसा हमको प्रतीत होता है, तथापि परमेश्वर के लिये तो वह केवल लीला ही है, क्योंकि, उसकी शक्ति अपरिमित है। इस लोक में लीला के लिये भी सूक्ष्म प्रयोजन दिखाई देता है, परन्तु परमात्मा में तो ऐसा सूक्ष्म प्रयोजन भी संभव नहीं है; क्योंकि श्रुति कहती है कि ईश्वर आप्तकाम है। वैसे ही ईश्वर में अप्रवृत्ति अथवा उन्मत के समान प्रवृत्ति भी संभव नहीं है; क्योंकि, श्रुति उसके सृष्टि उत्पन्न करने का और सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती है। यहां

इस बात को याद रखना चाहिये कि यह सृष्टिविषयक श्रुति परमार्थ के विषय में नहीं लगती, क्योंकि वह अविद्या कल्पित नाम रूप के साथ सम्बन्ध रखती है और ब्रह्मात्म भाव यानी यह जगत् ब्रह्म रूप ही है यह प्रतिपादन करने के लिये ही है ॥ ३३ ॥

१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण। सू० ३४। ३६

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये [ईश्वर में] विषमता और निर्दयता **न** नहीं है **सापेक्षत्वात्** [क्योंकि जीवों के धर्म और अधर्म की] अपेक्षा सहित [वह सृष्टि रचता है] **तथाहि** ऐसे ही [श्रुति] **दर्शयति** दिखलाती है।

ईश्वर जगत्की उत्पत्तिका हेतु है इस पक्षकी जैसे गडा हुआ खूंटा हिला कर देखते हैं वैसे, अधिक दृढत करने के लिये इसमें पुनः शंका उठाते हैं।

शंका :—ईश्वर जगत् का कारण हो ऐसा नहीं मालूम होता, क्योंकि ऐसा मानें तो ईश्वर में विषमता का और निर्दयता का दोष लगने का प्रसंग प्राप्त होता है। वह आदिदेव किसी २ को अत्यन्त सुखी करता है, पशु आदि किसी २ को अत्यन्त दुःखी करता है और मनुष्य आदि किसी २ को मध्यम भोग देता है। इस प्रकार विषम सृष्टि की रचना करने वाले ईश्वर में एक पामर मनुष्य के समान राग-द्वेषकी प्राप्ति का प्रसंग आता है और श्रुति और स्मृति में ईश्वर शुद्ध स्वच्छ स्वभाव है ऐसा, निश्चित किया है, उसका लोप हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। वैसे ही, उसने प्राणियों को दुःख से युक्त किया है और वह उनका संहार भी करता है इसलिये दुष्ट लोग

भी जिसकी निन्दा करते हैं, ऐसा नैर्घृण्य यानी क्रूरता उसमें आ जायगी। इसलिये निर्दयता और विषमता इन दोषों के लगने का प्रसंग प्राप्त होने से ईश्वर जगत् का कारण नहीं है, ऐसा मालूम होता है।

समाधान:—ईश्वर में विषमता और निर्दयता के दोष नहीं लगते, क्योंकि ये दोष सापेक्ष हैं। इसलिये, यदि निरपेक्ष ईश्वर इस प्रकार की विषम सृष्टि की रचना करता तो उसमें विषमता और निर्दयता का दोष लग सकता था, परन्तु ईश्वर का स्रष्टा-पन निरपेक्ष नहीं है। यदि साक्षेप ईश्वर ही सृष्टि की रचना करता है, तो वह किस बात की अपेक्षा रखता है? हम कहते हैं, धर्माधर्म की। उत्पन्न होने वाले प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि विषम हो तो इसमें ईश्वर का कोई अपराध नहीं है। ईश्वर को पर्जन्य के समान समझो। जैसे धान, जौ आदि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है, धान जो आदि वैषम्य के तो उनके बीजों में रहे हुए असाधारण सामर्थ्य ही कारण होते हैं. वैसे ही ईश्वर मनुष्य आदि की सृष्टि का साधारण कारण है। देव, मनुष्य आदि वैषम्य का कारण तो उन २ जीवों में रहे हुए असाधारण कर्म ही हैं। इस प्रकार के सापेक्षत्व के कारण ईश्वर में विषमता और निर्दयता के दोष नहीं लगते। परन्तु यह कैसे जानें कि सापेक्ष ईश्वर ही नीच, मध्यम और उत्तम संसार को सृजन करता है? श्रुति का ऐसा कथन है:—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' [कौ० ब्रा० ३। ८] (जिसको इस लोक से ऊँचे लोक में ले जाना चाहता है, उससे अच्छा कर्म वही कराता है और जिसको नीचे लाना चाहता है, उससे बुरे कर्म वही कराता है), 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' [बृह० ३। २। १३]

(पुण्य कर्म से पुण्यवान और पाप कर्म से पापी बनता है)। स्मृति भी प्राणियों के कर्म के अनुसार ही ईश्वर अनुग्रह और शासन करता है, ऐसा प्रतिपादन करती है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' [भग० गी० ४। ११] (जो जिस भाव से मुझे भजता है, मैं वैसा ही उसे फल देता हूँ) ऐसी स्मृति है ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

अविभागात् (सृष्टि से पूर्व परमात्मा में भिन्नता न होने से कर्म कर्म न नहीं है, इति ऐसा (कहो) चेत् तो अनादित्वात् (सृष्टि के) अनादि होने से न (वह ठीक) नहीं है।

शंका :—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छांदो० ६। २ १] (हे सोम्य, पहिले यह सत्स्वरूप ही था, एक ही था और अद्वितीय था), इस प्रकार सृष्टि के पूर्व भेद के अभाव का श्रुति ने निश्चय किया है, इसलिये उस समय उसमें कर्म नहीं है, कि जिसकी अपेक्षा से विषम सृष्टि की रचना हो। सृष्टि के अनंतर काल में ही शरीरादि विभाग की अपेक्षा से कर्म होते हैं और कर्म की अपेक्षा से शरीरादि विभाग होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है। इसलिये विभाग के पश्चात् कर्म की अपेक्षा से विषमता की सृष्टि करने वाला ईश्वर बन सकता है, परन्तु विभाग के पहिले वैचित्र्य के हेतु रूप कर्म के अभाव से आद्य सृष्टि वैषम्य रहित ही होनी चाहिये।

समाधान :—संसार अनादि होने से ये दोष नहीं प्राप्त होते। यदि संसार आदिवाला होता तो यह दोष घट सकता था। परन्तु संसार अनादि होने से और बीजांकुर के समान यानी जैसे बीज अंकुर का हेतु होता है और अंकुर बीज का, इसी

प्रकार कर्म संसार का हेतु होने से सृष्टि की विषमता को बाधा नहीं पहुंचती ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

उपपद्यते [सृष्टि का अनादित्व] युक्ति द्वारा सिद्ध होता है **च** और **उपलभ्यते च** [सृष्टि के अनादित्व का श्रुति में प्रमाण] भी मिलता है।

संसार का अनादित्व युक्ति से सिद्ध होता है। यदि संसार आदि वाला हो तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होने से मुक्त पुरुषों का भी फिर से जन्म होने का प्रसंग प्राप्त होगा और सुख दुःखादि विषमता के लिये कुछ भी निमित्त न होंने से न किये हुए कर्म का फल प्राप्त होने का प्रसंग आवेगा। कह चुके हैं कि ईश्वर विषमता का हेतु नहीं है, वैसे ही, केवल अविद्या भी एक रूप होने से वैषम्य का हेतु नहीं बन सकती। परन्तु राग आदि क्लेश वासनाओं से युक्त कर्मों को लेते हुए अविद्या विषमता का हेतु हो सकती है। विना कर्म के शरीर नहीं वन सकता, न बिना शरीर के कर्म बन सकते हैं, इस प्रकार अन्योन्याश्रय का प्रसंग प्राप्त है, परन्तु संसार को अनादि मानने से जैसे वीज से अंकुर और अंकुर से वीज होने का प्रवाह अनादि है, वैसे ही इसकी उत्पत्ति होने से दोष नहीं प्राप्त होता। संसार अनादि है, ऐसा श्रुति और स्मृति में प्रमाण मिलता है। श्रुति में 'अनेन जीवेनात्मा' [छान्दो० ६।३।२] (जीव रूप आत्मा से) इस प्रकार शरीरात्मा को प्राणधारण निमित्त जीव शब्द से संबोधित किया गया है, इस प्रकार संसार अनादि है यही श्रुति बताती है। यदि आदि वाला मानें तो पहले जिसने प्राणधारण नहीं किया उसका सर्ग के आदि में किस प्रकार प्राणधारण के

निमित्त जीव शब्द से कथन हो सकता है ? और वह पीछे प्राणधारण करेगा ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अनागत सम्बन्ध से अतीत सम्बन्ध सिद्ध हुआ होने से बलवान होता है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' [ऋ० सं० १०।१९०।३] (सूर्य और चन्द्रमा को ब्रह्मा ने पहिले के अनुसार उत्पन्न किया) यह मंत्र पूर्व कल्प के सद्भाव को दिखलाता है। स्मृति में भी संसार अनादि है ऐसा प्रमाण मिलता है, जैसे न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' [गीता० १५।३] (यहां इस का ऐसा रूप पाया नहीं जाता न उसके अन्त, आदि और स्थिति का पता चलता है)। पुराणों में भी अतीत और अनागत कल्पों का कुछ भी परिमाण नहीं है अर्थात् संसार अनादि है ऐसा सिद्ध किया है ॥ ३६ ॥

१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

च और **सर्वधर्मोपपत्तेः** सर्व [कारण] धर्मों की ब्रह्म में संगति होने से [वैदिक सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है]।

चेतन ब्रह्म, जगत् के कारण रूप से और प्रकृति रूप से है, इस प्रकार वेदार्थ के निश्चय में प्रतिपक्षियों ने, ब्रह्म चेतन है वह जड़ जगत् का कारण कैसे होगा, इस प्रकार विरुद्धत्व आदि दोष लगाये, उनका आचार्य ने परिहार किया। अब विरोधी पक्ष का परिहार करने के लिये नया प्रकरण प्रारम्भ करने की

इच्छा से अपने पक्ष का प्रतिपादन करने वाले इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि ब्रह्म का कारण रूप से ग्रहण करने से 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' (सर्वज्ञ, सर्वशक्ति महामाया से युक्त ब्रह्म है) इस प्रकार सर्व कारण धर्मों की उसमें सिद्धि होती है, इसलिये इस उपनिषद् के दर्शन पर अधिक शंका न करना चाहिये ॥ ३७ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद के दूसरे

अध्याय का प्रथम पाद समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद।

(१) रचनानुपपत्त्यधिकरण। सू० १–१०

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

च और रचनानुपपत्तेः [संसार की] रचना की उपपत्ति न लगने से अनुमानम् [अचेतन प्रधान संसार का कारण है] ऐसा अनुमान न हो नहीं सकता।

यद्यपि इस शास्त्र की प्रवृत्ति वेदान्त वाक्यों के मुख्य भाव का निरूपण करने के लिये ही है, तर्क शास्त्र के समान केवल युक्ति द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन या निषेध करने के लिये इस शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है, तथापि वेदान्त वाक्यों का व्याख्यान करने वालों को उनके सत्यज्ञान के विरोधी सांख्यादि मतों का निरसन करना आवश्यक है, और इसी हेतु से इस पाद को लिखा गया है। वेदान्त वाक्यों के ठीक २ निर्णय से ही सत्य-ज्ञान की प्राप्ति होने से उनके अर्थ का निर्णय करके प्रथम अपने पक्ष की स्थापना की गई; क्योंकि अन्य मत का विरोध करने के पूर्व अपने पक्ष की स्थापना करना आवश्यक है।

शंका :—मुमुक्षुओं के मोक्ष साधनार्थ सत्यज्ञान का निरूपण करने के लिये ही अपने पक्ष की स्थापना करना युक्त है। अन्य मत का द्वेष अथवा उनके पक्ष का निराकरण करने से क्या लाभ ?

समाधान :—यह ठीक है, परन्तु बड़े २ लोगों ने सांख्यादि महान् दर्शनों को स्वीकार किया है। यह सत्यज्ञान के प्रतिपादन के निमित्त ही प्रवृत्त हुए हैं, ऐसा मान कर सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई मन्दबुद्धि वाले इनको ग्राह्य मान लें, यह सम्भव

है। वैसे ही, इनकी युक्तियां भी प्रवल होना सम्भव होने से और उनके कहने वाले सर्वज्ञ माने जाने से उनमें इनकी श्रद्धा हो जाती है। इसीलिये इनकी असारता सिद्ध करने के लिये यहां पर प्रयत्न किया जाता है।

शंका :—ईक्षतेर्नाशब्दम् [ब्र० सू० १।१।५] 'कामाच्च-नानुमानापेक्षा' [ब्र० सू० १।१।१८] 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' [ब्र० सू० १।४।२८] इन सूत्रों से पहिले भी सांख्यादि मतों का निराकरण कर दिया गया है, अतः फिर से वैसा करने से लाभ क्या ?

समाधान :—सांख्यादि मत वाले अपने २ पक्ष की स्थापना करने के लिये वेदान्त वाक्यों के उदाहरण देते हैं और उनका अपने मत के अनुकूल अर्थ लगाते हैं। उनका यह व्याख्यान भ्रामक है, यथार्थ नहीं है, इतना ही पहिले प्रतिपादन किया गया है। इस पाद से वेदान्त वाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्रता से युक्तियों द्वारा उन मतों का निराकरण किया है, इतना यहाँ विशेष है।

सांख्यों का यह मत है कि घड़ा, कूजा आदि पदार्थ मृत्तिका से युक्त होने से मृत्तिका उनका सामान्य कारण होता है, ऐसा इस जगत् में देखा जाता है। वैसे ही, बाह्य तथा अध्यात्मिक विकार सुख, दुःख, मोह से युक्त होने से उनका सामान्य कारण भी सुख, दुःख, मोहात्मक ही होना चाहिये। ऐसा सुख, दुःख मोहात्मक सामान्य कारण तीन गुणों वाला प्रधान है। वह मृत्तिका के समान अचेतन है और वही चेतन पुरुष के भोग के लिये स्वभाव ही से नाना प्रकार के विकार धारण करके प्रवृत्त

होता है। परिमाण, समन्वय आदि से भी उस प्रधान का अनुमान होता है।

सांख्यों के इस युक्तिवाद को हमारा यह उत्तर है कि यदि दृष्टांतों के वल पर ही वे प्रधान का प्रतिपादन करते हों, तो इस लोक में चेतन की सहायता के बिना कोई भी अचेतन वस्तु स्वतन्त्रता से किसी पुरुष के भोग के लिये कोई विकार उत्पन्न करती हो, ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता। वास्तव में घर, महल, शयन, आसन, विहार आदि सवको वुद्धिमान शिल्पी लोग सुख साधन के लिये और दुःख निवारण के लिये समयानुसार वनाते हैं, ऐसा ही देखने में आता है। वैसे ही नाना कर्मों के भिन्न २ फल भोगने के लिये योग्य ऐसा पृथ्वी आदि वाह्य जगत् तथा नाना जातिवाला, नियमित अवयव वाला, नाना कर्मों के फल के अनुभव करने का अधिष्ठान रूप शरीरादि अध्यात्मिक जगत् देखने में आता है। वड़े २ बुद्धिमान शिल्पी इसकी मन से भी आलोचना करने में समर्थ नहीं होते, तो जड़ प्रधान किस प्रकार इसकी रचना करने में समर्थ होगा? मिट्टी, पत्थर आदि जड़ पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते यह हम देखते हैं। चेतन कुम्हार के अधिष्ठान से मिट्टी आदि की विशिष्ट रचना दिखाई देती हैं, इससे प्रधान को भी चेतन से अधिष्ठित होने का प्रसंग प्राप्त होता है। मृत्तिका आदि उपादान में रहे हुए धर्म द्वारा ही मूल कारण का निश्चय करना चाहिये, बाहर के कुम्हार आदि में रहे हुये धर्म से नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा करने में किसी का विरोध नहीं आता इतना ही नहीं चेतन को कारणता प्राप्त होने से श्रुति भी अनुकूल आती है। अतः रचना की उपपत्ति अन्यथा नहीं लगती, इसलिये अचेतन ही जगत् का कारण है

ऐसा अनुमान करना योग्य नहीं है। 'च' पद से अन्वय आदि की उपपत्ति न लगने से उनकी भी असिद्धि सूचित की है। बाह्य विषय और अध्यात्मिक शरीरादि, ये सुख, दुःख और मोह से युक्त नहीं देखने में आते। सुख की प्रतीति अंतःकरण में तद्रूपतासे होती है और शब्दादि की प्रतीति भिन्नता से होती है। शब्दादि के सामान्य होते हुए भी भावना की विशेषता से उसमें सुख दुखः की प्राप्ति होती है। वैसे ही, परिणाम आदि से युक्त मूलांकुरादि संसर्ग (संयोग) पूर्वक हैं, ऐसा देखकर बाह्य और अध्यात्मिक विकार भी परिणाम आदि से युक्त होने से संसर्गपूर्वक हैं ऐसा यदि अनुमान किया जाय, तो सत, रज तम इन तीन गुणों के भी, इनमें परिणाम आदि समान होने से, संसर्ग पूर्वक मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। बुद्धि पूर्वक निर्माण किये हुए शयन, आसन आदि का कार्य कारण भाव देखने में आता है, इसलिये कार्य कारण भाव से बाह्य और अध्यात्मिक विकारों का कारण अचेतन है, ऐसी कल्पना नहीं हो सकती ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

च और प्रवृत्तेः [सृष्टि के लिये] प्रवृत्ति की [उपपत्ति न लगने से अचेतन प्रधान को उसका कारण मानना ठीक नहीं है]।

रचना की बात छोड़ दो रचना की सिद्धि के लिये जो प्रवृत्ति अर्थात् तीनों गुणों का साम्यावस्था से पतन या अंगांगी भाव को प्राप्त होना तथा विशिष्ट कार्य की ओर उनकी प्रवृत्ति होना, यह भी अचेतन और स्वतन्त्र प्रधान में नहीं बन सकता; क्योंकि मृतिका आदि तथा रथ आदि में वह देखने में नहीं आता। वास्तव में, मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन पदार्थ

चेतन कुम्हार आदि अथवा अश्व आदि के अधिष्ठान के विना विशिष्ट कार्य करते हुए देखने में नहीं आते, और दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। प्रवृत्ति की उपपत्ति अन्य प्रकार से नहीं लगती, इसलिये अचेतन ही जगत् का कारण है ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। केवल चेतन की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती, यह ठीक है; चेतन से युक्त रथादि की प्रवृत्ति देखने में आती है, परन्तु अचेतन से युक्त चेतन की प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। फिर यहां पर युक्त क्या है? जिसमें प्रवृत्ति देखने में आती है उसकी प्रवृत्ति मानना ठीक है या जिसके संयुक्त होने से प्रवृत्ति होती है उसकी प्रवृत्ति कहना ठीक है?

पूर्वपक्ष :—जिसमें प्रवृत्ति दिखाई देती है उसी की वह है, ऐसा कहना युक्त है; क्योंकि यहां प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष है। प्रवृत्ति का आश्रय रूप केवल चेतन रथादि के समान प्रत्यक्ष नहीं है, इतना ही नहीं, परन्तु प्रवृत्ति के आश्रय रूप देह आदि से संयुक्त होने ही से चेतन की सत्ता की सिद्धि होती है। केवल अचेतन ऐसे रथादि से जीते देह में ही विलक्षणता देखने में आती है, अर्थात् जब देह प्रत्यक्ष होता है तब ही चैतन्य दिखाई देता है, देह नहीं होता तब चैतन्य भी दिखाई नहीं देता; इसलिये देह ही में चैतन्य होता है ऐसा लोकायतिक मानते हैं और इसलिये अचेतन ही की प्रवृत्ति होती है।

समाधान :—जो अचेतन में प्रवृत्ति दीखती है वह उसकी नहीं है, ऐसा हम नहीं कहते। वह भले उसी की हो, केवल वह चेतन से ही होती है यही हम कहते हैं; क्योंकि चेतन के साथही उसकी प्रवृत्ति होती है, चेतन के न होने से नहीं होती। जैसे, काष्ठ आदि में रही हुई जलाने की या प्रकाश देने की शक्ति

केवल अग्नि में देखने में नहीं आती, तो भी वह अग्नि ही से होती है; क्योंकि अग्नि के संयोग ही से वह क्रिया उसमें दिखाई देती है, अग्नि न होने से नहीं दिखाई देती। लोकायतिकों के मत में भी चेतन देह को ही अचेतन रथ आदि का प्रवर्तक माना है, इसलिये चेतन प्रवर्तक है इसमें उनका भी विरोध नहीं है। तुम्हरा देहादि से युक्त आत्मा भी उसके केवल विज्ञान स्वरूप से भिन्न प्रवृत्ति नहीं करता इसलिये उसका भी प्रवर्तकत्व उपपन्न नहीं होता, ऐसा कहोगे तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि लोह चुंबक या रूपादि विषयों के समान प्रवृत्तिरहित पदार्थों में भी प्रवर्तकत्व देखने में आता है। लोह चुंबक स्वयं प्रवृत्तिरहित होता है तो भी वह लोहे का प्रवर्तक होता है। अथवा, रूपादि स्वयं प्रवृत्ति रहित हैं, तो भी वे नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होते हुए भी ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सर्वज्ञ होने से सबको प्रवृत्त करे यह युक्त ही है। यदि कहो कि ईश्वर एक है, और अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति करने का विषय ही नहीं रहता; इसलिये उसमें प्रवर्तकत्व घटता नहीं, तो वैसा नहीं है। अविद्या के खड़े किये हुए नाम रूपों में उसी माया के आवेश से प्रवृत्ति उपपन्न हो सकती है, ऐसा हम बार २ कह चुके हैं। इसलिये सर्वज्ञ ईश्वर को कारण मानने से प्रवृत्ति की उपपत्ति लग सकती है, अचेतन को कारण मानने से नहीं ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

पयोऽम्बुवत् दूध और जल के समान [अचेतन प्रधान भी स्वभाव से प्रवृत्त होता है], **चेत्** [ऐसा यदि कहो,] तो **तत्र**

वहां [दूध और जल में] अपि भी [चेतन ही से प्रवृत्ति होती है ।

पूर्वपक्ष:—जैसे अचेतन दूध स्वभाव ही से बछड़े के पोषण में प्रवृत्त होता है और जैसे अचेतन जल स्वभाव ही से लोगों के उपकार के लिये वहता है, वैसे ही प्रधान अचेतन होते हुए भी स्वभाव ही से पुरुष के सुख के लिये प्रवृत्त हो यह वन सकता है।

समाधान:—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दूध और जल में चेतन सहित ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं। दोनों (सांख्य और लोकायतिक) वादियों के मत में भी केवल अचेतन रथ में प्रवृत्ति नहीं मानी जाती। 'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोऽन्तरो यमयति।' [बृह० ३ । ७ । ४] (जो जल में रह कर जल को भीतर से नियम में रखता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि, प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' [बृह० ३ । ८ । ९] (हे गार्गि, उस अक्षर के शासन में पूर्व दिशा की ओर अन्य नदियाँ वहती हैं ।) इस प्रकार समस्त जगत् की चेष्टा का ईश्वर अधिष्ठान है, ऐसा शास्त्र कहते हैं। इससे दूध जल का दृष्टान्त भी साध्य की सिद्धि के पक्ष में प्राप्त होने से विरोध को स्थान नहीं है। और यह भी है कि चेतन धेनु की अपनी इच्छा से दूध की प्रवृत्ति होती है और चेतन बछड़ा जब चूसता है तब दूध उसको प्राप्त होता है। जल की प्रवृत्ति के लिये भी किसी की अपेक्षा न हो ऐसा नहीं होता। उसके वहने के लिये नीची भूमि की आवश्यकता होती है और चेतन की अपेक्षा तो सर्वत्र ही बताई गई है। 'उपसंहार दर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि।' [ब्र० सू० २।१।२४] इस सूत्र में लौकिक दृष्टि से किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए कार्य स्वतन्त्रता से हो सकता है ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन

किया है। परन्तु शास्त्र दृष्टि से तो सर्वत्र ईश्वर की अपेक्षा प्राप्त होती है उसको कोई टाल नहीं सकता ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेः [प्रधान से] भिन्न की स्थिति न होने से [प्रधान अनपेक्ष है] च और अनपेक्षत्वात् अपेक्षा न रखने के कारण [प्रधान कभी परिणाम को प्राप्त होगा और कभी नहीं भी प्राप्त होगा]।

सांख्यों के मत में तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रधान कहते हैं। इससे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक या निवर्तक अन्य कोई नहीं होता। पुरुष तो उदासीन रहता है वह न प्रवर्तक है न निवर्तक, इसलिये प्रधान प्रेरक की अपेक्षा नहीं रखता। प्रधान को प्रेरक की अपेक्षा न होने से वह कभी २ महदादि आकार से परिणाम को प्राप्त होता है, कभी नहीं प्राप्त होता ऐसा कहना अयुक्त है। परन्तु, ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और महामाया वाला होने से उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कुछ भी विरोध नहीं होता ॥ ४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

च और तृणादिवत् तृणादि के समान [प्रधान का स्वाभाविक परिणाम] न नहीं वन सकता, अन्यत्राभावात् क्योंकि अन्यत्र [तृणादि के परिणाम का] अभाव है।

घास, पत्ते जल आदि पदार्थ अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए दूध आदि के आकार को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार प्रधान भी स्वभाव ही से महद् आदि के आकार को प्राप्त होगा

ऐसा कहो, तो प्रश्न होता है कि घास आदि अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए दूध आदि के आकार को प्राप्त होते हैं यह कैसे जान लिया ?

पूर्व पक्षः—ऐसा कोई निमित्त मिलता नहीं यदि मिलता तो उसके द्वारा घास आदि को लेकर अपनी अपनी इच्छा के अनुसार दूध आदि हम प्राप्त कर लेते परन्तु इस प्रकार हम कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। इससे विदित होता है कि घास आदि का परिणाम स्वाभाविक होता है और इसी प्रकार प्रधान का परिणाम भी स्वाभाविक होता है।

समाधानः—तृणादि का स्वाभाविक परिणाम जब स्वीकार किया जाय तब उसके समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम मानना पड़ेगा। परन्तु, हम उसी को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि, घास आदि के परिणाम के लिये अन्य निमित्त प्राप्त है और इस निमित्त को छोड़ अन्यत्र वह परिणाम कहीं भी देखने में नहीं आता। केवल गाय के खाये हुए घास आदि का ही दूध होता है, तृणादि नष्ट हो जाय या उसको बैल आदि खा जाय तो उसका दूध नहीं बनता।

यदि किसी निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए घास आदि से दूध बन सकता तो गाय के शरीर से सम्बन्ध न होते हुए भी उसका दूध बन जाता। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार दूध को बना नहीं सकते, इतने ही से वह निमित्त रहित नहीं कहा जा सकता। बहुत से कार्य मनुष्य कर लेता है, बहुत से दैव सम्पादन करता है। मनुष्य भी योग्य उपाय द्वारा तृणादि को ग्रहण करता हुआ दूध प्राप्त करने में समर्थ होता है क्योंकि, अधिक दूधकी इच्छा रखने वाला अपनी गायको अधिक घास खिलाता है और ऐसा

करने से अधिक दूध को प्राप्त करता है। इसलिये तृणादि के समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं बन सकता ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

अभ्युपगमे [प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति के स्वीकार करने में अपि भी अर्थाभावात् पुरुषार्थ के अभाव से [दोष की प्राप्ति होती है] ।

प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं होती यह सिद्ध हुआ। परन्तु सांख्यों की श्रद्धा के लिये एक वार प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति मान ली जाय, तो भी उसमें दोष आ जाता है। वह दोष है पुरुषार्थ का अभाव होना। यदि ऐसा कहें कि प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, वह और किसी की अपेक्षा नहीं रखती, तो स्वाभाविक प्रवृत्ति में प्रवृत्ति के लिये अन्य सहकारी निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। वैसे ही. उसमें भी किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं रहेगी। और ऐसा मानें तो 'प्रधान पुरुष के अर्थं साधन के लिये प्रवृत्ति करता है', उनकी इस प्रतिज्ञा का ही भंग हो जायगा। यदि कहा जाय कि वह केवल अन्य निमित्त ही की अपेक्षा नहीं रखता, न कि प्रयोजन की भी, तो इसमें भी प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन का निर्णय करना चाहिये कि उसका प्रयोजन भोग है, या मोक्ष है, वा भोग और मोक्ष दोनों है। यदि भोग का प्रयोजन कहो, तो जिसमें सुख दुख रह नहीं सकते ऐसे पुरुष को भोग की प्राप्ति कैसे होगी? और इस पक्ष में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा। यदि मोक्ष उसका प्रयोजन है, ऐसा कहोगे तो प्रवृत्ति के पहिले ही मोक्ष की सिद्धि हो जाने से प्रवृत्ति ही निरर्थक हो जायगी और

शब्दादि विषयों के अभाव से भोग का अभाव हो जायगा। भोग और मोक्ष दोनों का प्रयोजन मानें तो प्रधान के भोग अनंत होने से मोक्ष का प्रसंग ही नहीं आवेगा। प्रधान की भोग दूर करने की औत्सुक्यभावना दूर करने के लिये प्रवृत्ति होती है ऐसा कहो, तो जड़ प्रधान में ऐसी कामना का रहना असंभव है और निर्मल निष्कल ऐसे पुरुष में भी कामना का होना असंभव है। पुरुष की दृक्शक्ति और प्रधान की सृष्टि शक्ति इनकी सार्थकता के लिये यदि प्रवृत्ति मान ली जाय, तो जैसी पुरुष की दृक्शक्ति (दृष्टापन) नित्य है वैसी प्रधान की सृष्टिशक्ति भी नित्य होने से मोक्ष का अभाव हो जायगा। इसलिये पुरुष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना अयुक्त है ॥ ६ ॥

पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि ॥ ७ ॥

पुरुषाश्मवत् [अंधे और पंगु] पुरुष के समान अथवा [लोहचुम्बक] पत्थर के समान [पुरुष प्रधान को प्रवृत्त करता है यदि] इति ऐसा चेत् कहो तथापि तो भी [दोष की निवृत्ति नहीं होती]।

जैसे कोई दर्शन शक्ति वाला पंगु पुरुष चलने में समर्थ ऐसे अन्धे पुरुष के सहारे से प्रवृत्ति कर सकता है; वा जैसे चुम्बक का पत्थर स्वयं प्रवृत्ति रहित होते हुए भी लोहे को चलाता है, वैसे ही; पुरुष प्रधान को प्रवृत्त करता है, ऐसा पक्ष ऊपर के दृष्टान्त के अनुभव से पुनः उपस्थित किया जा सकता है; परन्तु इसमें भी दोष की निवृत्ति नहीं होती। इसमें एक तो यह दोष प्राप्त होता है कि स्वीकार की हुई बातों का इससे विरोध होता है। प्रधान को स्वतन्त्र प्रवृत्ति का स्वीकार किया गया है और पुरुष के

प्रवर्तक होने का स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरे, जब पुरुष उदासीन है तब वह किस प्रकार प्रधान को प्रवृत्त करेगा ? जैसे पंगु पुरुष अन्धे को वचन से प्रेरित करता है वैसे पुरुष का प्रवर्तक व्यापार संभव ही नहीं है; क्योंकि वह निष्क्रिय है। वैसे ही, लोहचुम्बक के समान पास रह कर भी वह उस को प्रवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके नित्य समीप होने से प्रधान की प्रवृत्ति भी नित्य हो जायगी। लोहचुम्बक का सामीप्य अनित्य है। अनित्य संनिधिवाले लोहचुम्बक के व्यापार से लोहे को सांनिध्य प्राप्त होता है और उसको भली भांति रखने की भी आवश्यकता होती है, इसलिये पुरुष के लिये लोहचुम्बक समान दृष्टान्त नहीं है। वैसे ही प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन; इन दोनों को जोड़ने वाला अन्य कोई पदार्थ न होने से इनका संबन्ध ही नहीं होगा। योग्यता को संबन्ध का कारण मानें तो योग्यता नित्य होने से अनिर्मोक्ष का प्रसंग प्राप्त होगा; और पहिले के समान यहां भी निष्प्रयोजनता का दोष आता है, यह ध्यान रखना चाहिये। परन्तु परमात्मा की विशेषता यह है कि उसके स्वरूप में तो उदासीनता रही हुई है और प्रवर्तकत्व माया में व्यवस्थित है ॥ ७ ॥

अंगित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

च और **अंगित्वानुपपत्तेः** अंगांगी भाव की सिद्धि न होने से [महत् आदि की उत्पत्ति असम्भव है]।

प्रधान की प्रवृत्ति इसलिये असंभव है कि सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण; ये परस्पर अपने विशेषता के भाव को छोड़ कर, केवल अपने स्वरूप से रहते हैं, इस साम्यावस्था को प्रधान कहते हैं। इस अवस्था में परस्पर अपेक्षा रहित गुणों

के स्वरूप का नाश होने के भय से उनका अंगांगी भाव बन नहीं सकता; और उनमें क्षोभ उत्पन्न करने वाला कोई पदार्थ बाहर न होने से गुणों की विषमता से उत्पन्न होने वाले महत् आदि की उत्पत्ति असम्भव हैं ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

च और अन्यथानुमितौ अन्यथा अनुमान में ज्ञशक्तिवियोगात् [प्रधान में] ज्ञानशक्ति न होने से संसार रचना का असंभव होना आदि पूर्व कहे हुए दोष निवृत्त नहीं हो सकते]।

पूर्वपक्ष :—हम गुणों को सापेक्ष नहीं मानते, उनको निरपेक्ष मानते हैं; इसमें पूर्ववत् दोषों की प्राप्ति नहीं होगी हम परस्पर अपेक्षा न रखने वाले और स्थिर स्वभाव वाले गुणों को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। गुणों का स्वभाव उनके कार्य से जाना जा सकता है। जैसा जैसा कार्य उत्पन्न होगा वैसा वैसा उन गुणों का स्वभाव कहा जायगा और गुणों की वृत्ति चंचल है यह सब जानते ही हैं। इसलिये साम्यावस्था में भी गुण विषमता को प्राप्त होने के योग्य ही रहते हैं।

समाधानः—ऐसा हो तो भी प्रधान के ज्ञानशक्ति रहित होने से संसार की रचना न होना आदि पूर्व के दोष जैसे के तैसे ही रहेंगे। यदि कहो कि हम प्रधान में ज्ञान शक्ति भी मान लेंगे, तो तुम्हारा पक्ष ही छुट जायगा; क्योंकि इससे एक ही चेतन नानाविध प्रपंच का उपादान है, इस ब्रह्मवाद का प्रसंग प्राप्त होगा। साम्यावस्था में गुण विषमता को प्राप्त होने योग्य हो तो वे विना किसी निमित्त के ही विषमता को कभी प्राप्त नहीं होंगे। यदि वे विना किसी निमित्त के ही विषमता को प्राप्त

होंगे ऐसा माना जाय, तो निमित्त का अभाव सर्वदा समान होने से सर्वदा ही वैषम्य को प्राप्त होते रहेंगे, यह पूर्व कथित दोष भी प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

च और **विप्रतिषेधात्** विरोधयुक्त होने से [सांख्यमत] **असमञ्जसम्** अयोग्य है।

सांख्यों का मत परस्पर विरूद्ध है। कभी वे सात इन्द्रियां गिनाते हैं कभी ग्यारह; वैसे ही महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति का उपदेश करते हैं कभी अहंकार से; और कभी अन्तःकरण तीन बताते हैं (मन, बुद्धि और अहंकार) और कभी एक (बुद्धि)। ईश्वर को जगत् का कारण बताने वाली श्रुति से और उसी का अनुकरण करने वाली स्मृति से इनका विरोध तो प्रसिद्ध ही है। इसलिये भी सांख्यों का मत अयुक्त है।

पूर्वपक्ष :- वेदान्त दर्शन भी अयोग्य है, क्योंकि उसमें भी तप्य अर्थात् दुःख का भोग करने वाला जीव और तापक अर्थात् जीव को दुःख देने वाला संसार—इनमें भेद का स्वीकार नहीं किया है। वेदान्त मत में एक ही ब्रह्म सब का आत्मा है और सब प्रपंच का कारण है। इसके अनुसार तप्य और तापकरूप जो जीव और संसार, वे एक ही आत्मा के विशेष होते हैं, इसलिये इनमें जाति का भेद नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जीव और संसार यदि एक ही आत्मा के विशेष हैं, तो इस अवस्था में आत्मा की जीव भाव से और संसार भाव से निवृत्ति हो नहीं सकती। इसलिये संसारताप की निवृत्ति के लिये सम्यक् ज्ञान का उपदेश देने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे; क्योंकि उष्णता

और प्रकाश जो दीपक के धर्म हैं, उनसे वह दीपक कभी भी अलग नहीं हो सकता। जल के तरंग, लहरें, झाग आदि के उदाहरणों में भी एक ही जल के तरंग आदि विशेष कभी प्रगट तो कभी विलीन रहने के कारण नित्य ही हैं, इसलिये उनकी भी जल से पृथक्ता नहीं होती। परन्तु जीव और संसार की भिन्नता जगत् में प्रसिद्ध है। वैसे ही अर्थ और अर्थी जगत् में भिन्न ही देखे जाते हैं। यदि अर्थी का अपने से भिन्न कोई अर्थ न हो तो उस अर्थी का जिस विषय में अर्थित्व है वह विषय उसको नित्य सिद्ध ही होने से उस विषय में उसका अर्थित्व वन नहीं सकता। प्रकाश वाले दीपक को प्रकाश रूपी अर्थ नित्य सिद्ध ही है, इसलिये, प्रकाश वाला दीपक प्रकाश का अर्थी नहीं बन सकता, क्योंकि अप्राप्त अर्थ के लिये ही अर्थी को अर्थित्व प्राप्त होता है। वैसे ही, जब अर्थी को अर्थित्व नहीं होता तब अर्थ को अर्थत्व भी नहीं होता और यदि हो तो वह स्वार्थत्व ही होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि अर्थ और अर्थी यह दोनों शब्द एक एक से सम्बन्ध रखते हैं और दो सम्बन्ध वालों का सम्बन्ध होता है एक का नहीं, इसलिये अर्थ और अर्थी दोनों भिन्न ही होते हैं। वैसे ही, अनर्थ अनर्थी भी भिन्न होते हैं। अर्थी के अनुकूल विषय को अर्थ कहते हैं और प्रतिकूल को अनर्थ। उनमें से एक का दोनों के साथ सम्बन्ध होता है (अर्थ में भी अनर्थ और अनर्थ में भी अर्थ होता है); ऐसा होते हुए भी अर्थ का मान अल्प और अनर्थ का अधिक होने से अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थ रूप ही हैं, इसीलिये अर्थ को तापक कहते हैं। परन्तु तप्य पुरुष तो एक ही है और वह क्रम से दोनों से सम्बन्धित होता है; इसलिये यदि तप्य और

तापक की एकता मान ली जाय तो मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। परन्तु यदि उनमें जाति का भेद माना जाय तो उनके संयोग के हेतु के नाश द्वारा मोक्ष की सिद्धि हो सकती है।

समाधान :–यह ठीक है, क्योंकि परमार्थ में एकता होने ही से वहां तप्यतापक भाव नहीं बनता। यदि इस अद्वैत अवस्था में तप्य और तापक विषय विषयी भाव को प्राप्त हों, तो ऊपर कहा हुआ दोष प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहां तो भिन्नता ही नहीं है। अकेला अग्नि, यद्यपि वह उष्णता प्रकाशादि भिन्न धर्मों से युक्त है और परिणाम शील है, तो भी वह अपने को जलाता नहीं या प्रकाश नहीं देता।

पूर्वपक्ष :—फिर एक ही कूटस्थ ब्रह्म में तप्य तापक भाव किस प्रकार घटेगा और यह तप्य तापक भाव रहेगा भी कहाँ ?

समाधान :—क्या तू नहीं देखता कि कर्म जन्य चेतन देह तप्य है और सविता तापक है ?

पूर्वपक्ष :—ताप दुःख को कहते हैं और दुःख चेतन को होता है, अचेतन देह को नहीं। यदि देह ही को दुःख होता हो तो देह के नाश होने पर दुःख आप ही नष्ट हो जायगा; उसके नाश के लिये साधन ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान :—देह के अभाव में केवल चेतन को कहीं भी दुःखी नहीं देखा और तुझे भी दुःखरूपी विकार केवल चेतन को होना इष्ट नहीं है। वैसे ही, अशुद्धि आदि दोषों की प्राप्ति होने से देह और चेतन का संघात भी तुझे इष्ट नहीं है; न दुःख का दुःख होना तुझे मान्य है, फिर तेरा तप्यतापक भाव भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? यदि कहेगा कि बुद्धि तप्य है और रजोगुण तापक है तो यह नहीं हो सकता; क्योंकि उनका चेतन से सम्बन्ध नहीं

हो सकता। यदि कहेगा कि बुद्धि के अनुरोध से चेतन दुःख भोगता सा प्रतीत होता है, तो परमार्थ से वह दुःखी नहीं होता, यह 'दुःख भोगतासा प्रतीत होता है' इस कथन से ही सिद्ध हो जाता है। यदि वह परमार्थ से दुःखी नहीं होता तब ही भोगतासा प्रतीत होता है, ये शब्द निर्दोष हैं। दुमई साँप की सी होती है—ऐसा कहने से दुमई विष वाली होती है, ऐसा भाव नहीं निकलता। वैसे ही, साँप दुमई का सा होता है—ऐसा कहने से सांप में पिष नहीं होता, यह भाव भी नहीं निकलता। इसलिये यह तप्यतापक भाव अविद्यात्मक है, ऐसा ही मानना पड़ेगा और ऐसा मानने में मुझे कोई आपत्ति नही है। परन्तु चेतन का भोक्तापन यदि तू परमार्थ से मानेगा तो तेरे मत में मोक्ष का अभाव हो जायगा, क्योंकि तेरे मत में ताप देने वाले रजोगुण को नित्य माना है।

पूर्वपक्ष :—तप्य और तापक दोनों शक्तियों के नित्य होने पर भी दुःखसंयोग के लिये निमित्त की अपेक्षा होती है। संयोग के हेतु रूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से संयोग का आत्यंतिक विराम हो जायगा और इस प्रकार मोक्ष की सिद्धि होगी।

समाधान :—यह ठीक नहीं है; अज्ञान तमोगुण रूप है, और वह तमोगुण नित्य है ऐसा तेरे मत में माना गया है। गुणों का उद्भव और लय अनियमित होने से संयोग के निमित्त का उपराम भी अनियत है और उसका वियोग भी अनियत है, इसलिये सांख्यों के मोक्ष की ही सिद्धि नहीं हो सकेगी।

उपनिषत् पक्ष में आत्मा के एक होने से विषय और विषयी ये दो भाव ही नहीं बनते; और भिन्न २ विकार कल्पना मात्र हैं, ऐसी श्रुति होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग स्वप्न में भी नहीं आ सकता। परन्तु व्यवहार में जहां जैसा तप्य तापक भाव है

वहां वह वैसा ही है। इसलिये उनके लिये कोई प्रश्न उठाना या उसका खंडन करना अनावश्यक है ॥ १० ॥

प्रधान कारण वाद का निराकरण किया गया, अब परमाणु वाद का निराकरण करना चाहिये। प्रथम परमाणुवाद में ब्रह्मवादियों के पक्ष में जो दोष लगाये जाते हैं उनका समाधान करते हैं। परमाणुवादी वैशेषिक मानते हैं कि कारणद्रव्य में रहे हुए गुण कार्यद्रव्य में अपने समान जाति वाले अन्य गुण उत्पन्न करते हैं, क्योंकि शुभ्र तन्तुओं से शुभ्र वस्त्र ही उत्पन्न होता है, विरुद्ध रंगवाला वस्त्र उत्पन्न होते दिखाई नहीं देता। इसलिये, चेतन ब्रह्मको जगत् का कारण मानें तो उसका कार्य रूप जगत् भी चैतन्य युक्त होना चाहिये, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसलिये चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण मानना अयुक्त है ऐसा वैशेषिक मानते हैं। उनकी इस मान्यता का उन्हीं की प्रक्रिया के साथ विरोध बताते हैं।

२ महद्दीर्घाधिकरण।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ह्रस्व [द्व्यणुक] और परिमण्डल [परमाणु] से महद्दीर्घवत् महत् और दीर्घ उत्पन्न होते हैं, वा वैसे ही [चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न हो सकता है]।

वैशेषिकों की यह प्रक्रिया है—कुछ काल पर्यन्त परमाणु अपने यथा योग्य रूपादि से युक्त, कुछ भी कार्य उत्पन्न न करते हुए अपने परमाणु के आकार ही से बने रहते हैं। पश्चात् अदृष्ट आदि के वश वे संयोग सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और द्व्यणुक आदि क्रम से समस्त कार्य समूह को उत्पन्न करते हैं। जब दो परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है तब परमाणु में स्थित रूप

आदि गुणों का शुक्ल आदि विशिष्ट रूप, द्व्यणुक में अपने से भिन्न ऐसे शुक्ल आदि रूप को उत्पन्न करता है। परंतु परमाणु का विशेष गुण जो पारमणु आकार विशेष है, वह द्व्यणुक में अन्य परिमाणु आकार को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि द्व्यणुकको वे परमाणु परिमाण नहीं मानते, उनका अन्य परिमाण स्वीकार करते हैं। द्व्यणुक में वे अणुत्व और ह्रस्वत्व का परिमाण मानते हैं। जब दो द्व्यणुक मिलकर चतुरणुक बनता है तब द्व्यणुक में रहे हुए शुक्लादि धर्म कार्य उत्पन्न करने में पूर्ववत् ही काम आते हैं, परन्तु, अणुत्व और ह्रस्वत्व द्व्यणुक में रहे हुए हैं तो भी वे अपना कोई कार्य उत्पन्न नहीं करते; क्योंकि चतुरणुक को वे महान् और दीर्घ परिमाण वाला मानते हैं। जब बहुत परमाणु, बहुत द्व्यणुक या द्व्यणुक के सहित परमाणु किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं, तब इसी योजना के अनुसार कार्य होता है। वैसे ही, जैसे परमाणु सूक्षम होते हैं तो भी उनसे अणु और ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होकर महान् और दीर्घ त्र्यणुक आदि उत्पन्न होते है, परन्तु सूक्ष्मता उत्पन्न नहीं होती; अथवा जिस प्रकार द्व्यणुक अणु और ह्रस्व हैं; तो भी उनसे महत् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होते हैं, अणु या ह्रस्व उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होता है यह स्वीकार करने में तेरी क्या हानि है ?

पूर्वपक्ष :—द्व्यणुकादि कार्यद्रव्य विरोधी परिमाण से युक्त होता हैं, इसलिये कारण में रहे हुए सूक्ष्मता आदि उसको उत्पन्न नहीं करते हैं, ऐसा हमारा मत है, परन्तु चेतन के विरोधी किसी गुण से जगत् युक्त नहीं है कि जिसके लिये कारण में रही हुई चेतनता कार्य रूप जगत् में उससे भिन्न चेतन को उत्पन्न न कर सके; क्योंकि अचेतना नाम का कोई चेतना का विरोधी धर्म

नहीं है, अचेतना तो केवल चेतना के अभाव को कहते हैं; इसलिये परमाणु से भिन्न होने से चेतना कार्य को उत्पन्न कर सकती है।

समाधान :--ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार कारण में विद्यमान होते हुए सूक्ष्मत्व आदि कार्य की उत्पत्ति नहीं करते; वैसे चेतना भी कार्य में चेतना नहीं करती; यह बात दोनों पक्ष में समान है। वैसे ही कार्य में भिन्न परिमाण से व्याप्त होना ह्रस्वादि के कार्य उत्पन्न न करने का कारण नहीं है; क्योंकि भिन्न परिमाण होने के पूर्व ही ह्रस्व आदि कार्य को उत्पन्न करते हैं। कार्य द्रव्य उत्पन्न होने पर भी उसमें गुणों का परिणाम होने के पूर्व वह क्षणमात्र के लिये गुण रहित रहता है, यह (वैशेषिकों का) सिद्धांत है। वैसे ही भिन्न परिमाण को उत्पन्न करने में लगे होने से ह्रस्व आदि अपने समान जाति के भिन्न परिमाण को उत्पन्न नहीं करते, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न परिमाण के हेतु भी अन्य हैं यह बात (वैशेषिकों से) स्वीकृत की गई है। 'कारण बहुत्वात्कारण-महत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' । [वैशे० सू० ७।१।९] (कारण के बहुत्व से, महत्त्व से और संयोग विशेषसे महत् की उत्पत्ति होती है), 'तद्विपरीतमणु' [वैशे० सू० ७।१।१०] (उस से विपरीत अणु होता है।), 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' [वैशे० सू० ७।१।१७ [(इस प्रकार ह्रस्वत्व और दीर्घत्व की व्याख्या समाप्त हुई।) ये कणाद के सूत्र हैं। विशेष प्रकार के संयोग द्वारा केवल कारण बहुत्व आदि ही कार्य को उत्पन्न करते हैं, ह्रस्व आदि नहीं करते यह कहना नहीं बनता; क्योंकि अन्य द्रव्य या गुण की उत्पत्ति में सब कारण रूप गुणों का अपने आश्रय में समान समवाय होता है। इसलिये, जैसे ह्रस्वादि

(अपने सदृश) कार्य को उत्पन्न नहीं करते वैसे ही चेतन भी नहीं करता ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार द्रव्यादि के संयोग से विलक्षण द्रव्यादि की उत्पत्ति देखने में आती है; इसलिये उत्पत्ति समान जातिवाली होती है, इस नियम में व्यभिचार है। यहां द्रव्य सम्बन्धी विवाद है; इससे गुण का उदाहरण अयुक्त है ऐसा कहोगे, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि, कारणसे विलक्षण कार्य होता है यही बताने को दृष्टान्त दिया गया है; और द्रव्य के लिये द्रव्य का और गुण के लिये गुण का ही दृष्टान्त होना चाहिये, ऐसा नियम मानने से कोई हेतु सिद्ध नहीं होता। तुम्हारे सूत्रकार ने भी द्रव्य के लिये गुण का उदाहरण दिया है; जैसे, 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पंचात्मकं न विद्यते'। [वैशे० सू० ४।२।२] (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संयोग अप्रत्यक्ष होने से शरीर पंचभूतात्मक नहीं बन सकता)। जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और आकाश का संयोग अप्रत्यक्ष है उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ऐसे पांचों भूतों में समवायी शरीर अप्रत्यक्षहो जायगा। परन्तु शरीर तो प्रत्यक्ष है, इसलिये वह पंच भौतिक नहीं है (यह वैशेषिक दर्शन का पूर्व पक्ष है)। कहने का तात्पर्य यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य। 'दृश्यते तु' [ब्रह्म० २।१।६] इस सूत्र से भी विलक्षण की उत्पत्ति बताई गई है। परन्तु यदि ऐसा है तो उसी सूत्र से यह भाव निकल सकता था ऐसा कहोगे तो वैसा नहीं है। वह सूत्र सांख्यों के प्रति कहा गया है और यह वैशेषिकों के प्रति कहा गया है। यदि कहोगे कि दोनों का निर्देश भी तो एक ही साथ किया है, जैसे एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता' [ब्रह्म० सू० २। १। १२] (इससे विद्वानों द्वारा परिग्रहण न किये हुए का भी व्याख्यान हुआ समझना), तो

यह ठीक है। उसी का यहां पर वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार विस्तार से विवेचन किया है॥ ११ ॥

(३) परमाणु जगदकारणत्वाधिकरण। सू० १२-१७

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

उभयथा दोनों प्रकार से (संयोग और वियोग रूप से) **अपि** भी [परमाणुओं की] **कर्म** क्रिया **न** नहीं बन सकती, **अतः** इसलिये **तदभावः** उसका अभाव है।

अब परमाणु कारण वाद का निराकरण करते हैं। वह वाद इस प्रकार उपस्थित होता है---जगत् में देखते हैं कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने में रहे हुए संयोग वाले तन्तु आदि द्रव्य ही से उत्पन्न होते हैं। इस उदाहरण को लेकर ही जो कुछ सावयव हो वह सब अपने में रहे हुए अवयवी द्रव्य से संयोग द्वारा ही उत्पन्न हुआ है ऐसा मानते हैं। यह अवयव और अवयवी का भेद जहाँ से निवृत्त हो जाता है उस न्यून परिमाण की चरम सीमा को परमाणु कहते हैं। पर्वत, समुद्र आदि यह जगत् सावयव है, और सावयव होने से आदि और अन्त वाला है। कोई भी कार्य कारण रहित नहीं होता, इसलिये परमाणु जगत् का कारण है, यह कणाद का अभिप्राय है। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों को सावयव देखकर उनके चार प्रकार के परमाणु माने गये हैं। वे न्यूनता की चरम सीमा हैं। उनका अब आगे विभाग होना असम्भव होने से पृथ्वी आदि का परमाणु पर्यन्त विभाग होजाना ही प्रलय है। फिर सृष्टि के समय वायु के अणुओं में अदृष्ट की प्रेरणा से कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म अपने आधारभूत अणु को अन्य अणु के साथ जोड़ देता है और द्वयणुक आदि क्रम से पश्चात् वायु उत्पन्न होता है, इसी

प्रकार अग्नि जल और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं; और उसी प्रकार सेन्द्रिय शरीर भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सब जगत् अणुओं से उत्पन्न होता है। अणु में रहे हुए रूपादि द्वयणुक आदि में तन्तु पट के न्याय से रूपादि उत्पन्न करते हैं, ऐसा कणाद के अनुयायी मानते हैं।

इसको हमारा यह उत्तर है कि विभाग अवस्था में रहे हुए अणुओं का संयोग कर्म की अपेक्षा रखता है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि कर्मयुक्त तन्तु आदि में ही संयोग देखा जाता है और कर्म के कार्य होने से उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्त का स्वीकार न करें तो अणुओं में आद्य कर्म बन नहीं सकता; और स्वीकार करें भी तो जैसे और कर्म में प्रयत्न या अभिघात आदि दिखाई देते हैं उनके अणुओं में असंभव होने से उनका आद्य कर्म बन ही नहीं सकता क्योंकि, उस अवस्था में शरीर के अभाव से आत्मा से प्रयत्न नहीं होता और शरीर में मन और आत्मा का संयोग होने ही से आत्म-गुण रूप प्रयत्न उत्पन्न होता है। इससे अभिघात आदि अन्य दृष्ट निमित्तों का भी निरसन कर लेना; क्योंकि वह सब सृष्टि के पीछे उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे सृष्टि के आदि काल में निमित्त नहीं बन सकते।

यदि आद्य कर्म का निमित्त अदृष्ट है, ऐसा मानें तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मा में है या अणु में ? दोनों प्रकार से भी अदृष्ट से अणु में कर्म होना असंभव है, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है और अचेतन यदि चेतन से अधिष्ठित न हो तो वह स्वतंत्रता से न तो प्रवृत्त हो सकता है और न किसी को प्रवृत्त करा सकता है, ऐसा सांख्य प्रक्रिया में ही कहा हुआ है। चैतन्य उत्पन्न न हुआ हो उस अवस्था में आत्मा तो अचेतन ही है। यदि अदृष्ट

आत्मा में समवायी है, ऐसा स्वीकार करलो तो भी वह अणुओं में कर्म का निमित्त नहीं बन सकता, क्योंकि उसका अदृष्ट से संबंध ही नहीं है। यदि कहोगे कि अदृष्टयुक्त पुरुष के साथ अणुओं का संबंध है तो वह संबंध नित्य होने से प्रवृत्तिके भी नित्य हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ और कोई नियामक है नहीं। इस प्रकार, कर्म का कोई नियत निमित्त नहीं मिलने से अणुओं का आद्य कर्म नहीं होगा, कर्म के अभाव से कर्म से बनने वाला संयोग नहीं होगा और संयोग के न होने से उससे होने वाला द्वयणुकादि कार्य समूह उत्पन्न नहीं होगा।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि एक अणु का अन्य अणु के साथ जो संयोग होगा वह सम्पूर्ण अणु में होगा या उसके किसी एक देश में ? यदि कहें कि सर्व देश में संयोग होता है तो सर्व देश के संयोग से केवल अणु ही अणु रहेगा। उनके संयोगों से परिमाण में वृद्धि नहीं होगी और हम परिमाणयुक्त जगत देख रहे हैं वह मिथ्या हो जायगा। यदि एक देश में मानें तो अणु सावयव मानना पड़ेगा। परमाणु में प्रदेश की कल्पना होती है ऐसा कहोगे तो कल्पित पदार्थ अवस्तु होने से उसका संयोग भी अवस्तु रूप होगा, अर्थात् वह वस्तु रूप कार्य का असमवायी कारण नहीं बन सकता, और असमवायी कारण न होने से द्वयणुकादि कार्य समूह उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार जैसे आदि सृष्टि में निमित्त के अभाव से संयोग के उत्पत्ति के लिये अणुओं में कर्म बन नहीं सकता, वैसे ही प्रलय काल में भी विभाग की उत्पत्ति के लिये अणुओं में कर्म नहीं बनेगा, क्योंकि वहां भी उसके लिये कोई निमित्त देखने में नहीं आता। अदृष्ट भोग की सिद्धि के लिये है, प्रलय की सिद्धि के लिये नहीं है। इसलिये, निमित्त के अभाव से अणुओं में संयोग की या विभाग

की उत्पत्ति के लिये कर्म नहीं बन सकता। संयोग और विभाग के अभाव से उनसे होने वाले सृष्टि और प्रलय का अभाव प्राप्त हो जाता है, इसलिये परमाणुवाद अयुक्त है॥ १२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः॥ १३॥

च और समवायाभ्युपगमात् समवाय का स्वीकार करने से [उसका अभाव हो जाता है] साम्यात् साम्य से [और] अनवस्थितेः अनवस्थिति से।

'समवाय का स्वीकार करने से उसका अभाव होता है' इसका अणुवाद के निराकरण के साथ सम्बन्ध है। दो अणुओं से उत्पन्न हुआ द्व्यणुक अणुओं से अत्यन्त भिन्न है और अणुओं में समवेत है, ऐसा तुम मानते हो परन्तु, ऐसा मानने से अणु-कारणता का समर्थन तुम नहीं कर सकते; क्योंकि उसमें हेतुओं के लक्षण की साम्यता से अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दो अणुओं से अत्यन्त भिन्न ऐसा द्व्यणुक उनसे समवाय सम्बन्ध से युक्त होता है, उसी प्रकार समवाय भी समवायियों से (समवायित पदार्थों से) अत्यन्त भिन्न होने से अन्य समवाय सम्बन्ध से समवायियों से युक्त होगा, क्योंकि भेद की अत्यन्त भिन्नता दोनों स्थान पर समान है, और पीछे उस समवाय का भी अन्य २ समवायों से सम्बन्ध मानना पड़ेगा, और इस प्रकार अनवस्था का दोष प्राप्त होगा।

पूर्वपक्ष :—तादात्म्य सम्बन्ध वाला समवाय अपने समवायियों से नित्य सम्बन्ध रखता है। समवाय रखने वाले पदार्थ कभी सम्बन्धरहित नहीं होते। इसलिये, उसके लिये अन्य सम्बन्ध मानने की कोई अवश्यकता नहीं है कि जिसके लिये अनवस्था दोष की प्राप्ति हो।

समाधानः—यदि यह बात है, तो संयोग भी अपने संयोगी पदार्थों से नित्य सम्बन्ध ही रखता है, इसलिये उसके लिये समवाय लक्षण के अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य पदार्थ होने से संयोग अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, तो समवाय भी अन्य पदार्थ होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा अवश्य रखेगा। संयोग गुण होने से उसके लिये अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है; ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि, सम्बन्ध की अपेक्षा दोनों रखते हैं और एक को गुण और एक को अगुण कहना यह केवल परिभाष की बात है; इसलिये समवाय को केवल एक भिन्न पदार्थ मानने ही से अनवस्था दोष टल नहीं सकता। अनवस्था का दोष प्राप्त होने से और एक की असिद्धि से सबकी असिद्धि होने से दो अणुओं से द्वयणुक उत्पन्न हो नहीं सकता, इसलिये भी परमाणु कारणवाद अयुक्त ही है ॥ १३ ॥

नित्यमेवच्च भावात् ॥ १४॥

च और नित्यम् नित्य एव ही भावात् [प्रवृत्ति] होती रहने से [प्रलय आदि का अभाव होगा इसलिये परमाणु कारणवाद अयुक्त है]।

प्रश्न यह है कि अणु प्रवृत्तिस्वभाव हैं, निवृत्तिस्वभाव हैं, उभय-स्वभाव हैं या प्रवृत्तिनिवृत्ति रहितस्वभाव वाले हैं। चारों प्रकार से सिद्धि नहीं होती। यदि प्रवृत्ति स्वभाव मानें तो प्रवृत्ति के नित्य होने से प्रलय का अभाव हो जायगा। निवृत्ति स्वभाव माना जाय, तो नित्य निवृत्ति रहने से सृष्टि ही नहीं होगी। उभय स्वभाव परस्पर विरोधी होने से वन ही नहीं सकता और जब वे प्रवृत्ति और निवृत्ति रहित स्वभाव वाले हों तब तो निमित्त द्वारा उनकी प्रवृत्ति हो सकती है; परन्तु अदृष्टादि निमित्त के

नित्य संनिहित होने से, नित्य प्रवृत्ति का ही प्रसंग प्राप्त होगा, और यदि अदृष्टादि की प्रवृत्ति में असमर्थता मानी जाय, तब भी नित्य अप्रवृत्ति रहने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये परमाणु कारणवाद अयुक्त है ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

च और **रूपादिमत्त्वात्** रूपादि से युक्त होने से [वैशेषिक मत] **विपर्ययः** भ्रांति युक्त है; क्योंकि **दर्शनात्** [जगत् में वैसा ही] देखते हैं।

सावयव द्रव्यों के अवयव अलग होजाने पर जिसके बाद और विभाग होना संभव नहीं—चौदह प्रकार के रूपादि से युक्त ऐसे परमाणु रह जाते हैं और वे ही चौदह प्रकार के भूत और भौतिक सृष्टि के बनाने वाले हैं और नित्य हैं, ऐसा जो वैशेषिक मानते हैं, उनका वह मानना निराधार है। परमाणुओं के रूपादि युक्त होने से परमाणुओं का अणुत्व और नित्यत्व भ्रांति युक्त ही सिद्ध होगा और अन्य परम कारण की अपेक्षा से उनको स्थूलत्व और अनित्यत्व ही प्राप्त होगा, जो उनके अभिप्राय से विपरीत है। जगत् में देखते हैं कि रूपादियुक्त वस्तु अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य ही होती है। जैसे, पट तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होता है, तन्तु रेशों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होते हैं। वैसे ही इन परमाणुओं को भी वे रूपादियुक्त मानते हैं, इसलिये उनका भी कोई कारण होना चाहिये और वे उसकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य होने चाहिये; यह प्राप्त होता है। उन्होंने नित्यत्व का जो लक्षण दिया है कि 'सदकारण वन्नित्यम् [वै० सू० ४ । १ । १] (जो कारण रहित और सत् हो उसको नित्य कहते हैं।), यह लक्षण भी

अणु में नहीं घटता, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से अणुओं के कारण की भी उत्पत्ति होती है। नित्यत्व का और जो कारण बताया है कि, 'अनित्यमितिच विशेषतः प्रतिषेधाभावः' [वै० भू० ४। १।४] (निषेध के अभाव को विशेषतया 'अनित्य' कहते हैं), यह भी परमाणुओं का नित्यत्व निश्चित रूप से स्थापित नहीं करता, क्योंकि असत् ऐसे किसी नित्य वस्तु में नित्यता का निषेध रूप 'अनित्य' शब्द ही नहीं सिद्ध होता; और फिर परमाणुओं के नित्यत्व की अपेक्षा ही क्या है जब नित्य और परम कारण रूप ब्रह्म ही विद्यमान है ? केवल शब्दार्थ के व्यवहार से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि, प्रथम अन्य प्रमाणों से सिद्ध होकर शब्द और अर्थ का व्यवहार रूढ़ हो जाता है। नित्यत्व का तीसरा कारण यह बताया है—'अविद्या च' [वैशे० सू० ४।१।५] (कारण प्रत्यक्ष देखने में न आना)। इस सूत्र का यदि यों विवरण करे कि जिसका कार्य स्पष्टतया दिखाई देता है ऐसे विद्यमान कारण का प्रत्यक्ष ग्रहण न होना, तो द्व्यणुक को भी नित्यता प्राप्त होगी। 'अद्रव्येसति' (अद्रव्य होते हुए) इतना विशेषण उसमें और लगा दिया जाय तो कारण रहित होना ही नित्यता का निमित्त प्राप्त होगा और वह तो पहिले ही कहा जा चुका होने से 'अविद्याच' इस सूत्र से उसी की पुनरुक्ति होगी : कारणों का पृथक् हो जाना या उनका नाश हो जाना, इससे भिन्न तीसरे विनाश हेतु का असंभव होना, इसको अविद्या कहो, और वह अविद्या परमाणुओं के नित्यत्व की सिद्धि करती है. इस प्रकार यदि सूत्र की व्याख्या करो, तो उसका उत्तर यह हैं कि नाश को प्राप्त होने वाली वस्तु अवश्य दो ही हेतु से विनाश को प्राप्त हो यह कोई नियम नहीं है; क्योंकि संयोग सहित अनेक द्रव्य अन्य द्रव्य के उत्पादक हैं, ऐसा

मानें तो उसके नाश के हेतु अनेक ही होंगे। परन्तु विशेषता रहित सामान्य कारण किसी विशेषता युक्त भिन्न अवस्था को प्राप्त हो और उसी को उत्पादक माना जाय, तो घृत की कठिनता के नाश से घृत का नाश सिद्ध होगा या मूर्त अवस्था के बदलने से भी वस्तु का विनाश सिद्ध होगा। इसलिये परमाणुओं को रूपादि युक्त मानने से उनका मत भ्रामक ही सिद्ध होता है। इसलिये भी परमाणु कारण वाद अयुक्त है ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

उभयथा दोनों प्रकार से च भी दोषात् दोष की प्राप्ति होने से [वैशेषिक मत अयुक्त है]।

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण वाली स्थूल पृथ्वी है; रूप, रस, और स्पर्श गुण वाला सूक्ष्म जल है; रूप और स्पर्श गुण वाला सूक्ष्मतर तेज है और स्पर्श गुण वाला अति सूक्ष्म वायु है। इस प्रकार के ये चारों भूत गुणों के क्षय और वृद्धि से युक्त होते हैं, इसलिये उनके परमाणु भी गुणों के क्षय और वृद्धि से युक्त मानेंगे या नहीं? मानें या न मानें दोनों प्रकार से दोष की प्राप्ति अनिवार्य ही है। यदि मान लें तो गुणों के क्षय और वृद्धि से जिन गुणों की वृद्धि हुई उनका आकार भी बढ़ जाने से परमाणुत्व की हानि हो जायगी। आकार की वृद्धि न होते हुए गुणों की वृद्धि होगी, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि गुण की वृद्धि के साथ आकार की वृद्धि ही देखने में आती है। परमाणु को गुणों के क्षय और वृद्धि से रहित मानें, तो उनके परमाणुत्व की समानता की सिद्धि के लिये उनको एक एक गुणवाला मानना पड़ेगा और इस अवस्था में तेज में स्पर्श नहीं रहेगा, जल में रूप और स्पर्श तथा पृथ्वी में रस, रूप और स्पर्श भी नहीं

मिलेंगे; क्योंकि कारण में जो गुण होते हैं वे ही कार्य में आते हैं। और यदि परमाणु में चारों गुण मानें, तो जल में भी गंध की प्राप्ति होनी चाहिये, तेज में गंध और रस की, और वायु में गन्ध, रूप और रस की उपलब्धि होनी चाहिये; परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, इसलिये भी परमाणु कारण वाद अयुक्त है ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

च और अपरिग्रहात् [शिष्ट पुरुषों को] अमान्य होने से अत्यंतम् [परमाणु कारण वाद] अत्यन्त अनपेक्षा अनादर [करने योग्य है]।

मनु आदि कई वेदवेत्ताओं द्वारा प्रधान कारणवाद उसके सत्कार्यत्व आदि अंश को ग्रहण करते हुए प्रतिपदित किया गया हैं। परन्तु, यह परमाणु कारणवाद तो किसी विद्वान् द्वारा किसी भी अंश में स्वीकृत नहीं किया गया है, इसलिये विद्वानों के लिये वह अत्यन्त अनादरणीय है। वैशेषिक अपने शास्त्र में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय यह छः पदार्थ मुख्य हैं और वे मनुष्य, अश्व आदि के समान परस्पर अत्यन्त भिन्न लक्षण वाले हैं, ऐसा मानते हैं। इन छओं को इस प्रकार अत्यन्त भिन्न मान कर, उसके विरुद्ध, शेष सभी द्रव्यों को वे उनके अधीन मानते हैं, परन्तु उनका यह पक्ष सिद्ध नहीं होता। जगत् में देखते हैं कि शश (खरगोश), कुश, पलाश (ढाक) आदि जो एक एक से अत्यन्त भिन्न हैं, वे एक एक के अधीन नहीं होते। इसलिये, द्रव्यादि एक एक से अत्यन्त भिन्न होने से गुण आदि द्रव्यादि के अधीन हो नहीं सकते। यदि गुण द्रव्यों के अधीन होते, तो द्रव्य के होने पर ही गुण होते और द्रव्यों के

अभाव में गुणों का भी अभाव होता और द्रव्य ही आकार आदि भेद से भिन्न नाम रूप के ज्ञान के हेतु बनते, जैसे एक ही देवदत्त भिन्न २ स्थान पर भिन्न २ नाम से सम्बोधित होता है। और ऐसा हो तो सांख्य सिद्धान्त का प्रसंग प्राप्त होगा और उनके सिद्धान्त के विरोध का प्रसंग प्राप्त होगा।

पूर्वपक्ष :—धूम से अग्नि के अत्यन्त भिन्न होते हुए भी धूम को अग्नि के अधीन देखते हैं और सत्य देखते हैं। दोनों के भिन्न प्रतीत होने से अग्नि धूम से विलक्षण है यह निश्चय होता है। यहां तो श्वेत कम्बल, लाल गौ, नील कमल इत्यादि द्रव्य अपने २ विशेषण से युक्त प्रतीत होते हैं; इसलिये अग्नि और धूम के समान द्रव्य और गुण की भिन्न प्रतीति नहीं होती। गुण द्रव्यात्मक ही होते हैं और इसीसे कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इनकी द्रव्यात्मकता व्याख्यात हुई। गुणादि द्रव्य के अधीन इसलिये हैं कि द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं, यानी गुण और द्रव्य की पृथकता से सिद्धि नहीं होती।

समाधान :— हम पूछते हैं, अयुतसिद्धत्व में देश का अपृथकता होती है या काल की या स्वभाव की ? किसी प्रकार से भी हो, द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध नहीं हो सकते। देश की अपृथकता में उनका पृथक् बोध ही नहीं होगा; क्योंकि तन्तुओं से बना हुआ पट तन्तुदेशी ही माना जायगा पटदेशी नहीं। परन्तु पट के शुल्क आदि गुण पटदेशी माने जाते हैं तुन्तुदेशी नहीं; जैसे कि कहा है—द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्तेगुणाश्च गुणान्तरम्' [वै० सू० १।१।१०] (द्रव्य अन्य द्रव्य को उत्पन्न करते हैं और गुण अन्य गुण को)। अर्थात् तन्तु रूप कारण द्रव्य पट रूप कार्य द्रव्य को उत्पन्न करता है और तन्तुओं

में रहे हुए शुक्लादि गुण पट में शुक्लादि अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं, ऐसा उनका मत है। द्रव्य और गुण को अपृथक् (अभिन्न) देश वाले स्वीकार करने से उस मत में बाध आता है। यदि जो अपृथक् काल में हो उसको अयुतसिद्ध कहें तो दाहिने और वायें गाय के सींग भी अयुतसिद्ध हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि अपृथक् स्वभाव से अयुतसिद्धत्व मानें तो द्रव्य और गुण का स्वरूप भेद ही नहीं संभवता; क्योंकि वे विलकुल एक से प्रतीत होंगे। 'युतसिद्ध (अलग २ सिद्ध होने वाले) पदार्थों के सम्बन्ध को संयोग और अयुतसिद्ध (अलग २ सिद्ध न होने वाले) पदार्थों के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं.' यह उनका कथन ही वृथा है; क्योंकि पहिले से सिद्ध हुआ कारण कार्य से अयुत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अयुतसिद्ध कार्य का कारण से जो सम्बन्ध है, उसको कार्य कारण में से एक की अपेक्षा से ही समवाय कहो तो इस में भी, जिसने स्वरूप प्राप्त नहीं किया है, ऐसे कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध बन नहीं सकता; क्योंकि सम्बन्ध दोनों पदार्थों के अधीन होता है। कार्य सिद्ध होकर फिर उसका कारण से सम्बन्ध होता है, ऐसा कहोगे तो कारण के संबंध से पहिले ही कार्य की सिद्धि का स्वीकार होने से और इससे अयुतसिद्धि का अभाव हो जाने से 'कार्य कारण का संयोग और विभाग होता ही नहीं,' यह कथन भ्रान्त होगा। जिस प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए अक्रिय कार्यद्रव्य का आकाश आदि व्यापक द्रव्यों से जो सम्बन्ध होता है उस को संयोग ही माना है, न कि समवाय; उसी प्रकार कारण द्रव्य से जो सम्बन्ध होता है वह भी संयोग ही होगा. न कि समवाय। संयोग और समवाय का दो सम्बन्धित होने वाले पदार्थों से अन्यत्र कहीं अस्तित्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

'सम्बन्धी' यह शब्द और उसकी प्रतीति से पृथक्, 'समवाय और संयोग,' यह शब्द और प्रतीति देखने में आती है इसलिये उनका भी अस्तित्व है ऐसा कहोगे तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि पदार्थ के एक होने पर भी स्वरूप और वाह्यरूप की अपेक्षा से उनके अनेक नाम और प्रतीतियां देखने में आती हैं। जैसे कि देवदत्त के एक होने पर भी स्वरूप और सम्बन्धियों की अपेक्षा से वह मनुष्य ब्राह्मण, श्रोत्रिय, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भाई और दामाद आदि अनेक शब्द और प्रतीति का विषय होता है, और जैसे एक ही रेखा स्थान भेद से एक दस, सौ, हजार आदि शब्द और प्रतीति से युक्त होती है, उसी प्रकार संबंधी पदार्थ ही 'सम्बन्धी' शब्द और प्रतीति से भिन्न संयोग और समवाय नामक शब्द और प्रतीति से युक्त बनते है, परन्तु उनसे किसी भिन्न वस्तु का वोध नहीं होता। भिन्न वस्तुत्व के ये लक्षण संयोग और समवाय में न मिलने से उनकी भिन्न वस्तुत्व के रूप से सिद्धि नहीं होती। वैसे ही 'संबंध' इस शब्द और प्रत्यय का विषय सम्बन्धी होने से सम्बन्ध के सन्तत अस्तित्व का प्रसंग प्राप्त होगा, ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर पहिले दे चुके हैं कि 'संबंध' यह शब्द और प्रतीति वस्तु के स्वरूप और वाह्य रूप की अपेक्षा ही से हैं।

इसी प्रकार अणु, आत्मा और मन इनका संयोग नहीं वन सकता; क्योंकि उनका प्रदेश नहीं है, और प्रदेश वाले पदार्थों में ही संयोग देखने में आता है। यदि कहो कि अणु, आत्मा और मन इनके कल्पित प्रदेश होते हैं, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि अविद्यमान पदार्थों की कल्पना से सिद्धि मानोगे तो सभी पदार्थों की इस प्रकार वस्तुत्व से सिद्धि होगी। क्योंकि अविद्यमान

विरोधी वा अविरोधी पदार्थों की अमुक मर्यादा तक ही कल्पना की जाय अधिक नहीं, ऐसा नियम बनाने के लिये कोई हेतु नहीं मिलता, क्योंकि कल्पना स्वाधीन है और उसको कोई मर्यादा नहीं है। वैशेषिकों ने छः पदार्थों की कल्पना की है, उनसे अन्य अधिक शत वा सहस्त्र पदार्थों की कल्पना न होने के लिये प्रतिवन्ध रूप कोई हेतु नहीं प्राप्त होता। इसलिये जिसको २ जो २ पसन्द आवे वही सब सिद्ध होगा। कोई कृपालु यही कल्पना करेगा कि प्राणियों को अत्यन्त दुःख देने वाले संसार का ही अभाव हो अथवा दूसरा दुरात्मा मुक्तों की भी पुनरुत्पत्ति की कल्पना करेगा।

इसके सिवाय और भी बहुत दोष प्राप्त होते हैं। दो निरवयव परमाणुओं का द्वयणुक के साथ, उसका जैसे आकाश के साथ है, वैसा तादात्म्य भाव बन नहीं सकता; क्योंकि आकाश का पृथिवी आदि के साथ, जैसे काष्ठ और लाख का होता है, वैसा तादत्म्य भाव नहीं होता। यदि कहो कि कार्य कारण द्रव्यों का आश्रित आश्रय भाव और किसी प्रकार से नहीं सिद्ध होता, इसलिये समवाय की कल्पना आवश्यक है, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रयता का दोष प्राप्त होता है। कार्यकारण की सिद्धि से आश्रित आश्रय भाव की सिद्धि और आश्रित आश्रय भावकी सिद्धि से कार्य कारण भाव की सिद्धि कुन्डवदर न्याय से (किसी ने पूछा 'कुंड कहां है ? उत्तर मिला; 'जहां वेर का पेड़ है।' पूछा, 'बेर का पेड़ कहां है ? उत्तर मिला कुण्ड ही के पास है।) होना यही अन्योन्याश्रय दोष है। वेदान्ती कार्य कारण का भेद वा उनका आश्रित आश्रय भाव नहीं मानते, उनकेमत से तो कारण की अवस्था विशेष ही कार्य है।

और यह भी दोष है कि परमाणु परिच्छिन्न होने से जितनी दिशाएं हैं, उनके उतने ही अवयव होने से, वे सावयव और अनित्य सिद्ध होंगे और इस प्रकार उनके नित्यत्व का और निरवयवत्वका वोध होगा। यदि ऐसा कहें कि दिशा के भेद से परमाणु में जिन अवयवों की कल्पना होती है वे अवयव ही वास्तविक परमाणु हैं, तो वह ठीक नहीं; क्योंकि स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम, इस प्रकार तरतमता के क्रम से जहाँ तक वस्तु अपने परम कारण को नहीं प्राप्त होगी, वह नाश ही को प्राप्त होती रहेगी। जिस प्रकार पृथिवी द्व्यणुक की अपेक्षा अधिक स्थूल वस्तु है और वह नाश को प्राप्त होती है, पश्चात् सूक्ष्म पृथ्वी और सूक्ष्मतर पृथ्वी और पृथ्वी जाति (पृथ्वी तन्मात्रा) भी नष्ट हो जाती है; इसी प्रकार पृथ्वी के समान जातीय होने से परमाणु भी नाश को प्राप्त होंगे। यदि कहो, कि वस्तु नष्ट होगी तो अवयवों के पृथक् होने ही से तो नाश होगी, तो यह नहीं है। घृत की कठिनता जिस प्रकार नष्ट होती है उसी प्रकार उसका नाश होता है ऐसा हमारा इसको उत्तर है। जैसे घृत, सुवर्ण आदि के अवयवों का विभाग नहीं होता परन्तु अग्नि के संयोग से वे द्रवरूप हो जाते हैं और उनके कठिनता का नाश हो जाता है, उसी प्रकार परमाणु भी जब परम कारण भाव को प्राप्त होते हैं तब उनके आकार आदि का नाश हो जायगा। वैसे ही, कार्य की उत्पत्ति भी केवल अवयवों के संयोग ही से नहीं होती। अन्य अवयवों के संयोग बिना ही दूध, जल आदि के दही और वरफ आदि कार्य उत्पन्न होते देखने में आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि परमाणु कारण वाद अत्यन्त निर्बल तर्क पर रचा गया है। यह ईश्वर को

कारण बताने वाली श्रुति से विरुद्ध है और श्रुति को यथार्थता से जानने वाले मनु आदि विद्वानों द्वारा संपूर्णतया उपेक्षित है, इसलिये, अपने कल्याण की इच्छा करने वाला पुरुष परमाणु कारणवाद की अत्यन्त उपेक्षा करे यही शेष सूत्र का अर्थ है ॥ १७ ॥

समुदायाधिकरण । सू० १८-२७

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

उभयहेतुके [परमाणु और रूपादि के] उभयहेतु वाले समुदाये [बाह्य और आध्यात्मिक] समुदाय में अपि भी तदप्राप्तिः उस (समुदाय) की प्राप्ति नहीं होती [और इसके आश्रय में रही हुई लोकयात्रा का लोप होने का प्रसंग प्राप्त होता है] ।

वैशेषिक मत की युक्तियाँ सदोष हैं और वह मत वेदविरुद्ध और विद्वानों से तिरस्कृत है, इसलिये वह उपेक्षणीय है, ऐसा कह चुके हैं । वैशेषिकों को अर्ध वैनाशिक कहते हैं, और विनाशकत्व समान होने से सर्ववैनाशिकों का सिद्धान्त भी अत्यन्त उपेक्षणीय है, यह अब हम सप्रमाण सिद्ध करेंगे ।

सिद्धान्त प्रतिपादन की भिन्न भिन्न युक्तियों के कारण और शिष्य के अधिकार भेद के कारण सर्ववैनाशिक मत के अनेक भेद पाये जाते हैं । उनमें तीन मत मुख्य हैं—सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानास्तित्वमात्रवादी और सर्वशून्यवादी । उनमें से प्रथम सर्वास्तित्ववादियों के मत का निरसन करते हैं । सर्वास्तित्ववादी (सब जगत् सत्य है ऐसा मानने वाले) बाह्य और आन्तर वस्तु मानते हैं; जैसे भूत और भौतिक पदार्थ, चित्त और चित्त

के कार्य। पृथ्वी तत्त्व आदिभूत हैं और रूप आदि और चक्षु आदि भौतिक हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वों के चार प्रकार के परमाणु कठिन, स्निग्ध, उष्ण और गतिमान स्वभाव वाले होते हैं और उनके संघात से पृथ्वी आदि भूत बनते हैं, ऐसा वे मानते हैं। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कंध हैं, ये अध्यात्मिक हैं और इनके संघात से सब अध्यात्मिक व्यवहार बनते हैं ऐसा भी वे मानते हैं।

इसका प्रतिवाद करते हैं—उभय हेतु वाला और उभय प्रकार का समुदाय यानी भूत भौतिक संघात रूप अणुओं का बना हुआ और स्कन्धों का बना हुआ पंचस्कंधी रूप अध्यात्मिक संघात जो वादी मानते हैं, समुदाय को उभय हेतु वाले मानते हुए भी इनका समुदाय बन नहीं सकता, क्योंकि जिनका समुदाय वे मानते हैं वे सब अचेतन हैं। चित्त संज्ञक विज्ञान समुदाय के अधीन है और इनका भोग करने वाला या इनको अधिकार में रखने वाला ऐसा कोई अन्य चेतन पदार्थ उन्होंने स्वीकार नहीं किया है जो इनका संघात करे। प्रवृत्ति अपेक्षा रहित होती है ऐसा कहो तो वह कभी रुकेगी नहीं। आलय विज्ञान (मैं जानता हूँ, यह ज्ञान भी) भूतों से या स्कंधों से अन्य है या अभिन्न है, ऐसा किसी प्रकार से भी उसका निरूपण बन नहीं सकता। उनको क्षणिक कहें तो वे व्यापार रहित हो जाते हैं (क्योंकि जो क्षणिक होता है उसका अपनी उत्पत्ति व्यतिरिक्त अन्य कोई व्यापार बन नहीं सकता) और उनकी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। इसलिये उनका समुदाय सिद्ध नहीं होता और समुदाय की असिद्धि होने से उस पर निर्भर रहा हुआ जगत् का व्यवहार भी लुप्त हो जायगा॥ १८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्ति-
मात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वात् (अविद्यादि) अन्योन्य का कारण होने से (संघात बन सकेगा) इतिचेत् ऐसा [कहो] तो न वह ठीक नहीं है; उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् क्योंकि [अविद्या आदि उत्तरोत्तर] उत्पत्ति में केवल निमित्त रूप हैं।

यद्यपि भोक्ता या प्रशासिता रूप कोई चेतन संघातकर्त्ता स्थिर न माना जाय, तो भी अविद्या आदि अन्योन्य का कारण होने से लोक व्यवहार बन सकेगा और यह बन सका तो और कुछ अपेक्षा योग्य नहीं है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, इन्द्रिय, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान (प्रवृत्ति), जन्म, जाति जरा, मरण, शोक, परिवेदना (उद्वेग), दुःख और अन्य मानसी व्यथायें यह सब अविद्या आदि हैं और ये ही एक एक के कारण रूप होते हैं, ऐसा बौद्ध सिद्धान्त में कहीं संक्षेप से तो कहीं विस्तार से बताया है। अविद्या आदि का यह समुदाय सर्व वादियों को संमत है और यह अविद्या आदि का समुदाय उत्तरोत्तर के निमित्त नैमित्तिक भाव से घटीयन्त्र के समान सर्वदा वर्तमान है, इसलिये संघात की प्राप्ति अनिवार्य है, ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या आदि उत्त-रोत्तर के उत्पत्ति के ही केवल हेतु हैं; संघात की सिद्धि तो तब होगी जब संघात का कोई निमित्त मिल जाय, परन्तु उनका संघात बनने के लिये कोई भी निमित्त नहीं मिलता। अविद्या आदि परस्पर के कारण भूत हैं तो भी उत्तरोत्तर की उत्पत्ति का पूर्व पूर्व निमित्त होता है, इतना ही कहना ठीक है; इनके

संघात के लिये तो कोई भी निमित्त सम्भव नहीं। अविद्या आदि के समुदाय के कार्य कारण भाव से रहने के कारण ही संघात का मानना अनिवार्य है, ऐसा वादियों का कथन है; तो उसको हमारा उत्तर यह है—यदि वादियों का यह अभिप्राय हो कि अविद्यादि की विना संघात के प्राप्ति ही नहीं होती, इसीलिये वे संघात को मानते हैं, तो उस संघात का निमित्त अवश्य बताना चाहिये। 'अणु को नित्य मानें और आश्रय आश्रयी-भूत भोक्ता मानें तो भी संघात की सम्भावना नहीं होती,' ऐसा वैशेषिक परीक्षा में कहा है; फिर इस मत में जहाँ कि अणु क्षणिक और भोक्ता रहित या आश्रयी भाव से शून्य माना है, वहां संघात किस प्रकार सम्भव हो ? अविद्या आदि ही संघात के निमित्त हैं। ऐसा अभिप्राय हो तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसी के आश्रय से अपना अस्तित्व पाने वाले उसी के निमित्त किस प्रकार हो सकते हैं ? यदि कहो कि अनादि संसार में संघात प्रवाह रूप से वर्तमान रहते हैं और उसी के आसरे अविद्या आदि होते हैं; तो उसका उत्तर यह है कि एक संघात से जब अन्य संघात की उत्पत्ति नियम से होगी तो समान संघात उत्पन्न होगा और अनियम से होगी तो असमान संघात उत्पन्न होगा। वह नियम से होती है ऐसा स्वीकार करें तो मनुष्य योनि को देवत्व, तिर्यग्योनित्व अथवा नारकत्व की प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा। अनियम स्वीकार करें तो मनुष्य कदाचित् क्षण मात्र में हाथी होकर देवता या मनुष्य हो जायगा और यह दोनों बातें उनके सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। जिसके भोग के लिए संघात हो वह स्थिर भोक्ता तो विद्यमान ही नहीं है ऐसा तुम्हारा मत है। इस अवस्था में भोग भोग के लिये ही रहेंगे, अन्य किसी के लिये इच्छा करने योग्य नहीं रहेंगे, वैसे ही मोक्ष भी मोक्ष के लिए ही

होगा अन्य कोई मुमुक्षु नहीं वन सकेगा। भोग और मोक्ष की यदि अन्य कोई चाहना करें तो वह भोग और मोक्ष के समय स्थिर रहना चाहिये, परन्तु यदि ऐसा कोई स्थिर चाहने वाला मान लें तो क्षणिकत्व के स्वीकार में विरोध प्राप्त होता है; इस-लिये, अभिप्राय यह है, कि अविद्या आदि अन्योन्य की उत्पत्ति का निमित्त हो तो भले हो परन्तु उससे संघात की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि इस मत में भोक्ता ही का अभाव है ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादेच पूर्व निरोधात् ॥ २० ॥

च और उत्तरोत्पादे उत्तर (उत्तर क्षण) की उत्पत्ति में पूर्वनिरोधात् पूर्व (पूर्व क्षण) के कार्य का निरोध हो जाता है, इसलिये [संघात की सिद्धि नहीं होगी]।

अविद्या आदि (परस्पर) उत्पत्ति के निमित्त वनते हैं, इस-लिये संघात की सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहा था; परन्तु वे सव उत्पत्ति में भी निमित्त हों, यह भी संभव नहीं, यह अब सप्रमाण दिखलावेंगे। क्षणभङ्गवादियों का मत है कि उत्तर क्षण में कार्य की उत्पत्ति होती है तव पूर्व क्षण का कार्य नष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा माने तो पूर्व और उत्तर क्षण के कार्य में कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि उसी क्षण नाश होने वाला या नाश को प्राप्त हुआ कार्य अभावग्रस्त होने से वह उत्तर क्षण के कार्य का कारण वन नहीं सकता। यदि पूर्व क्षण का भावरूप और अवस्थारूप कार्य उत्तर क्षण के कार्य का हेतु होता है, ऐसा कहोगे, तो वह भी नहीं वनेगा; क्योंकि जो भावरूप है उसके अन्य व्यापार की कल्पना करने में उसका अन्य क्षण के साथ सम्बन्ध प्राप्त होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहो कि भाव ही उसका व्यापार है तो भी नहीं घटता; क्योंकि हेतु के स्वभाव से भिन्न कार्य को उत्पत्ति होना असंभव है। हेतु के स्वभाव का अस्तित्व कार्य में होता है, ऐसा मानें तो कारण के स्वभाव की स्थिति कार्य समय में भी होने से क्षणिक विज्ञान का अभाव प्राप्त होगा। और कारण के स्वभाव से कार्य का कोई संबंध नहीं होता ऐसा कार्य कारण भाव मानें तो कार्य की सर्वत्र प्राप्ति होगी। उत्पत्ति और नाश वस्तु के ही स्वरूप हैं, अन्य अवस्था हैं, या भिन्न वस्तु हैं. कैसा भी मानें, किसी प्रकार भी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि यदि उत्पत्ति और नाश वस्तु ही के स्वरूप हों तो वस्तु और शब्द, उत्पत्ति और नाश ये शब्द समानार्थक होंगे। उत्पत्ति और नाश इन शब्दों द्वारा मध्य में अस्तित्व रखने वाली वस्तु की आदि अंत नाम की अवस्थायें बोध होती हैं ऐसी अवस्था विशेष की यदि कल्पना की जाय तो इसमें भी वस्तु का आदि, मध्य और अन्त इस प्रकार के तीन क्षण के साथ संबंध की प्राप्ति होने से वस्तु के क्षणिकत्व के स्वीकार में हानि पहुँचती है। अश्व और महिष के समान उत्पत्ति और निरोध वस्तु से अत्यन्त पृथक् हो तो वस्तु का उत्पत्ति और निरोध से संबंध न होने से वस्तु को नित्यता प्राप्त होगी। यदि वस्तु के दर्शन और अदर्शन ही को वस्तु की उत्पत्ति और नाश कहें तो दर्शन और अदर्शन ये द्रष्टा के धर्म हैं, वस्तु के नहीं। इसलिये भी वस्तु शाश्वत होने का ही प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये सौगतमत असंगत है ॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

असति (कारण के) अभाव में (कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहने से) प्रतिज्ञोपरोधः प्रतिज्ञा की हानि (और)

अन्यथा वैसा न कहें तो (उत्तर क्षण की उत्पत्ति तक पूर्व लक्षण की अवस्थिति प्राप्त होने से) **यौगपद्यम्** [कार्य कारण के] एक ही काल में वर्तमान होने का दोष प्राप्त होता है।

क्षणभंगवाद में पूर्वक्षण निरोधग्रस्त होने से वह उत्तर क्षण का हेतु नहीं बन सकता, ऐसा कहा था। यदि कहो कि हेतु न होते हुए ही कार्य की उत्पति होती है, तो वादो की प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। चार प्रकार के हेतु प्राप्त होने पर चित्त और चित्त के कार्य उत्पन्न होते हैं, यह जो वादी की प्रतिज्ञा है, इसकी हानि होगी, और उत्पत्ति हेतु रहित हो सके तो सब कुछ सर्वत्र ही उत्पन्न हो सकेगा। जहाँ तक उत्तर क्षण की उत्पत्ति न हो वहीं तक पूर्व क्षण रहेगा, ऐसा कहें तो भी हेतु और कार्य समकालीन हो जायगा और सर्व संस्कार क्षणिक हैं, यह जो उनकी प्रतिज्ञा है, उसका बाध हो जायगा ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या निरोधा-

प्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

[प्रवाह के] **अविच्छेदात्** न रुकने से **प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिः** बुद्धि पूर्वक तथा अबुद्धि पूर्वक विनाश की सिद्धि नहीं होती।

वैनाशिक (बौद्ध) मानते हैं कि तीन पदार्थों को छोड़कर (जिनका आगे वर्णन करते हैं) जितने पदार्थ बुद्धि से जाने जाते हैं, वे सब उत्पन्न होने वाले और क्षणिक हैं। वे तीन ये हैं: प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्या निरोध और आकाश। ये तीनों पदार्थ अवस्तुरूप, केवल अभाव मात्र और स्वरूप हीन हैं, ऐसा वे मानते हैं।

पदार्थ के बुद्धि पूर्वक किये हुए नाश को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं, उससे विपरीत हो उसे अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं और आवरण के अभाव को आकाश कहते हैं। यहाँ पर सूत्रकार केवल दो निरोधों का प्रतिवाद करते हैं, आकाश का प्रतिवाद आगे करेंगे।

प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध दोनों की सिद्धि नहीं होती, यानी दोनों असम्भव हैं। क्यों? (सन्तान के यानी प्रवाह के) न रुकने से। प्रश्न यह होता है कि यह प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध संतान में होता है या वस्तुत्व में होता है। (पूर्व क्षण का पदार्थ उत्तर क्षण के पदार्थ का कारण होता है इस प्रवाह को सन्तान कहते हैं और पदार्थ को सन्तानी कहते हैं।) सन्तान में तो हो नहीं सकता; क्योंकि, सन्तानों में सन्तानी कार्य-कारण भाव से अविच्छिन्नरूप से रहता है, इसलिये संतानों का विच्छेद यानी रुक जाना संभव नहीं है। वैसे ही वे निरोध वस्तुत्व में भी सम्भव नहीं, क्योंकि जिसका कारण के साथ कुछ भी सम्बन्ध न हो, ऐसा स्वरूप-हीन विनाश भी बन नहीं सकता। क्योंकि पदार्थ की प्रत्येक अवस्था में 'यही वह वस्तु है,' ऐसी पहचान अवश्य रहती है और इसी के आधार पर अन्वयी संतानी का संतत प्रवाह देखने में आता है। जहां कहीं ऐसी पहिचान अस्पष्ट होती है, वहां भी कभी २ अन्वयी स्थिर रहते हैं ऐसा देखा जाता है, इसलिए अन्यत्र भी उसका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वादी के माने हुए दोनों निरोध सिद्ध नहीं होते ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

च और **उभयथा** दोनों प्रकार से **दोषात्** दोष की प्राप्ति होने से [बौद्ध दर्शन अयुक्त है]।

प्रतिसंख्या निरोध (बुद्धि पूर्वक नाश) के अन्तर्गत रहा हुआ जो अविद्या आदि का निरोध वादी मानते हैं, वह निरोध यम नियमादि में युक्त सम्यक् ज्ञान के द्वारा होता है अथवा आप ही आप होता है ? प्रथम विकल्प मानने में, विनाश निर्हेतुक होता है, ऐसा जो वादी मानते हैं, उसका विरोध होगा और अन्तिम विकल्प में मोक्ष मार्ग का उपदेश निरर्थक होने का प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार दोनों प्रकार से दोप की प्राप्ति होने से यह दर्शन अयुक्त है ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

च और **आकाशे** आकाश के लिये (वह स्वरूप हीन है ऐसा कहना अयुक्त है) **अविशेषात्** क्योंकि वह विशेष नहीं है।

दोनों निरोध और आकाश निःस्वरूप है, ऐसा वे मानते हैं; उनमें से दोनों निरोध निःस्वरूप हैं इस मान्यता का पहिले निराकरण कर चुके हैं। आकाश निःस्वरूप है, उनकी इस मान्यता का अब निराकरण करते हैं। आकाश निःस्वरूप है ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि आकाश में भी, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या निरोध में है, वैसा ही वस्तुत्व मिलता है। इसमें प्रथम शास्त्र प्रमाण देते हैं; 'आत्मन आकाशः संभूतः' [तै० २ । १] (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियों से आकाश वस्तुरूप है यह प्रसिद्ध है। परन्तु जो इस प्रमाण को स्वीकार नहीं करेंगे, उनसे कहना चाहिये कि आकाश का शब्द गुण के आश्रय रूप से अनुमान होता है, जैसे गंधादि गुणों ने आश्रयरूप पृथ्वी आदि देखने में आते हैं। और जो आकाश को आवरण के अभाव मात्र मानें, तो यदि एक पक्षी आकाश में उड़ेगा तो (उस पक्षी का) आवरण होने से (आकाश का अभाव हो

जायगा और) अन्य पक्षी को उड़ने के लिये अवकाश ही नहीं रहेगा। जहां आवरण का अभाव होगा वहीं अन्य पक्षी उड़ेगा, ऐसा कहो तो, जिससे आवरण का अभाव विशिष्ट होता है ऐसा आवरण का आधार ही वस्तु भूत आकाश हैं; केवल आवरण का अभाव ही आकाश नहीं है। आवरण के अभाव ही को आकाश मानने से उनके अपने ही मत से विरोध प्राप्त होगा; क्योंकि सौगत दर्शन में ही 'पृथ्वी भगवः किं संनिश्रया' (हे भगवन्, पृथ्वी का क्या आधार है ?) यह प्रश्न है और उसके उत्तर देने में 'वायुराकाशसंनिश्रयः' (वायु आकाश के अधार से है), ऐसा कथन है। यह उत्तर यदि आकाश अवस्तु हो, तो युक्त नहीं होगा। इसलिए आकाश को अवस्तु मानना असमंजस है। वैसे ही दोनों निरोध और आकाश यह तीनों निःस्वरूप और अवस्तु हैं और नित्य हैं यह कथन परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि जो अवस्तु है उसमें नित्यत्व या अनित्यत्व संभव नहीं; कारण यह है कि धर्म और धर्मी का व्यवहार वस्तु के आश्रय से होता है इसलिये धर्म धर्मी भाव प्राप्त होने ही से घटादि के समान वह वस्तुत्व ही सिद्ध होगा और उसकी निःस्वरूपता की सिद्धि नहीं होगी ॥२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

च और अनुस्मृतेः अनुस्मृति से [आत्मा की स्थिरता सिद्ध होती है]।

वैशेषिक वस्तु मात्र की क्षणिकता स्वीकार करते हैं, तो उनको ज्ञान प्राप्त करने वाले (आत्मा) की भी क्षणिकता माननी पड़ेगी। परन्तु अनुस्मृति के रहने से ज्ञान प्राप्त करने वाला क्षणिक हो नहीं सकता। अनुभव या उपलब्धि के पश्चात् उत्पन्न होने वाला स्मरण ही अनुस्मृति है। उस अनुस्मृति का

और अनुभव का कर्त्ता एक हो, उसी अवस्था में अनुस्मृति बन सकती है; क्योंकि एक पुरुष अनुभव करे उसकी अन्य पुरुष को स्मृति हो ऐसा देखने में नहीं आता। 'मैंने वह देखा' मैं यह देखता हूँ' यह प्रतीति यदि पहिले का और पश्चात् का द्रष्टा एक ही न हो तो किस प्रकार सम्भव हो सकती है? 'मैंने वह देखा' 'मैं यह देखता हूँ' इस प्रकार के ज्ञान में कर्ता एक ही होता है, यह लोक प्रसिद्ध ही है। यदि उन दोनों का कर्ता भिन्न हो, तो 'मैं स्मरण करता हूँ और देखा किसी ने' इस प्रकार की प्रतीति होती; पदन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। जहाँ ऐसी प्रतीति होती है वहां दर्शन और स्मरण का भिन्न ही कर्ता होता है, ऐसा लोगों का अनुभव होता है। जैसे, 'मैं स्मरण करता हूँ, उसने वह देखा' परन्तु, यहाँ तो 'मैंने वह देखा' इस प्रकार दर्शन और स्मरण का कर्ता वैनाशिक एक ही आत्मा को मानते हैं। जैसे, अग्नि अनुष्ण और प्रकाश रहित है, इस प्रकार पूर्व ज्ञात अग्नि के उष्णत्व और प्रकाशत्व का वह निषेध नहीं करता, वैसे ही मैंने नहीं देखा इस प्रकार अपने देखे हुए का भी वह निषेध नहीं करता। इस अवस्था में एक ही के साथ दर्शन और स्मरण लक्षण वाले दो लक्षणों का संबंध होने से वैनाशिक की क्षणिकत्व की मान्यता में हानि पहुँचना अपरिहार्य है। वैसे ही अन्तिम उच्छ्वास पर्यन्त एक के पीछे एक होने वाले आत्मा के ही ज्ञान को एक ही कर्ता द्वारा किया हुआ ज्ञान म.नते हुए जन्म से किये हुए ज्ञान के साथ उनकी एकता करके आत्मा ही एक इनका कर्ता है ऐसा मानने में वैनाशिक क्षणभंगवादी को लज्जा क्यों नहीं आती? यदि वे कहें कि सादृश्य के कारण वैसी प्रतीति होती है, तो उनसे यह कहना चाहिये कि 'यह इसके सदृश है' इस कथन में सादृश्य दोनों पदार्थों के अधीन होने से, दो सादृश्य

वाली वस्तुओं को ग्रहण करने वाला क्षणभंगवादियों के मत से कोई एक न होने से सादृश्य के कारण ऐसी (एकता की) प्रतीति होती है ऐसा कहना व्यर्थ प्रलाप मात्र है। क्योंकि, यदि पूर्व और उत्तर क्षण के सादृश्य को ग्रहण करने वाला एक ही हो, तो इस अवस्था में उसकी दो क्षण पर्यन्त स्थिति होने से उसके क्षणिकत्व को बाध आता है। 'वह इसके समान है' यह अन्य ही प्रतीति है; पूर्व और उत्तर क्षण का ग्रहण करने का निमित्त नहीं है, ऐसा कहोगे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'वह और यह' ऐसे दो भिन्न पदार्थों का इसमें ग्रहण होता है। यदि अन्य ही प्रतीति सादृश्य ज्ञान में होती हो तो 'वह इसके समान है, ऐसा वाक्य प्रयोग करना निरर्थक है। केवल सादृश्य शब्द का ही प्रयोग योग्य होगा। जब किसी लोकप्रसिद्ध पदार्थ का परीक्षक स्वीकार न करे और अपने पक्ष की सिद्धि वा परपक्ष का दोष बताया जाय, तो वह ठीक २ (अन्य) परीक्षकों के अथवा अपने भी समझ में नहीं आवेगा। और 'वह पदार्थ ऐसा ही है' इस प्रकार जिस का स्वरूप हो वही कहना चाहिये; अनिश्चित बातें कहने से अपना बकवादीपन ही प्रकट होता है। सादृश्य के कारण ऐसा व्यवहार करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, वह ज्ञान अस्तित्व का है, उसके सदृश यह अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। बाह्य वस्तु में भ्रम की संभावना होने से 'वही यह है या उसके समान है' ऐसा संदेह होना भी संभव है परन्तु जानने वाले में 'वही मैं हूँ या उसके समान हूँ' इस प्रकार का संदेह कभी भी नहीं होता, क्योंकि जो मैं कल देखता था वही मैं आज स्मरण करता हूँ' इस प्रकार उसी के अस्तित्व का ज्ञान है। इस कारण से वैशेषिक दर्शन अयुक्त है॥ २५॥

नासतो दृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

असतः अभाव से [भाव की उत्पत्ति] न नहीं होती, अदृष्टत्वात् [कहीं वैसा देखने में न आने से]।

वैशेषिक दर्शन इसलिये भी अयुक्त है कि स्थिर और कार्य से सम्वन्ध रखने वाले कारण को न मानने वाले को अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने का प्रसंग प्राप्त होता है और वैशेषिक अभाव से भाव की उत्पत्ति बताते भी हैं। जैसे 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (नाश होकर ही उत्पन्न होने से), इस प्रमाण में वे कहते हैं। वे कहते हैं कि विनष्ट बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, विनिष्ट दूध से दही उत्पन्न होता है और मृत्तिका के पिंड से घट उत्पन्न होता है। कारण के स्थिर रहते हुए यदि कार्य की उत्पत्ति हो सके, तो कारण सामान्य होने से चाहे जिसमें से चाहे जो कुछ उत्पन्न होगा; इसलिये अभाव रूप हुए बीजादि से ही अंकुरादि उत्पन्न होते हैं; इसलिये अभाव ही से भाव की उत्पत्ति होती है. ऐसा वे मानते हैं। इसको 'नासतोऽदृष्टत्वात्' इस सूत्र से उत्तर दिया जाता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। यदि अभाव से भाव उत्पन्न होता तो अभाव सभी के लिये समान होने से कार्य का विशेष कारण मानना ही व्यर्थ है। वास्तव में विनष्ट हुए बीजादि का जो अभाव है उस अभाव में और शशि शृंग आदि के अभाव में दोनों का स्वभाव निकल गया होने से कुछ भी विशेष (अधिकता) नहीं है कि जिसके कारण बीज ही से अंकुर की उत्पत्ति हो और क्षीर ही से दही की उत्पत्ति हो और इस प्रकार कार्यों के विशेष कारण का स्वीकार सार्थक हो। जिसमें से विशेष दूर हुआ है, ऐसे अभाव को कारण मानने से शश शृंग आदि से भी अंकुर आदि

उत्पन्न होने चाहिये, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। यदि नीलत्व आदि कमल के विशेष हैं, वैसे ही अभाव के भी विशेष को मान लिया जाय तो विशेष के होने ही से कमल आदि के समान अभाव को भी भाव की प्राप्ति हो जायगी।

अभाव किसी की उत्पत्ति का हेतु भी नहीं वन सकता; क्योंकि शश शृंग के समान ही अभाव का अस्तित्व ही नहीं होता। दूसरी यह भी वात है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो, तो सर्व कार्य अभाव से युक्त होने चाहिये, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, क्योंकि सब पदार्थ अपने २ भावस्वरूप ही से प्राप्त होते हैं। मृत्तिका से युक्त सकोरा आदि पदार्थ तन्तु आदि के विकार हैं ऐसा कोई भी स्वीकार नहीं करता। लोग मृत्तिका के विकारों को ही मृत्तिका रूप से मानते हैं। वादियों ने कहा है कि स्वरूप के नाश विना कोई भी कूटस्थ (स्थिर रहने वाली) वस्तु कारण बने यह युक्त नहीं है, इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना युक्त है' उनका यह कथन अयथार्थ है, क्योंकि स्थिर स्वभाव वाले सुवर्ण आदि जो हम जान सकते हैं, उनमें और अलंकार आदि में कार्य कारण भाव देखने में आता है।

वीजादि के स्वरूप का जो नाश देखने में आता है, वह नाश होने वाली पूर्व अवस्था उत्तर अवस्था का कारण है, ऐसा नहीं माना जाता; क्योंकि वीजादि के नाश न होने वाले अनुयायी अवयव ही अंकुरादि के कारण हैं, ऐसा माना जाता है। अर्थात् अविद्यमान शश शृंग आदि से विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति देखने में नहीं आती; इसलिये और विद्यमान सुवर्ण आदि से कुण्डल आदि विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति देखने में आती

है इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, यह वादी की प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती। वैसे ही चार (स्कंध) से चित्त और चित्त के कार्य उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं से भूत भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्वीकारते हुए भी अभाव से भाव की उत्पत्ति की कल्पना करने वाले वैशेषिकों से सब लोग व्याकुल होते हैं ॥ २६ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

च और एवम् इस प्रकार [अभाव से भी भाव की उत्पत्ति हो सके तो] उदासीनानाम् प्रयत्न न करें उनको अपि भी सिद्धिः [इच्छित पदार्थ की] सिद्धि यानी प्राप्ति होनी चाहिये।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मान लां जाय, तो उदासीन अर्थात् प्रयत्नशून्य पुरुषों को भी वांछित अर्थ की सिद्धि होगी; क्योंकि अभाव सबको सुलभ है। किसान खेती के काम में उद्योग न करे तो भी उसको धान्य की प्राप्ति होगी और मिट्टी सानने का प्रयास न करते हुए ही कुम्हार को बरतन की प्राप्ति होगी। जुलाहा कपड़े बुनने का परिश्रम न करे तो भी कपड़े बुनने वाले जुलाहे के समान ही उसको वस्त्र की प्राप्ति होगी। इतना ही नहीं, स्वर्ग और मोक्ष के लिये भी कोई प्रयत्न नहीं करेगा। इसलिये भी कोई प्रयत्न नहीं करेगा। इसलिये ऐसा कहना योग्य नहीं है, और न ऐसा किसी का अनुभव है। इसलिये भी अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना अयुक्त है ॥ २७ ॥

अभावाधिकरण। सू० २८-३२

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

उपलब्धेः [वाह्यप दार्थ] प्रत्यक्ष होने से अभावः [उनका] अभाव न संभव नहीं है।

इस प्रकार वाह्यार्थवाद में समुदाय की अप्राप्ति आदि दूषण दिये गये, तव विज्ञानवादी वौद्ध खड़े हुए। वे कहते हैं :—

पूर्वपक्षः-- कुछ शिष्यों का वाह्य अर्थ में प्रेम देखकर उनके लिये वाह्यार्थवाद की प्रक्रिया निर्माण की गई है। बुद्ध का वही अभिप्राय नहीं है, उसको तो केवल विज्ञानवाद ही इष्ट है। विज्ञानवाद में बुद्धि में आरूढ़ हुए रूप से प्रमाण, प्रमेय और फल (प्रमिति ज्ञान) रूप सव व्यवहार अन्तस्थ यानी मानसिक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि वाह्य अर्थ यानी मानसिक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि वाह्य अर्थ के होते हुए भी वुद्धि में उसके आरूढ़ हुए विना वह प्रमाण आदि व्यवहार में काम नहीं आता। यदि प्रश्न किया जाय कि, ऐसा क्यों मानें कि सर्व व्यवहार अन्तस्थ ही है और विज्ञान से भिन्न वाह्य कोई अर्थ ही नहीं है; तो इसका उत्तर यह है, कि ऐसा होना असंभव है। असंभव इसलिये है, कि वाह्य अर्थ मान लिया जाय तो, या तो वह परमाणु रूप हो सकते हैं या उनके समूहरूप स्तभादि हो सकते हैं। इसमें भी वाह्य अर्थ, स्तंभादि परमाणुओं के पृथक् २ ज्ञान के समूह से जाना जाय, ऐसा हो, यह युक्त नहीं है (क्योंकि परमाणुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता)। वैसे ही वाह्य अर्थ परमाणुओं के समूह रूप स्तंभादि नहीं हैं; क्योंकि स्तंभादि को परमाणुओं से भिन्न अथवा अभिन्न रूप से किसी प्रकार भी निरूपण नहीं कर सकते; इसी प्रकार जाति आदि का भी समझना चाहिये।

अनुभव ही से केवल साधारण स्वरूप में ज्ञान उत्पन्न होता है तो भी स्तंभज्ञान, भींत का ज्ञान, घट ज्ञान, पट ज्ञान, इस प्रकार प्रत्येक विषय का जो भिन्न २ ज्ञान होता है, वह विशेषता विना केवल ज्ञान से वन नहीं सकता। इसलिये ज्ञान विषय के आकार

ही का होता है, ऐसा ही अंगीकार करना पड़ेगा। ज्ञान विषय के आकार का ही होता है, ऐसा एक वार स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर विषय का आकार ज्ञान ही से निश्चय हो जाने से बाह्यर्थ के अस्तित्व की कल्पना निरर्थक हो जाती है। इतना ही नहीं, विषय और उसका ज्ञान हमेशा ही एकत्र प्राप्त होने से (जो जिसके साथ नियत उपलब्ध होता है वह उससे भिन्न नहीं होता) उनके अभेद की प्राप्ति होती है, क्योंकि दोनों में से जब एक की उपलब्धि नहीं होती तब दूसरे की भी नहीं होती। परन्तु दोनों का स्वभाव यदि भिन्न हो, तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि उनके स्वभाव की भिन्नता को रोकने वाला कोई प्रतिबंध वहां पर नहीं है, इसलिये भी अर्थ का अभाव हो जाता है।

वाह्य अर्थ स्वप्नादि के पदार्थों के समान है, ऐसा यदि मानें तो उसमें जैसे स्वप्न, माया, मृगजल, गंधर्वनगर आदि का ज्ञान विना वाह्य अर्थ के ही होता है, इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्तंभ आदि का ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि दोनों के ज्ञान समान ही हैं। यदि पूछा जाय कि जब वाह्य अर्थ न हो तो भिन्न २ ज्ञान की प्रतीति किस प्रकार होती है, तो वे कहते हैं कि ज्ञान की भिन्नता का कारण वासना की विचित्रता है। अनादि संसार में वीज अंकुर के समान विज्ञान और वासनाओं का परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव चला आने से उनका वैचित्र्य अपरिहार्य है। इतना ही नहीं अन्वय और व्यतिरेक से भिन्न ज्ञान का हेतु वासना ही है ऐसा विदित होता है। स्वप्नावस्था में अर्थ न होते हुए भी ज्ञान वैचित्र्य का हेतु वासना ही होती है, यह दोनों पक्षों को संमत है और विना वासना के केवल अर्थ ही ज्ञानवैचित्र्य का निमित्त है, ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है; इसलिये भी वाह्य अर्थ का अभाव है।

समाधान :—बाह्य अर्थ का इस प्रकार अभाव करना असंभव है, क्योंकि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष प्राप्त है। स्तंभ, भींत, घट, पट इत्यादि प्रत्येक के ज्ञान के साथ भिन्न २ पदार्थ भी पाया जाता है और जो प्रत्यक्ष है उसका अभाव माना जाय यह ठीक भी नहीं है।

यदि कोई भोजन करके उसकी तृप्ति का अनुभव करते हुए कहे कि 'मैं भोजन नहीं करता, न मैं तृप्त होता हूँ,' वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा स्वयं बाह्य अर्थ का ग्रहण करते हुए कोई कहे कि 'मैं न तो ज्ञान करता हूँ, न ज्ञान करने के विषय ही विद्यमान हैं' तो ऐसे पुरुष को आप्त कैसे माना जायगा अर्थात् उसका वचन प्रमाण कैसे माना जायगा ?

पूर्वपक्षी :—मैं यह नहीं कहता कि मैं कोई भी पदार्थ नहीं देखता; मेरा कहना तो यही है कि पदार्थज्ञान को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ मैं जानता नहीं।

समाधान :—बहुत अच्छा कहा ! मालूम होता है तेरी जीभ पर कोई अंकुश नहीं हैं, नहीं तो ऐसी युक्तिहीन बातें न करता। पदार्थ का ज्ञान से भेद तो तुझे मानना ही पड़ेगा क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्राप्त है। कोई भी ज्ञान ही को स्तंभ या भीत नहीं मानते; परन्तु स्तंभ, भीत आदि ज्ञान के विषय रूप ही पाये जाते हैं। और इसलिये लोग उसी प्रकार (बाह्य विषयों को) जानते हैं और बाह्य अर्थ का वर्णन करने में वे इसी प्रकार उसका वर्णन करते हैं कि भीतर जो ज्ञान होता है वह बाहर के पदार्थ के समान ही होता है। सर्व लोक प्रसिद्ध बाहर के पदार्थों का ज्ञान करके जब उसको कहना चाहते हैं, तब वे कहते हैं कि वह ज्ञान बाहर के समान होता है। बाहर के समान ऐसा प्रयोग क्यों करते हैं ? विष्णुदत्त वंध्यापुत्र के समान भासता है

ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिये अनुभव में आये हुए तत्त्व को स्वीकार करने वालों को पदार्थ वाहर ही भासता है, ऐसा मानना ही पड़ेगा, केवल वाहर के पदार्थ के समान ज्ञान होता है ऐसा नहीं मान सकते।

यदि वाह्य अर्थ के असम्भव होने से बाहर के पदार्थ के समान ज्ञान होता है, ऐसा आरोप किया जाय तो इस प्रकार आरोप करना अयुक्त है; क्योंकि सम्भव और असंभव के पहिले प्रमाण की प्रवृत्ति होती है अथवा अप्रवृत्ति होती है, यह देखा जाता है; परन्तु प्रमाण की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति के पूर्व सम्भव और असम्भव नहीं होते। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण द्वारा जो उपलब्ध होता है वह सम्भव है, परन्तु जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता वह असम्भव है। यहाँ पर तो स्वभाव के अनुसार सभी प्रमाणों से बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है, तव व्यतिरेक और अव्यतिरेक आदि विकल्पों (वाह्य पदार्थ परमाणुओं से भिन्न होने चाहिये अथवा अभिन्न होने चाहिये इत्यादि) से वह सम्भव नहीं है, ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है, जब कि वह स्वयं उपलब्ध ही है ?

ज्ञान विषय के आकार का होता है, केवल इसीलिये विषय का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विषय ही नहीं रहेगा तो विषय सारूप्य भी नहीं बनेगा। और, विषय तो वाहर उपलब्ध ही हैं, इसीलिये प्रत्यय और विषय साथ पाये जाते हैं। ऐसा नियम होने का कारण यही है कि ज्ञान का विषय उपाय है, यानी विषय से ही ज्ञान होता है। विषय और ज्ञान का अभेद होने से वे साथ २ पाये जाते हैं ऐसा मानना अयुक्त है।

घट ज्ञान और पट ज्ञान में घट और पट विशेषण का ही भेद है। विशेष्य जो ज्ञान है उसमें भेद नहीं है। जैसे शुभ्र गाय और कृष्ण गाय में शुभ्रत्व और कृष्णत्व का भेद है, गोत्व में भेद नहीं हैं। एक का भेद दो से सिद्ध होता और दो से एक का, इसलिये अर्थ और ज्ञान में भेद है। इसी प्रकार घट दर्शन और घट स्मरण इसका भी समझना चाहिये। दर्शन और स्मरण में भी दर्शन और स्मरण जो विशेष्य है उनका ही भेद है उनका विशेषण जो घट उसमें भेद नहीं है, जैसे क्षीर गंध और क्षीर रस इनमें भी विशेष्य रूप गंध और रस का ही भेद है, विशेषण रूप क्षीर का नहीं।

पूर्व काल का विज्ञान और उत्तर काल का विज्ञान यह दोनों अपनी प्रतीति मात्र ही से नष्ट हो जाने के कारण, वे एक दूसरे को ग्रहण करें यह संभव नहीं है। इसलिये इससे विज्ञान भेद प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्म की प्रतिज्ञा, स्वलक्षण प्रतिज्ञा (व्यक्तिगत विज्ञान को स्वलक्षण विज्ञान कहते हैं), सामान्य लक्षण प्रतिज्ञा (जो ज्ञान सब को होता है वह सामान्य लक्षण है), वास्यवासकत्व प्रतिज्ञा (पूर्व काल का ज्ञान वास्य और वही उत्तर काल का वासक होता है), अविद्याके कारण से सदसद्धर्म प्रतिज्ञा (नीलता सद्धर्म, नरशृंग असद्धर्म इत्यादि) और बंध मोक्ष की प्रतिज्ञा, जो उनके शास्त्र में मिलती हैं, उन सब की हानि होगी। और जब विज्ञान को विज्ञान स्वीकार करते हो, तब स्तंभ और भींत आदि बाह्य अर्थ क्यों नहीं स्वीकार करते सो कहना होगा। यदि कहो कि विज्ञान का अनुभव होता है इसलिये उसको स्वीकार करते हैं, तो बाह्य अर्थ का भी अनुभव होता है, ऐसा ही मानना युक्त है। यदि कहो कि विज्ञान के प्रकाशात्मक होने से प्रदीप के समान अपने

आप उसका अनुभव होता है वैसा वाह्य अर्थ का अनुभव नहीं होता, तो जैसे अग्नि अपने को जलाता है वैसे ही आत्मा में अत्यंत भिन्न क्रिया होती है ऐसा तो मानने को तयार है और लोक प्रसिद्ध तथा विरोध रहित ऐसी इस वात को नहीं स्वीकार करता कि विषय से भिन्न ऐसा विज्ञान के विषय का अनुभव होता है, यह वड़ी पंडिताई की वात देखने में आई। विषय से भिन्न ऐसा विज्ञान अपना आप अनुभव कभी भी नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा में क्रिया का विरोध है।

पूर्वपक्ष :—विज्ञान यदि अपने स्वरूप से भिन्न किसी अर्थ का ग्रहण कर सके तो वह भी अन्य से ग्रहण होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष की प्रप्ति होगी। और ज्ञान प्रदीप के समान प्रकाशात्मक है, इसलिये इस ज्ञान का यदि किसी को ज्ञान होता है, ऐसी कल्पना की जाय, तो उसको यह दोनों ज्ञान एक ही समान होने से, उन दोनों में अवभास्य और अवभासक भाव वन ही नहीं सकेगा और यह कल्पना वृथा हो जायगी।

समाधान—दोनों शंकाएं असत् हैं; क्योंकि विज्ञान के ग्रहण में विज्ञान के साक्षी के ग्रहण की आवश्यकता नहीं होती, इस लिए अनवस्था की शंका व्यर्थ है। साक्षी और ज्ञान, इन दोनों के स्वभाव ही से भिन्न होने से, उनमें उपलब्धा और उपलब्ध का सम्वन्ध होना युक्त ही है और स्वयंसिद्ध साक्षी का निषेध करना भी ठीक नहीं है। प्रदीप के समान विज्ञान के लिये अन्य प्रकाशक पदार्थ की आवश्यकता नहीं है यानी विज्ञान अपने आप होता है ऐसा कहने से विज्ञान अप्रमाणिक सिद्ध होगा; उसका अन्य ज्ञाता नहीं है ऐसा कहने से वह ज्ञान घन शिला में रहे हुए सहस्त्र प्रदीप के समान अज्ञान ही हो जायगा। यदि कहें

कि ज्ञान अनुभव स्वरूप होने से यह विज्ञानवाद के अनुकूल ही है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि नेत्र वाले पुरुष को ही प्रदीपादि का ज्ञान होता है ऐसा देखने में आता है। विज्ञान भी इसी प्रकार का प्रकाशक होने से उसके लिये भी अन्य ज्ञाता हो तब ही उसका प्रदीप के समान प्रकाश होगा ऐसा माना जाता है। साक्षी ज्ञाता स्वयं सिद्ध है ऐसा कहने में, विज्ञान स्वयंप्रकाश है, यही पक्ष अन्य शब्दों से ग्रहण किया है ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि विज्ञान तो उत्पत्ति, नाश, अनेकत्व इत्यादि से युक्त है (और साक्षी ज्ञाता इससे विपरीत है)। इस प्रकार प्रदीप के समान विज्ञान भी भिन्न होता है ऐसा हमने सिद्ध किया ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

च और वैधर्म्यात् विरुद्ध धर्मी होने के कारण स्वप्नादिवत् स्वप्न आदि के (ज्ञान के) समान (जाग्रत अवस्था का ज्ञान बाह्य पदार्थ के अवलम्बन बिना न नहीं होता।)

वाह्य पदार्थों का अस्तित्व न मानने वाले ने जो कहा है कि 'स्वप्न के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था के स्तंभ आदि का ज्ञान भी वाह्य पदार्थों के अभाव में हो सकता है; क्योंकि प्रत्ययत्व यानी ज्ञान का होना दोनों में एकसा ही है', उसका खंडन करना आवश्यक है। इस विषय में हमारा कहना यह है कि जाग्रत का ज्ञान स्वप्न के ज्ञान के समान नहीं होता, क्योंकि, दोनों अवस्था के धर्म एक दूसरे से विरोधी हैं; इसलिये जाग्रत का ज्ञान और स्वप्न का ज्ञान, इनमें वैधर्म्य है। कौनसा वैधर्म्य है ? वाध होना और वाध न होना। स्वप्न में प्राप्त हुई वस्तु का जाग्रत अवस्था

प्राप्त होने पर बाध होता है, जैसे, 'मुझे संत समागम लाभ हुआ था वह मिथ्या था, वास्तव में मुझे संत समागम हुआ नहीं था, परन्तु निद्रा के कारण मेरा मन शिथिल हुआ था. इसलिये मुझे ऐसी भ्रान्ति हुई' (इस प्रकार का अनुभव सबको होता है)। जादू से देखी हुई वस्तुओं का भी इसी प्रकार बाध होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में मिलने वाली स्तम्भादि वस्तुओं का अन्य किसी अवस्था में बाध नहीं होता। स्वप्न के पदार्थ स्मृति से दीखते हैं और जाग्रत अवस्था में पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। स्मृति और अनुभव का भेद सब अपने अनुभव से जानते हैं। वह भेद यह है कि प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ सीधा सम्बन्ध होता है और स्मृति का पदार्थ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। जैसे 'मुझे मेरे प्रिय पुत्र की स्मृति आती है, परन्तु मुझे वह प्राप्त नहीं होता मैं उसको प्राप्त करना चाहता हूँ।' इस प्रकार दोनों अवस्था के भेद का सबको अनुभव है, तो भी जैसे जाग्रत का ज्ञान है वैसे स्वप्न का भी ज्ञान ही है, इतने ज्ञानत्व के सादृश्य से वह (जाग्रत का पदार्थ) मिथ्या है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष अपने अनुभव का निषेध करना योग्य नहीं समझते।

जाग्रत अवस्था का अनुभव स्वयं निराधार है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यह अनुभव के विरुद्ध है। स्वप्न के ज्ञान के समान वह भी ज्ञान ही है, इतने ही सादृश्य से जाग्रत अवस्था के ज्ञान को निराधार करना चाहते हो; परन्तु जिसका जो स्वयं धर्म नहीं है उसके अन्य पदार्थ के साथ साधर्म्य (समानता) के कारण वह उसमें आ नहीं सकता। अग्नि उष्ण है, उसका उदक के साथ (कुछ अंश में) साधर्म्य होने से वह शीत नहीं हो सकता।

स्वप्न और जाग्रत का वैधर्म्य तो पहिले बता चुके हैं ॥२९॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

अनुपलब्धेः वाह्य वस्तु के अभाव से भावः (वासना की) उत्पत्ति न नहीं हो सकती ।

वाह्य वस्तु के अभाव में ही, केवल वासना की विचित्रता के कारण भिन्न २ प्रकार का ज्ञान होता है, ऐसा जो पहिले प्रतिपादन किया गया है, उसका अब खंडन करना चाहिये। उसके विषय में हम कहते हैं कि तेरे मत में वासना का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता; क्योंकि तेरे मत में वाह्य पदार्थ ही का अभाव है । वाह्य पदार्थ ही के कारण वास्तव में भिन्न २ प्रकार की वासनाएँ होती हैं; परन्तु यदि वाह्य पदार्थ न हों तो नाना प्रकार की वासनाएँ किस कारण से होंगी ? वासना अनादि है ऐसा माने तो उससे अन्ध परम्परा न्याय से प्राप्त निर्मूल अनवस्था दोष का (यहाँ अनवस्था निर्मूल इसलिये कहा है कि कारण के प्रत्यक्ष होते हुए उसका निषेध करके अनवस्था दोष लाकर फिर अनादि कह कर उस अनवस्था का परिहार किया जा रहा है) परिहार होता है; अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वैसे ही वाह्य वस्तु का निषेध करने वाले (बौद्ध) वासना ही से ज्ञान समूह उत्पन्न है, वस्तु से नहीं इस प्रकार का जो अन्वय व्यतिरेक प्रतिपादित करते हैं उसकी भी इसीसे सिद्धि नहीं होती ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि अर्थ न हो तो वासना उत्पन्न ही नहीं होती। वासना के अभाव में अर्थ उपलब्ध होता है, परन्तु अर्थ के अभाव में वासना की उत्पत्ति नहीं होती, इस अन्वय व्यतिरेक से भी वाह्य अर्थ का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। वास्तव में देखा जाय तो वासना एक विशेष

प्रकार का संस्कार ही है तथा संस्कार उसके आश्रय के बिना नहीं सम्भवते, ऐसा ही जगत में देखा जाता है और तेरे पक्ष में वासना का कोई आश्रय ही नहीं है; क्योंकि उस आश्रय (बाह्य वस्तु) की तेरे मत में किसी प्रमाण से सिद्धि नहीं होती ॥३०॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

च और (आलय विज्ञान) क्षणिकत्वात् क्षणिक होने से (वह वासना का आश्रय नहीं हो सकता) ।

जिस आलय विज्ञान ('मैं जानता हूँ' इस प्रकार का ज्ञान) को तूने वासना का आश्रय माना है, उसको तूने क्षणिक माना है, अर्थात् उसका स्वरूप ही अस्थिर है । इसलिये प्रवृत्तिविज्ञान (यह घट है, ऐसा ज्ञान) के समान आलय विज्ञान भी वासना का आश्रय नहीं बन सकता और जिसका तीनों कालों से सम्बन्ध है और जिसका स्वरूप कार्य में बना रहता है, ऐसा कोई पदार्थ स्थिर न हो अथवा सब पदार्थों का साक्षी रूप ऐसा कूटस्थ आत्मा न हो, तो देश, काल और कारण इनसे संबंध रखने वाले वासनाओं के अधीन रहे हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) आदि व्यवहार बन नहीं सकते । यदि आलय विज्ञान स्थिर है ऐसा कहें, तो तेरे सिद्धांत की हानि होगी । सब पदार्थ क्षणिक हैं, यह सिद्धांत विज्ञानवादियों को भी संमत होने से बाह्यार्थ-वादियों के खंडन में क्षणिक को लेकर 'उत्तरोत्पादेच पूर्वनिरोधात्' (ब्र० सू० २ । २ । २०) आदि सूत्रों में जो दोष दिखाये हैं वे विज्ञान वाद को भी प्राप्त हैं ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार बौद्धों के बाह्यार्थवाद और विज्ञान वाद इन दोनों मतों का खण्डन किया । अब रहा शून्यवाद; वह सर्व प्रमाण विरुद्ध होने से उसके खंडन की सूत्रकार आवश्यकता नहीं सम-

ऋते, क्योंकि, इस लोक का व्यवहार जो सब प्रमाणों से सिद्ध है, उसका हम वहां तक निषेध नहीं कर सकते जहाँ तक कि (उस निषेध के आधार भूत ऐसा) कोई नवीन तत्त्व प्राप्त न हो; क्योंकि अपवाद के अभाव में सामान्य नियम ही सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२

च और सर्वथा (बौद्ध दर्शन) सब प्रकार से अनुपपत्तेः युक्तिहीन होने से (वह आदरणीय नहीं है)।

अधिक क्या कहें ? यह बौद्ध दर्शन कहाँ तक युक्ति संगत हैं यह देखने के लिये हम जैसे २ नाना प्रकार से उसका परीक्षण करते हैं वैसे २ वह वालू के कुए के समान गिरता हो जाता है। इस दर्शन में हमें एक भी बात युक्ति सिद्ध नहीं दिखाई देती। और वाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद ऐसे तीन परस्पर विरुद्ध वादों का उपदेश कर सुगत (बुद्ध) ने या तो अपनी असंवद्ध प्रलापिता प्रकट की है या परस्पर विरुद्ध ऐसे सिद्धांतों के ज्ञान का प्रचार करा कर लोगों को अधिक मोह में डाल दिया है और इस प्रकार लोगों में द्वेष फैलाने की चेष्टा की है (ऐसा कहना पड़ता है)। इसलिये अपना कल्याण चाहने वालों को, इस मत का अनादर करना चाहिये ॥ ३२ ॥

एकस्मिन्नसंभवाधिकरण। सू० ३३-३६

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

एकस्मिन् एक ही (वस्तु) में असंभवात् (अनेक विरुद्ध धर्मों के) असम्भव होने से न (जैन दर्शन यथार्थ) नहीं है।

यहां तक सौगत (बौद्ध) मत का खंडन किया, अब जैन मत का निराकरण करते हैं। जैन सात पदार्थ मानते हैं, जीव,

अजीव, आश्रय, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप से कहना हो तो पदार्थ दो ही हैं; जीव और अजीव। शेष पांच पदार्थों का इन्ही दोनों में यथा योग्य अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा मानते हैं दोनों का ही वे जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, वेधर्मास्तिकाय, और आकाशात्तिकाय, इस प्रकार पांच अस्ति-कायरूप, विस्तार करते हैं। इन सब पदार्थों के और भी वहुत भेदों की कल्पना उनके शास्त्र में की गई है।

सब बातों में वे सप्तभंगी नय नाम का न्याय काम में लाते हैं, वह न्याय इस प्रकार है—

१ 'स्यादस्ति' स्यात (शायद) है, २ 'स्यान्नास्ति' स्यात नहीं है, ३ 'स्यादस्ति च नास्ति च' स्यात है और स्यात नहीं भी है, ४ 'स्यादवक्तव्य:' स्यात अवक्तव्य (कथन करने योग्य नहीं) है, ५ 'स्यादस्तिच अवक्तव्यश्च' स्यात है और अवक्तव्य है, ६ 'स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च' स्यात नहीं है और अवक्तव्य है, ७ 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च।' स्यात है और नहीं है और अवक्तव्य है। एकत्व नित्यत्व आदि में भी वे इसी सप्त-भंगी न्याय की योजना करते हैं। उसके वारे में कहते हैं कि वह स्वीकार करने के योग्य नहीं है। क्यों? एक ही (पदार्थ) में इसके असंभव होने से। वास्तव में देखा जाय तो एक ही धर्मी में एक ही समय सत्त्व, असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश संभव नहीं, जैसे शीत और उष्ण। (इसी न्याय के अनुसार) ये जो सात पदार्थ उन्होंने इतने ही और इसी प्रकार के माने हैं, वे वैसे ही होने चाहिये, या वैसे न होने चाहिये (ऐसा प्राप्त होगा)। ऐसा न हो तो, वे वैसे ही हैं या वैसे नहीं भी हैं, इस प्रकार उनका अनिश्चित ज्ञान होकर वह संशय ज्ञान के समान अप्रमाण हो जायगा।

यदि कहो कि वस्तु अनेकात्म (अनेक धर्मों वाली) है; इसलिये इस प्रकार जो निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है वह संशय ज्ञान के समान मिथ्या ही है, ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि सब पदार्थ अनेकात्म हैं ऐसा तू मानता है और इसका कोई अपवाद नहीं मानता। इस अवस्था में निश्चय भी एक पदार्थ ही होने से उसको भी 'स्यात हो', 'स्यात न हो' आदि विकल्प प्राप्त होते हैं और इस-लिये वह पदार्थ भी अवश्य अनिश्चयात्मक ही हो जायगा। वैसे ही, निश्चय करने वाला और निश्चय का साधन, ये दोनों पदार्थ एक दृष्टि से हैं और एक दृष्टि से नहीं हैं; इस प्रकार वे भी अनि श्चयात्मक ही हो जायंगे। इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति ये सब पदार्थ अनिश्चित होने से तेरा तीर्थंकर प्रमाण रूप होकर किस प्रकार उपदेश करेगा? अथवा उसकी कही हुई अनिश्चित बातों में उसके अनुयायी शिष्यगण किस प्रकार प्रवृत होंगे?

किसी बात का एक निश्चित फल जान लेने पर ही सब लोग उसकी प्राप्ति के लिये निःशंक मन से उद्योग करते हैं, बिना जाने कोई उद्योग नहीं होता। इसलिये जिस शास्त्र में अनिश्चित बातों का प्रतिपादन किया गया हो, ऐसे शास्त्र के प्रवर्तक पुरुष का कथन मद्यपान किये हुए के समान अथवा पागल के समान उपेक्षा करने योग्य ही है।

वैसे ही पांच अस्तिकाय उन्होंने माने हैं. उनकी 'पांच' इस संख्या को 'स्यात है' और 'स्यात नहीं है' यह विकल्प लगावें, तो प्रथम विकल्प में पांच संख्या है और दूसरे विकल्प में पाँच संख्या नहीं हैं ऐसा प्राप्त होता है, और इसी से वह पांच से न्यून

या अधिक हो सकती है। वह पदार्थ अवक्तव्य हो यह भी संभव नहीं; क्योंकि जो अवक्तव्य हो वह कहा नहीं जा सकता; परन्तु कहा गया है और अवक्तव्य है यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। वैसे ही उन पदार्थों का प्रतिपादन होने के पश्चात् वे पदार्थ वैसे ही हैं ऐसा निश्चय और वे वैसे नहीं हैं, ऐसा निश्चय नहीं होता, ऐसा कहना भी परस्पर विरुद्ध ही है। फिर उस निश्चय के फल स्वरूप जो तत्त्वज्ञान, वह स्यात है या नहीं है, वैसे ही उससे विपरीत जो मिथ्या ज्ञान, वह भी है अथवा नहीं है, ऐसा प्रलाप करने वाला पागल ही कहा जा सकता है, आप्त नहीं कहा जा सकता।

स्वर्ग और मोक्ष के सम्बन्ध में भी एक प्रकार भाव और एक प्रकार अभाव; वैसे एक पक्ष में नित्यता और अन्य पक्ष में अनित्यता, ऐसा सब अनिश्चित हो जाने से उसके लिये प्रवृत्ति ही नहीं होगी और अनादि जीव आदि का स्वभाव जो इस शास्त्र में सिद्ध किया गया है वह निश्चय पूर्वक उसी प्रकार का नहीं है, ऐसा प्राप्त होगा। वैसे ही जीवादि पदार्थों के सम्बन्ध में एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व, ऐसे विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव होने से और असत्त्व में सत्त्व का होना भी असम्भव होने से, यह अर्हंत मत असंगत है। इससे एक, अनेक, नित्य, अनित्य व्यतिरिक्त (भिन्न), अव्यतिरिक्त आदि सब अनिश्चित कथन का निषेध समझना चाहिये। पुन्दल नामक अणुओं से संघात बनते हैं ऐसी जो उनकी कल्पना है उसका पहिले अणुवाद का निराकरण किया है उसी से निराकरण होता है, इस लिये उसका यहां पर अलग विचार नहीं किया गया है ॥ ३३ ॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ।। ३४ ।।

च और एवं इसी प्रकार आत्माऽकात्स्न्र्यम् आत्मा की परिच्छिन्नता [का दोष भी इस जैन दर्शन के प्रति प्राप्त होता है]।

स्याद्वाद (जैन मत) में जैसे एक ही वस्तु में नाना विरोधी धर्मों की सम्भावना होना, यह दोष प्राप्त होता है, वैसे ही जीव की परिच्छिन्नता का भी दूसरा दोष उस मत के प्रति प्राप्त होता है। किस प्रकार ? जीव शरीर परिमाण वाला है ऐसा आर्हत मानते हैं और जीव को शरीर परिमाण वाला मानने से वह परिच्छिन्न होकर घटादि के समान अनित्य हो जायगा। शरीर परिमाण भी कोई निश्चित न होने से, मनुष्य के आत्मा का मनुष्य शरीर के परिमाण वाला होने से यदि कर्म विपाक वश हाथी का जन्म प्राप्त होजाय, तो वह हाथी के समस्त शरीर में व्याप्त नहीं हो सकेगा; और यदि चींटी का जन्म प्राप्त करे तो उसके शरीर में समा नहीं सकेगा। एक ही जन्म में वाल्य, तारुण्य और वृद्धावस्था में भी वही दोष प्राप्त होता है।

यदि कहो कि जीव के अनन्त अवयव होते हैं, वे छोटे शरीर में संकोच को प्राप्त होते हैं और बड़े शरीर में विकास को प्राप्त होते हैं; तो यह प्रथम बताना होगा कि जीव के जो अनन्त अवयव माने गये हैं (वे जब अन्य छोटे या बड़े शरीर को प्राप्त होते हैं तब) उनका समानदेशत्व नष्ट होता है या नहीं। यदि उनका समानदेशत्व नष्ट होता है ऐसा मानें तो वे मर्यादित प्रदेश में समावेंगे नहीं और यदि समानदेशत्व नष्ट नहीं होता कहे तो वे अनन्त अवयव एक ही अवयव के देश में समायेंगे और उनका परिमाण बढ़ेगा ही नहीं; और इससे जीव को परमाणु परिमाण

प्राप्त होगा; दूसरे, शरीर परिमाण वाले जीव के अनन्त अवयव होते हैं ऐसी कल्पना भी नहीं बन सकती ॥ ३४ ॥

अब यदि कहा जाय कि क्रम से जब जीव को बड़ा शरीर प्राप्त होता है तब उसको कुछ अधिक अवयव प्राप्त होते हैं और जब छोटा शरीर प्राप्त होता है तब उस जीव के कुछ अवयव कम हो जाते हैं, तो उसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

च और **पर्यायात्** क्रम से [अवयव मिलते हैं या घट जाते हैं; ऐसा मानें] **अपि** तो भी [आत्मा के देह परिमाणत्व में] **अविरोधः** अविरोध **न** नहीं होता।

क्रम से जीव को अवयवों की प्राप्ति और हानि मान लेने पर भी जीव शरीर परिमाण वाला ही है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। क्यों ? विकार आदि दोषों की प्राप्ति होती है; इसलिये अधिक अवयवों की प्राप्ति तथा उनकी हानि से कभी स्थूल तथा कभी कृश (पतला) होने वाले जीव को विकार की प्राप्ति अपरिहार्य है। और जिसको विकार की प्राप्ति हो तो वह चमड़ा आदि के समान अनित्य भी अवश्य होगा। इसलिये 'आठ प्रकार के कर्मों से चारों ओर जकड़ा हुआ जीव तुंबी फल के समानसंसार सागर में निमग्न होता है और उसके बन्धन छूट जाने से वह तुंबी फल के समान ऊपर निकल आता है; ऐसे बन्ध मोक्ष संबंधी मत का बाध होता है।

जो अवयव आते जाते हैं उनमें उत्पत्ति और नाश ये धर्म होने से जैसे शरीर आदि को आत्मा नहीं कह सकते वैसे इन अवयवों को भी आत्मा नहीं कह सकते। इस अवस्था में स्थिर रहने वाला जो कोई अवयव है वही जीव है ऐसा मानना पड़ेगा।

परन्तु 'यही वह स्थिर अवयव है, इस प्रकार उस स्थिर अवयव के संबंध में निश्चय नहीं हो सकेगा। दूसरे यह भी कहना पड़ेगा कि जीव को जो अवयव प्राप्त होते हैं (ऐसा कहा गया है) वे कहां से प्राप्त होते हैं अथवा वे निकल कर किसमें लीन हो जाते हैं। वे भूतों में से प्रादुर्भूत होकर भूतों में लीन हो जाते हैं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव भौतिक नहीं है। जीवों के अवयवों का और कोई सामान्य अथवा विशेष आधार होता है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है। और आने जाने के स्वभाव वाले अवयवों का परिणाम नियत न होने से जीव का स्वरूप अनिश्चित हो जायगा। इस प्रकार के दोष प्राप्त होने के कारण 'जीव को क्रम से अवयव प्राप्त होते हैं और निकल जाते हैं' इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते।

पूर्व सूत्र में शरीर परिमाण वाले जीव को छोटे बड़े शरीर प्राप्त होने पर वह उन शरीरों से बड़ा छोटा हो जायगा और वह अनित्य भी हो जायगा ऐसा (जैन मत पर) दोषारोप करने पर यदि वे कहें कि 'नदी का जल बदल जाय तो भी नदी नित्य रहती है, उसी न्याय से प्रवाह रूप से जीव का परिमाण बदलता रहे तो भी वह नित्य ही रहेगा' जैसे, बौद्धों के मत में प्रत्येक ज्ञान अनित्य हैं, तो भी ज्ञान समान और नित्य ही होता है वैसे ही जैनों के मत में जीव (प्रवाह रूप से) नित्य हो सकेगा। इस शंका का उत्तर भी इस सूत्र में आगया है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि संतान यदि अवस्तु होगा तो शून्यवाद प्राप्त होगा और वस्तु होगा तो जीव को विकार आदि दोषों की प्राप्ति होने से इस पक्ष की सिद्धि नहीं होगी ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

च और अन्त्यावस्थितेः [आत्मा का] अन्तिम (परिमाण) नित्य होने से उभयनित्यत्वात [आदि तथा मध्य के] उभय परिमाण नित्य होंगे और उससे अविशेषः [परिमाण की] समानता प्राप्त होगी ।

जीव की मोक्षावस्था रूप उसका अन्तिम परिमाण नित्य है, ऐसा जैन मानते हैं। उसके अनुसार आदि और मध्य का परिमाण भी नित्य होने का प्रसंग प्राप्त होगा और आत्मा एक ही शरीर के परिमाण वाला होगा वह छोटा अथवा बड़ा शरीर ग्रहण नहीं कर सकेगा । अथवा, जीव का अन्तिम परिमाण नित्य होने से उसकी पूर्व अवस्था का परिमाण नित्य ही होगा और इसलिये जीव सदा एक ही परिमाण वाला यानी सदा छोटा या बड़ा होता है, ऐसा मानना पड़ेगा । परन्तु वह वदलने वाले परिमाण वाला होता है ऐसा नहीं मान सकते; इसलिये बौद्धमत के समान जैन दर्शन भी युक्ति हीन होने से उपेक्षा करने योग्य है ॥ ३६ ॥

पत्यधिकरण । सू० ३७–४१

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पत्युः ईश्वर का [जगत् का कारणत्व सिद्ध नहीं होता] असामञ्जस्यात् अयुक्त होने से ।

सूत्रकार अब केवल अधिष्ठाता ईश्वर जगत् का कारण है, इस मत का खंडन करते हैं । सो कैसे जाना ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात' और 'अभिध्योपदेशाच्च [ब्र० सू० १ । ४ । २३, २४] इन सूत्रों से ईश्वर उपादान और निमित्त दोनों

प्रकार से जगत्का कारण है, ऐसा स्वयं आचार्य सूत्रकार ने ही प्रतिपादत किया है। ईश्वर जगत् का कारण है, इस सामान्य मत का ही इस सूत्र से खंडन करने से पूर्वा पर ग्रन्थ में विरोध की प्राप्ति होने से सूत्रकार विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करने वाले हैं, ऐसा प्राप्त होगा; इसलिये ईश्वर प्रकृति नहीं है केवल अधिष्ठाता यानी निमित्त कारण है, यह पक्ष वेदान्त में प्रतिपदित ब्रह्मैक्यता का विरोधी होने से उसी का यहाँ पर निरसन किया गया है।

ईश्वर विषयक वेद विरुद्ध कल्पनाएँ अनेक प्रकार की मिलती हैं। कुछ लोग साँख्य और योग इन दो दर्शनों के सहारे ईश्वर प्रधान और पुरुष का केवल अधिष्ठाता यानी निमित्त कारण है और प्रधान, पुरुष और ईश्वर, यह तीनों परस्पर विलक्षण हैं, ऐसा मानते हैं। माहेश्वरो की मान्यता यह है कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त इन पांच पदार्थों का पशुपति रूप ईश्वर ने पशु संज्ञक जीवों के मोक्ष के निमित्त उपदेश दिया है। वैशेषिक आदि भी कही-कहीं अपनी प्रक्रिया के अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। उसका उत्तर 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इस सूत्र से देते हैं कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं है। क्यों? वैसे मानना अयुक्त है इसलिये। उसमें अयुक्तता क्या है? अयुक्तता यह है कि हीन, मध्यम और उत्तम ऐस भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ईश्वर में राग द्वेषादि दोष प्राप्त होते हैं और इसीलिये वह हमारे समान ही हो जाने से ईश्वर नहीं रह सकता। प्राणियों के कर्मों के अनुसार वह भिन्न प्रकार की सृष्टि करता है इसलिये उसमें राग द्वेष का दोष प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से कर्म प्रवर्त्य (जिसको प्रवृत्त

किया जाय) और ईश्वर प्रवर्तक ऐसी अवस्था प्राप्त होने से अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा, क्योंकि कर्म जड़ है और उसका प्रेरक ईश्वर को छोड़ कर और कोई हो ही नहीं सकता। प्रवर्तक प्रवर्त्य सम्बन्ध नित्य होने से यह दोष प्राप्त नही होता ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि वर्तमान काल के समान भूत काल में अन्योन्याश्रय दोप समान ही होने से अंधपरंपरा न्याय की प्राप्ति होती है (यानी एक अंधा सही रास्ता छोड़कर चला जाय तो उसके हाथ पकड़े हुए दूसरे अन्धे भी उसी के पीछे २ चले जाते हैं; वैसे ही भूतकाल ही का कारण दूषित रहा तो अभी तक की सब कार्य कारण परम्परा दूषित हो जायगी)।

'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः, [न्याय सूत्र० १।१।१८] (प्रवृत्ति ही दोष का लक्षण है), यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। वास्तव में (राग द्वेष रूप) दोष से रहित ऐसा कोई भी पुरुष स्वार्थ अथवा परार्थ में प्रवृत्त नहीं होता ऐसा देखा जाता है। कुछ न कुछ स्वार्थ रखते हुए ही परार्थ में प्रवृत्ति होती है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे ईश्वर में स्वार्थ की सिद्धि होने से वह ईश्वर ही नहीं हो सकता और (योग शास्त्र में तो) ईश्वर को पुरुष विशेष और उदासीन भी माना है, इसलिये भी वह अयुक्त है (क्योंकि, उदासीन पुरुष अधिष्ठाता या प्रेरक कैसे हो ?)॥ ३७॥

संबंधानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

च और संबंधानुपपत्तेः सम्बन्ध न मिलने से [वह मत अयुक्त है]।

और अयुक्तता यह है—प्रधान और पुरुष से भिन्न ऐसा ईश्वर बिना सम्बन्ध के प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता

(नियामक) नहीं हो सकता। इनमें संयोग सम्बन्ध बन नहीं सकता क्योंकि प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों सर्वव्यापी और अवयवरहित हैं (संयोग सम्बन्ध दो परिच्छिन्न पदार्थों में होता है)। इनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि इनमें आश्रय आश्रयी भाव का कथन नहीं है। वैसे ही, और किसी प्रकार का कार्य कारण सम्बन्ध भी मान नहीं सकते, क्योंकि कार्य कारण भाव की ही अभी सिद्धि नहीं हुई है।

ब्रह्मवादी इसकी कैसी व्यवस्था करते हैं पूछा जाय तो उनके पक्ष में यह दोष ही नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उनके मत में (माया और ब्रह्म में) तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। कारणादि का स्वरूप ब्रह्मवादी श्रुति के प्रमाण से सिद्ध करते हैं, इसलिये जो दीखता है वह सब ही मानना चाहिये, ऐसा उनके लिये कोई नियम नहीं है। परन्तु प्रतिपक्षी तो दृष्टान्त के बल से ही कारण आदि के स्वरूप का निश्चय करते हैं, इसलिये उनको तो जितना प्रत्यक्ष है सब मानना ही पड़ेगा, इतना विशेष (भेद) है। प्रतिपक्षी का आगम भी सर्वज्ञ ऋषि प्रणीत होने से आगम बल दोनों पक्ष को समान है, ऐसा कहो, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आगम के ज्ञान से सर्वज्ञता सिद्ध होती है, और सर्वज्ञता के ज्ञान से आगम की सिद्धि होती है, इस प्रकार इसमें अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है, इसलिये सांख्यवादी और योगवादियों की ईश्वर विषयक कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार वेदबाह्य अन्य ईश्वर कल्पनाओं के सम्बन्ध में भी अयुक्तता देखनी चाहिये ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

च और अधिष्ठानानुपपत्तेः अधिष्ठान की सिद्धि न होने से [ईश्वर विषयक कल्पना अयुक्त है]

तार्किकों की ईश्वर विषयक कल्पना भी अयुक्त है। जैसे कुम्हार मिट्टी को ग्रहण करके प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रधान को लेकर ईश्वर प्रवृत्त होता है ऐसी कल्पना करें, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूपरहित ऐसा प्रधान मिट्टी से अत्यन्त भिन्न होने से वह ईश्वर की प्रवृत्ति का आश्रय नहीं होगा ॥ ३६ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

करणवत् इन्द्रियों के समान [ईश्वर प्रवृत्त होता है] चेत् [ऐसा कहो] तो न वह ठीक नहीं है भोगादिभ्यः क्योंकि [इसमें ईश्वर को] भोग की प्राप्ति होती है।

पूर्वपक्षः जिस प्रकार मनुष्य, रूप आदि से रहित ऐसे चक्षु आदि इन्द्रियों के समूह पर अधिष्ठित होता है वैसे ही ईश्वर प्रधान पर अधिष्ठित हो सकता है।

समाधानः ऐसा मानें तो भी ईश्वर का कारणत्व नहीं बन सकता। क्योंकि, पुरुष को इन्द्रिय समूह से भोग की प्राप्ति होती है, इसलिये वे उससे अधिष्ठित हैं ऐसा जाना जाता है, परन्तु यहाँ पर भोग आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते और प्रधान की इन्द्रिय समूह के साथ समानता मानने से संसारी लोगों के समान ईश्वर को भी भोग की प्राप्ति होगी।

इन दोनों सूत्रों की व्याख्या अन्य प्रकार से भी हो सकती है। जैसे, 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इससे तार्किकों का माना हुआ ईश्वर सिद्ध नहीं होता; क्योंकि संसार में अधिष्ठान सहित यानी सशरीर राजा ईश्वर (शासन करने वाला) देखा जाता है शरीर रहित नहीं देखा जाता। इसलिये दृष्टांत के बल से अदृष्ट ईश्वर को मानने वालों को ईश्वर का इन्द्रियों के आधार रूप

कोई शरीर बताना पड़ेगा, परन्तु वैसा वे बता नहीं सकते, क्योंकि शरीर सृष्टि के पीछे हो सकता है, सृष्टि के पूर्व नहीं बन सकता और ईश्वर को यदि अधिष्ठान न हो तो वह प्रवर्तक नहीं बन सकता; क्योंकि. व्यवहार में वैसे ही दिखाई देता है।

'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' यदि जैसे जगत् में देखा जाता है, उसी के अनुसार ईश्वर को भी इन्द्रियों के आधार भूत ऐसा कोई शरीर होता हैं ऐसी कल्पना की जाय, तो भी नहीं बनता; क्योंकि, ईश्वर को यदि शरीर होगा तो उसको भी संसारी मनुष्यों के समान भोंगों की प्राप्ति अवश्य होगी और उससे उसके ईश्वरत्व की हानि होगी ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

अन्तवत्त्वम् [ईश्वर] अन्तवाला वा अथवा असर्वज्ञता असर्वज्ञ यानी अल्पज्ञ [हो जाने से तार्किकों का माना हुआ ईश्वर सिद्ध नहीं होता]।

और इन कारणों के लिए भी केवल तर्क पर आधार रखने वालों की ईश्वर विषयक मान्यता ठीक नहीं है—उन लोगों ने ईश्वर को सर्वज्ञ और अनन्त माना है। वैसे ही, प्रधान भी अनन्त है और पुरुष भी अनन्त और परस्पर भिन्न हैं, ऐसा उन्होंने माना है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सर्वज्ञ ईश्वर प्रधान और पुरुषो का तथा अपना परिमाण जानता है अथवा नहीं जानता। कैसे ही मानने से दोष नहीं टलता। सो कैसे ? प्रथम विकल्प मान लें, तो जब ईश्वर प्रधान और पुरुष का तथा अपना परिमाण जानता है तब उनको अन्त अवश्य ही है, कारण संसार में ऐसा ही देखा जाता है। संसार में जिन घट आदि पदार्थों का परिमाण जाना जाता है, वे सब अन्त वाले

हैं, ऐसा देखने में आता है। इसी प्रकार प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों को नियत परिमाण होने से वे नाशवान् सिद्ध होंगे।

प्रधान, पुरुष और ईश्वर, ये तोन पदार्थ हैं। इस अवस्था में 'तीन' की संख्या रूप से उनका संख्या परिमाण तो नियत ही है। उनके स्वरूप परिमाण भी ईश्वर अवश्य जानता होगा। तथा पुरुषों की बहुत्व संख्या भी ईश्वर जानता है, इसलिये उस नियत संख्यांक पुरुषों में से जो संसार से मुक्त होते हैं, उनके संसार का अन्त होता है और उनका संसारित्व भी नष्ट होता है और इस प्रकार शेष बचे हुए पुरुष भी क्रम से मुक्त हो जायेंगे तब सब संसार का और संसारी पुरुषों का भी, अन्त हो जायगा।

वैसे ही. ईश्वर को अधिष्ठेय रूप और पुरुष के लिये भिन्न प्रकार से परिणाम को प्राप्त होने वाले प्रधान ही को संसार कहते हैं। जब प्रधान ही का अंत होगा तब ईश्वर किस पर अधिष्ठित रहेगा और उसकी सर्वज्ञता और ईश्वरता का विषय ही क्या होगा? इतना ही नहीं, इस प्रकार यदि प्रधान, पुरुष और ईश्वर अन्तवान् हैं तो उनकी आदि भी अवश्य होनी चाहिए और उनको आदि और अंत की प्राप्ति होने से शून्यवाद स्थापित हो जायगा। इस दोष से बचने के लिए यदि ऐसा दूसरा पक्ष ग्रहण करें कि ईश्वर प्रधान और पुरुष का तथा अपना परिमाण नहीं जानता, तो ईश्वर सर्वज्ञ है इस सिद्धान्त के त्याग का दूसरा दोष प्राप्त होगा। इसलिये, इन कारणों से भी तर्क पर आधार रखने वालों का ईश्वर कारणवाद ठीक नहीं है ॥ ४१ ॥

उत्पत्त्यसंभवाधिकरण। सू० ४२-४५

उत्पत्त्य संभवात् ॥ ४२ ॥

उत्पत्त्यसंभवात् उत्पत्ति के असंभव से [भागवत मत अयुक्त है]।

ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है, वह केवल उसका अधिष्ठाता यानी निमित्त कारण है, ऐसा जो लोग मानते हैं, उनका अभी तक खंडन किया। अब जो ईश्वर को प्रकृति और अधिष्ठाता, ऐसे उभयरूपी कारण मानते हैं, उनके मत का खंडन करते हैं—

शंका :—श्रुति के प्रमाण के अनुसार इसी प्रकार का (यानी प्रकृति और अधिष्ठाता उभय रूप) ईश्वर पूर्व में निश्चित किया गया है और श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति को भी सब प्रमाण रूप ही मानते हैं। ऐसी अवस्था में इस मत का खंडन करने का क्या प्रयोजन है।

समाधान :—यद्यपि इस मत का ऐसा कुछ भाग श्रुति स्मृति संमत होने से उसमें विवाद संभव नहीं है तो भी, उसका अन्य भाग विवादग्रस्त है, इसलिए उसका निराकरण करते हैं।

भागवत मत इस प्रकार है—निर्मल ज्ञान स्वरूप भगवान् वासुदेव ही एक परमार्थ तत्त्व है। यही अपने चार विभाग करके वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार रूप से प्रकट होता है। वासुदेव ही को परमात्मा कहते हैं; संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार है। इनमें वासुदेव पर प्रकृति (परम कारण) रूप है और संकर्षणादि कार्य हैं।

इस प्रकार के भगवन् परमेश्वर का अभिगमन (देव मन्दिर में जाना) उपादान (पूजा की सामग्री जोड़ना), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (जप) और योग (ध्यान), इन साधनों से सौ वर्ष तक जो आराधन करता है, उस पुरुष के क्लेश क्षीण होकर वह भगवान् ही को प्राप्त होता है।

इसमें जो कहा है कि अव्यक्त से पर और प्रसिद्ध परमात्मा जो सबका आत्मा है वह स्वयं अपने को नाना प्रकार से विभक्त करके अनेक रूप से प्रकट होता है, इसका खंडन नहीं किया जाता; क्योंकि, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' [छां० ७।२६।२] (वह एक प्रकार का होता है, तीन प्रकार का होता है) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा नाना रूप धारण करता है, ऐसा जानने में आता है। वैसे ही, उस भगवान् की अभिगमन आदि साधनों से अनन्य चित होकर आराधना करने को उसमें कहा है, उसका भी खंडन नहीं करना चाहते; क्योंकि श्रुति स्मृति में ईश्वर आराधना प्रसिद्ध ही है।

परन्तु इस मत में जो ऐसा कथन है कि वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न होता है; संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध, उसके विषय में कहते हैं कि वासुदेव नामक परमात्मा से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जीव यदि वास्तव में उत्पत्ति वाला ही हो, तो उसमें अनित्यत्व का दोष प्राप्त होगा। और उसे भगवत्प्राप्ति रूप (नित्य) मोक्ष प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि कार्य कारण को प्राप्त होने पर उसका लय ही होगा और आचार्य (सूत्रकार) 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य :' [ब्र० सू० २। ३। १७] इस सूत्र से जीव की उत्पत्ति का आगे निषेध भी करेंगे। इसलिये भी यह भागवत मत ठीक नहीं है ॥ ४२ ॥

नचकर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

च और कर्तुः कर्ता से करणम् करण [की उत्पत्ति] न [देखने में] नहीं [आती, इसलिये वह कल्पना असंगत है]।

और इस करण के लिये भी यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि इस जगत् में देवदत्त आदि कर्ता से परशु आदि करण उत्पन्न होते हुए देखने में नहीं आते। परन्तु भागवत् तो यही कहते हैं कि कर्ता जो सकर्षण नामक जीव, उससे करण जो प्रद्युम्न नामक मन वह उत्पन्न होता है और कर्ता से उत्पन्न हुए मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न होता है। परन्तु दृष्टाँत के अभाव से इसका निश्चय नहीं होता और न इस प्रकार की कोई श्रुति ही मिलती है ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

विज्ञानादिभावे विज्ञान आदि को मानते हुए वा भी तद-प्रतिषेधः वह (दोष) दूर नहीं होता।

पूर्वपक्ष:—संकर्षणादि का जीवादि भाव से कथन योग्य नहीं है। वे तो विज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज, इन ऐश्चर्यो से युक्त ऐसे ईश्वर ही हैं। वे चारों ही वासुदेव रूप, निर्दोष, अधिष्ठान रहित (जिनका कोई कारण न हो) और अव्यय हैं। इसलिये ऊपर दिया हुआ उत्पत्ति की असंभावना का दोष प्राप्त नहीं होता।

समाधान:—ऐसा मानने पर भी उत्पत्ति की असंभावना का दोष टलता नहीं यानी उत्पत्ति के असंभव होने का दोष अन्य

प्रकार से प्राप्त होता है, यह (सूत्रकार का) अभिप्राय है। सो कैसे ? यदि कहो कि वासुदेव आदि ये चारों एक एक से भिन्न और समान धर्म वाले ईश्वर हैं, वे एक नहीं हैं, तो ईश्वर का जो कुछ काम हैं वह एक ही ईश्वर कर सकता है, अनेक इश्वरों का मानना निरर्थक होगा, और इसमें सिद्धान्त का भी त्याग होता है; क्योंकि, भगवान् वासुदेव ही एक परमार्थ तत्त्व है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि उनका यह अभिप्राय हो कि एक ही भगवान् के ये चार समान धर्म वाले रूप हैं, तो भी उत्पत्ति के असंभावना का दोष बना ही रहता हैं; क्योंकि ऐसी अवस्था में वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति सम्भव नहीं, और संकर्षण से प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होती, क्योंकि उनमें से किसी में कोई विशेष बात नही है। परन्तु कारण कार्य में भेद अवश्य होता है, जैसे मृत्तिका और घट में यदि दोनों में कुछ भी भेद न हो तो यह कार्य है और यह कारण है ऐसा मान ही नहीं सकते। परन्तु पांचरात्र (पंचरात्र ग्रन्थ को भागवत मानते हैं इसलिये उनको पांचरात्र कहते हैं) वासुदेव आदि में से किसी एक में या सब में ज्ञान, ऐश्चर्य आदि जनित कोई भी विशेषता नहीं मानते। वासुदेव के ही यह सब रूप हैं उनमें कुछ भी भेद नहीं है ऐसा ही वे मानते हैं। वैसे ही, भगवान् के केवल चार ही रूप नहीं हो सकते; क्योंकि ब्रह्मा से लेकर एक घास के पत्ते तक सब जगत् भगवद्रूप हैं, ऐसा प्रसिद्ध है ॥ ४४ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

च और विप्रतिषेधात् विरोध होने के कारण [यह मत असंगत हैं]।

इस शास्त्र में गुण गुणित्यादि रूप बहुत प्रकार का विरोध मिलता है। ज्ञान, ऐश्वर्य शक्ति, बल, वीर्य और तेज ये गुण हैं, और ये गुण ही आत्मा और भगवान् वासुदेव हैं, इत्यादि (परस्पर विरोध वाली) बातें इस शास्त्र में देखने में आती हैं। तथा इस शास्त्र का वेद से भी विरोध है। 'चारों वेदों से परम कल्याण की प्राप्ति न होने से शाण्डिल्य ने इस शास्त्र का अध्ययन किया' इस प्रकार की वेदों की निन्दा भी इस शास्त्र में पाई जाती है। इसलिये भागवत मत असंगत है यह सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शाँकर भाष्य भाषानुवाद के
द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद
समाप्त हुआ।



* श्री हरि *

अध्यात्म विद्या का अपूर्व भंडार !

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महा वाक्य—वेद के सब मंत्र, वाक्य और अध्याय आस्तिक मनुष्यों के आचरण करने योग्य ही हैं परन्तु इन सब में भी वेद के महा वाक्य अपनी विशेषता ही रखते हैं। तत्त्वबोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महा वाक्यों को छोड़ कर अन्य कोई साधन नहीं हैं। ये अत्यन्त गूढ़ होते हुए भी इनकी इस पुस्तक में दृष्टान्त सहित सरल व्याख्या की गई है जो पढ़ने वाले बुद्धिमानों को समझने में अति सुगम रोचक हैं। जीवन मुक्ति विदेह मुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य रु० १-५० न० पैसा

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढके हुए आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसी से उसको विस्तार सहित समझाकर आत्मा को दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य रु० १-५० न० पै०

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता मुमुक्षुओं के समझने में सुभीता हो इसलिये दृष्टान्त भी हैं अतएव अत्यन्त हितकर है। मूल्य रु० १-५० न० पै०

चर्पट पंजरिका—भज गोविन्दं भज गोविन्दं' पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टान्तों से रोचक है। समश्लोकी पद्य भी है। मूल्य रु० १-५० न० पै०

सदाचार—श्लोक और उसका सरल अर्थ उसका सरल विवेचन सहित है। श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटी पुस्तकों में इसका भी नाम है इससे मुमुक्षुओं को सत्य आचार का स्पष्ट बोध होता है। मूल्य रु० १-१२ न० पै०

ब्रह्म सूत्र—(वेदान्त-दर्शन) शांकर भाष्य भाषानुवाद सम्पूर्ण दो भाग—उपनिषदों में आत्म ज्ञान सम्बन्धी अनेक ऐसे कथन आये हैं जो ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। उनकी एकवाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध रूप से प्रकट करने के लिए भगवान व्यास ने समन्वय रूप से ये सूत्र लिखे हैं। इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है, परन्तु अब तक हिन्दी में इसका शब्दशः अनुवाद नहीं हुआ है इसी कमी को पूरा करने के लिये आधुनिक तथा प्रचलित भाषा में इसका अनुवाद किया गया है। दो जिल्दों में सम्पूर्ण। मूल्य प्रति जिल्द का रु० ४-५० न० पै०

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रंथों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशांत रहता है वे शंकायें इस ग्रन्थ को पढ़ने से नष्ट हो जावेंगी दृष्टान्तों से जिज्ञासु गण बहुत सुगमता पूर्वक समझ जायेंगे। मूल्य रु० २-५० न० पै०

वेदान्त रहस्य—वेदान्त द्वारा अपने आत्मा के बोध के निमित्त अनेक प्रक्रियाओं में जो गुप्त रहस्य है उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है जिसे जानने से ही सब जानने का अन्त होता है ऐसे विस्तार सहित कहीं २ पर योग्य दृष्टान्तों से समझाया है। मूल्य रु० १-७०

मणिरत्न माला—अथवा प्रश्नोत्तरी, यह ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य कृत है, इसमें श्लोक, भाषा, पद्य और विवेचन है, बालक युवा, वृद्ध, जिज्ञासु धर्मात्मा सबके लिये ही हितकर है। मुमुक्षुओं को अत्यन्त उपयोगी हो इस प्रकार दृष्टान्त सहित विवेचन किया गया है। इसके विचार से और अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होकर शीघ्र ज्ञान प्राप्त होता है। सजिल्द मूल्य रु० ३-००

वाक्य वृत्ति—शंकराचार्य जी के छोटे ग्रन्थों में यह प्रसिद्ध है। वेदान्त का यह सुलभता से बोध होने के लिए मूल संस्कृत श्लोक उसके भाषा तथा विस्तार से योग्य स्थानों में दृष्टान्तों सहित विवेचन किया गया है। मूल्य रु० १-१२ न० पै०

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण कार्यब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से दृष्टांत सहित समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मू० ०-७५ न० पै०

कल्याण का मार्ग—वेदान्त केसरी में छपे हुए कल्याण प्रद लेखों का संग्रह है। दृष्टान्तों से रोचक है। ज्ञानियों को विनोद की सामिग्री है मुमुक्षोओं को कल्याण का मार्ग है। मूल्य रु० २-२५ न० पै०

स्वराज सिद्धि—वेदान्त का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी सरलान्वय भाषा टीका करके आधुनिक तथा प्रचलित भाषा से सुन्दर छापा गया है। आत्मज्ञान की प्राप्ति ही स्वराज सिद्धि है। मूल्य रु० १-८७ न० पै०

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमत शंकराचार्यादि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुये हर स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया

है। कई विद्वान सन्यासी तथा ब्रह्मचारियों ने बहुत पसन्द किया है। मूल्य रु० १-००

कौशल्य गीतावली—भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ०-६२ न० पै०

श्रुति की टेर—यह श्री भोले बावाजी रचित कविता के ग्रन्थ हैं इसमें श्रुतियों की सभी शिक्षायें चित्त शुद्धि का साधन, अष्टाङ्गयोग आदि का सुगमता पूर्वक रोचक सरल कविताओं में है। मू० ०.७५ न० पै०

वेदान्त रत्नावली—यह ग्रन्थ भी श्री भोले बावा कृत कविताओं में है इसमें वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का सरल शव्दों में कविता द्वारा वर्णन किया गया है जो जिज्ञासु की बुद्धि को तीव्र कर देती है। मूल्य ०-५० न० पै०

आत्म प्रबोधिनी कुन्डलियाँ—यह ग्रन्थ वेदान्त केशरी में जो भोले बावाजी के लेखों के अन्त में कुण्डलियां लेखों का सार रूप दी हुई हैं उनका संग्रह है। इसमें और भी अनुभवी महात्माओं के दोहा, कविता, सवैया, पन्द्रतिथि बाहुमैना के बारहमासी आदि अनेक कविताओं का संग्रह है। मूल्य ०-५० न० पै०

उपनिषत् ५२—इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। सरल भाषा में ५२ उपनिषदों का अनुवाद। सजिल्द मूल्य रु० ३-५० न० पै०

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी कार्यालय,

लालघाट, बेलनगंज, आगरा।